भारतीय काव्यशास्त्र

डॉ० योगेन्द्र प्रताप सिंह

निदेशक, पत्राचार पाठ्यक्रम एवं सतत शिक्षा संस्थान
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

गुरुद्वय

डॉ० रघुवंश एवं डॉ० विजयपाल सिंह जी

को

श्रद्धापूर्वक समर्पित

—योगेन्द्र प्रताप सिंह

भूमिका

भारतीय काव्यशास्त्र के विविध विषयों का प्रभूत साहित्य उपलब्ध है। सम्प्रति ज्ञात, दो हजार वर्षों के इस शास्त्रीय चिंतन का अवगाहन अपने-आप में एक बहुत बड़ी समस्या है। विशेष रूप से, सभी मतों का समाहार करके तथा एक स्थल पर सारी सामग्री को रखकर, उसका पूर्णतः विश्लेषण नहीं हो पाया है। माध्यम की दृष्टि से भी हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए यह साहित्य उलझाव उत्पन्न करता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस कठिनाई का एक हल निकाला है—

अति अपार जे सरित बर, जौ नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकहिं परम लघु, बिनु स्रम पारहिं जाहिं ।।

हिन्दी तथा अंग्रेजी माध्यमों के लगभग सभी प्रमुख सिद्धान्तकारों के मूलग्रन्थों के अनुवाद मेरे लिए 'सेतु' रहे हैं। इस दिशा में प्रस्तुत लेखक डॉ० नगेन्द्र जी का विशेष आभारी है। उन्होंने इस गहन वैदुष्य को हिन्दी में रूपान्तरित कराने का जो गुरुतर कार्य किया है, उससे इस मार्ग के पथिक सदैव ऋणी रहेंगे। अन्य विद्वानों में, प्रो० रेवा प्रसाद द्विवेदी, डॉ० भोलाशंकर व्यास, डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा, डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त आदि ने भी इस अगाध वैदुष्य को हिन्दी माध्यम में लाने के लिए स्तुत्य प्रयास किया है। सैद्धान्तिक विवेचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, डॉ० निर्मला जैन, डॉ० सत्यदेव चौधरी, डॉ० विजयपाल सिंह आदि ने अपने मौलिक चिन्तनों से इस शास्त्र को सुगम बनाया है। अंग्रेज़ी माध्यम से इस विषय की चिन्ताधारा को प्रकट करने में श्री पी० वी० कणे, डॉ० एस० के० डे, डॉ० वी० राघवन, प्रो० हिरियन्ना, डॉ० कान्तिचन्द पाण्डेय आदि विद्वानों के प्रयास सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे।

इन मूर्धन्य विद्वानों की मनीषा के सहारे मैं इस विषय पर अपने बाल प्रयास को प्रस्तुत करने का साहस जुटा पा रहा हूँ।

स्वर्गीय गुरुवर पण्डित उमाशंकर शुक्ल जी की प्रेरणा से हृदय-भूमि में शास्त्र-ज्ञान की जिज्ञासा का अंकुरण हुआ था, मैं उनको श्रद्धया स्मरण करता हूँ। समय-समय पर शास्त्रीय ग्रन्थियों को सुलझाने में डॉ० रघुवंश, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी एवं सम्प्रति इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के

अध्यक्ष डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव ने जो भी सहायता दी है, उसके लिए मैं हृदय से आभारी हूँ।

मै उन सभी लेखकों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिनके ग्रन्थों, शोध-निबन्धों एवं परामर्शों की सहायता से यह कार्य पूरा कर सका।

इस ग्रन्थ को सुलभ बनाने के लिए अन्त में, लोकभारती के व्यवस्थापक श्री दिनेश जी को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

विजयादशमी —योगेन्द्र प्रताप सिंह

दिनांक २३.१०.८५

विषय-सूची

●

भारतीय काव्यशास्त्र

काव्यशास्त्र

नामकरण की समस्या

वस्तुत: 'काव्यशास्त्र' साहित्य शास्त्रीय व्यवस्था के लिए व्यवहृत होने वाला शब्द है। यह 'काव्यशास्त्र' शब्द इस व्यवस्था के लिए प्रयुक्त होने वाले नामों में से बहुत बाद का है। विद्वानों की धारणा के अनुसार इस 'शास्त्र' के लिए क्रियाकल्प, क्रियाविधि, क्रिया, शब्दार्थ विद्या लक्षणशास्त्र, अलंकारशास्त्र, साहित्य शास्त्र एवं साहित्य विद्या आदि नाम 'काव्यशास्त्र' शब्द के नामकरण के पूर्व प्रचलित थे।

'क्रियाकल्प' शब्द का प्रयोग कामसूत्र की चौंसठ कलाओं की सूची, ललित विस्तर के कला प्रसंग एवं अन्यान्य स्थलों पर मिलता है। कामसूत्र के विद्या समुद्देश्य प्रकरण के अन्तर्गत चौंसठ कलाओं की सूची में छप्पनवीं कला का नाम 'क्रियाकल्प' है। कामसूत्र की सबसे प्राचीन टीका 'जयमंगल' के अन्तर्गत इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी गई है—क्रियाकल्पेति—व्याकरणविधिः काव्यालंकारः इत्यर्थः। ललित विस्तर (चौथी शती) में भी 'क्रियाकल्प' शब्द का इसी अर्थ में उल्लेख है। भागवत पुराण की कला सूची में 'क्रियाकल्प' शब्द के स्थान पर 'क्रियाविकल्प' शब्द का प्रयोग मिलता है। रामायण तथा महाभारत दोनों में 'क्रियाकल्प' एवं 'क्रियाविधि' शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। बाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में इसका सन्दर्भ इस प्रकार है—

'क्रियाकल्प विदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्'

इस सम्बन्ध में एकत्रित किए गए अनेक साक्ष्यों को केन्द्र में रखकर डॉ॰ वी॰ राघवन् ने यह निष्कर्ष निकाला है कि काव्यशास्त्र के लिए प्रारम्भिक स्थिति में 'क्रियाकल्प' शब्द का ही प्रयोग होता था—

Thus, from दण्डिन् in a way, and from वात्स्यायन and the Ramayan in a clear manner, we come to Know that in its

early stages the Alankar Shastra was called. KRIYA-KALPA.[1]

क्रियाकल्प शब्द के विषय में डॉ० राघवन द्वारा प्रस्तुत किया गया मन्तव्य डॉ० पी० वी० कणे महोदय को पूर्णतः मान्य नहीं है। 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स' ग्रंथ के अन्तर्गत अपना अभिमत प्रकट करते हुए उन्होंने बताया है—

१. वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में प्राप्त अंश कितना प्रामाणिक है, इस पर सन्देह है। यदि उस अंश को प्रामाणिक मान भी लिया जाए तो यह स्पष्ट नहीं है, कि शब्द 'क्रियाकल्प' का अर्थ काव्यशास्त्र तथा 'क्रियाकल्पविद्' का अर्थ 'काव्यशास्त्र का ज्ञाता' ही होगा। डॉ० कणे के अनुसार 'क्रिया' का अर्थ 'काव्यक्रिया' भी हो सकता है और 'क्रियाकल्प' शब्द का अर्थ काव्य कैसे लिखा जाए, पद्धति एवं प्रक्रिया से सम्बद्ध है—

Further, in an appropriate Context क्रिया may mean काव्य-क्रिया and क्रियाकल्प may mean the procedure of how a काव्य was to be composed and not the whole शास्त्र The word कल्प apart from its technical meaning of sacrifies (an in कल्पसूत्र) Simply means 'procedure'.

२. यदि 'क्रिया' शब्द का अर्थ 'काव्य' से है तो 'समुद्रगुप्त प्रशस्ति' में काव्यक्रियाभिः तथा नाट्यशास्त्र (२२-२३) में "मयाकाव्यक्रियाहेतोः प्रक्षिप्ता द्रुहिणाज्ञया" में दोनों शब्द एक साथ क्यों प्रयुक्त हुए।

३. वात्स्यायन कृत कामशास्त्र में निपुण नायकों एवं गणिकाओं के ज्ञान के लिए जिन चौंसठ कलाओं के उल्लेख की चर्चा की गई है—उसमें 'क्रियाकल्प शब्द है।

४. कालिदास एवं अश्वघोष ने केवल 'नाटकादि' के अर्थ में ही क्रिया-शब्द का प्रयोग नहीं किया है, अपितु धार्मिक कृत्यों के सन्दर्भ में इस शब्द को बहुशः रखा है—

'शिष्टाक्रिया कश्यचिद्' कालिदास मालविकाग्निमित्र

समाजैरुत्सवैर्दार्यैः क्रियाविधिभिरेव च।

अलंचकुरलंवीर्यास्ते जगद्धाम तत्पुरम्।

५. भागवत पुराण में 'क्रियाकल्प' के स्थान पर 'क्रियाविकल्प' शब्द का

---

१. Some concepts of Alankar shastra, पृष्ठ २६७—इस समस्या के लिए यह ग्रन्थ विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

प्रयोग है, जो किसी भी प्रकार से न 'काव्यशास्त्र' या न उसके अन्य समीपवर्ती अर्थ का द्योतक हो सकता है।

अन्ततः निष्कर्ष निकालते हुए श्री पी० वी० काणे[1] ने कहा है कि—

"I do not accept the new name for the शास्त्र which he propounds as used in olden times." इस असहमति के बावजूद भी वे प्रकारान्तर से इस शब्द के प्रति हल्की-सी सहमति देते हैं—

"All that is ment in the कामसूत्र is that the unmarried Girls were to be given some guidence in Composing poetic pieces."

डॉ० पी० वी० कणे द्वारा उठाई गई आपत्तियाँ पूर्णरूपेण स्वीकार्य नहीं हो सकतीं। 'वाल्मीकि रामायण' के जिस अंश की प्रक्षिप्तता की बात उन्होंने कही है, वह प्रायः प्रामाणिक है। यदि कल्प शब्द का अर्थ 'पद्धति' भी है तो वह 'काव्यरचनापद्धति' 'काव्यशास्त्रीय व्यवस्था' के पर्याप्त निकट है। परवर्ती काल में 'काव्यक्रिया' ये दोनों शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त होते थे। नाटकों में इस प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं। यही नहीं, 'नाट्य' में 'प्रयोग' तथा 'क्रिया' दोनों समानार्थी जैसे प्रयुक्त हुए हैं। कालिदास ने अभिनेय नाट्य के अर्थ में 'क्रिया' शब्द का प्रयोग किया है—

प्रथित यशसां भास सौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमान कवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।

यहाँ 'क्रिया' शब्द का अर्थ निश्चित रूप से 'काव्य नाट्य' के लिए ही है।

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्वस्तुपुरुष बहुमानात्।
श्रुणत जना अवधानात्क्रियामिमां कालिदासस्य ॥

वस्तुतः 'क्रिया' शब्द आधुनिक युग में प्रयुक्त 'रचना' शब्द का ही प्राचीन रूप है और निस्सन्देह प्रारम्भिक काल में यह 'काव्यशास्त्र' के नाम की परम्परा का प्रतिनिधित्व करने की सार्थकता रखता है। आचार्य दण्डी काव्यादर्श में इस परम्परा की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

वाचां विचित्रमार्गाणाम् निबबन्धुः क्रियाविधिम्।

उदभट् 'भामह विवरण' में 'कला' की सूची में 'क्रियाकल्प' को 'काव्य सिद्धान्त' का समानार्थी मानते हैं।

काव्य लक्षण—'क्रियाकल्प' शब्द के बाद इसके प्राचीनतम अभिधानों में

१. हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ ३४३, ३४४

लक्षण, काव्य लक्षण, काव्यलक्ष्म आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है। आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में इस शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है—

"यथासामर्थ्य अस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्"

आचार्य भामह ने भी ठीक इसी अर्थ में 'काव्यलक्ष्म' शब्द का उल्लेख किया है—

अवलोक्यमतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म"

'काव्य लक्ष्म' शब्द 'काव्य लक्षण' काव्य विषयक सैद्धान्तिक मान्यताओं के अर्थ में प्रयुक्त है।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन अलंकारशास्त्र के रचनाकारों के लिए 'काव्य लक्षणविधायिनः' एवं 'काव्यलक्षणकारिनः' जैसे पदों का प्रयोग करते हैं।

इन सन्दर्भों से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के लिए संस्कृत साहित्य में 'लक्षण-शास्त्र' शब्द का प्रयोग होता रहा है। 'लक्षण' के विषय में प्राचीनतम साक्ष्य आचार्य भरत का है। उन्होंने नाट्यशास्त्र के १६वें अध्याय में ३६ काव्य लक्षणों की तालिका दी है—

भूषण, अक्षरसंघात्, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, प्राप्ति, अभिप्राय, निदर्शन, निरुक्त, सिद्धि, विशेषण, गुणातिपात, अतिशय, तुल्यतर्क, पदोच्चय, दृष्ट, उपदृष्ट, विचार, तद्विपर्यय, भ्रंश, अनुनय, माला, दाक्षिण्य, गर्हण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, पृच्छा, सारूप्य, मनोरथ, लेश, क्षोभ, गुणकीर्तन, अनुक्त सिद्ध, प्रिय वचनम्।

यही नहीं, आचार्य भरत ने इस तालिका को प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

'काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंश लक्षणान्विता'

मूलतः यह वाक्य कविशिक्षापरक है और बताया गया है कि काव्य रचना इन ३६ लक्षणों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। सम्भव है, प्रारम्भिक युग में काव्य रचना के लिए यही लक्षण ही मूलाधार रहे हों और उनकी उपयुक्तता का विवेचन 'लक्षणौचित्य' के ही आधार पर होता रहा हो और अन्य सिद्धान्त इसी के प्रकाश में विवेचित होते रहे हों। परवर्ती काल में अन्य काव्य चिन्तनों की व्यवस्था के बाद यह 'अलंकार' सिद्धान्त में समाविष्ट हो गया हो किन्तु 'लक्षणशास्त्र' शब्द परम्परा में इस शास्त्र के लिए प्रयुक्त होता रहा है। आचार्य अभिनवगुप्त ने एक स्थल पर संकेत किया है—

तत्र गुणालंकारादिरिति वृत्तयश्चेति काव्येषु प्रसिद्धो मार्गः, लक्षणानि तु न

प्रसिद्धानि। परम्परा में जनश्रुति है कि आचार्य अभिनवगुप्त के गुरु आचार्य भट्टतौत कृत 'काव्य कौतुक' नामक ग्रन्थ काव्य लक्षण से ही सम्बद्ध है।

अलंकार शास्त्र—काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक नामों में 'अलंकार शास्त्र' नाम की भी चर्चा विद्वानों द्वारा की जाती है। मूलतः भारतीय काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल में 'अलंकार' शब्द काव्य को समग्र सौन्दर्य एवं चारुत्व का पर्याय समझा जाता रहा है। चौथी शती से लेकर आठवीं शती तक इस अलंकार सिद्धान्त को विकसित करने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये और चेष्टा यह की गई कि काव्य की समग्रता को इसमें अन्तर्भूत कराया जाए। आचार्य भामह, दण्डी, वामन आदि इस दिशा के विशेष विचारक विद्वान रहे हैं। आचार्य वामन ने तो काव्य सौन्दर्य और उसकी सम्पदा को अलंकार रूप में प्रतिष्ठित करने का महनीय प्रयास किया—

'काव्यं ग्राह्यम् अलंकारात्'

काव्यं खलु ग्राह्यमुपादेयं भवति। अलंकारात्। काव्य शब्दोऽयं गुणाऽलंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोः वर्तते—

'सौन्दर्यमलंकारः'

अलंकृतिः अलंकारः। करणव्युत्पत्तया पुनः अलंकार शब्दोऽयं उपमादिषु वर्तते। वामन के इन दो सूत्रों से स्पष्ट है कि उपमादिसूचक अलंकार शब्द का प्रचलन 'तृतीया विभक्ति' से सिद्ध नितान्त सामान्य अर्थ में है। वह स्वतः काव्य गुणों एवं अलंकारों के संस्कारों का प्रतिफल है। वह अलंकार ही है—जो गुणादि को अपनी सौन्दर्यभूतता में पचा लेता है। कुल मिलाकर, काव्य के अभिधान अलंकार वैशिष्ट्य पर ही आधारित है—और इसीलिए 'अलंकार शास्त्र' के रूप में इस शास्त्र को प्रतिष्ठित करके भामह, वामन, रुद्रट आदि काव्यशास्त्रियों ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का भी नामकरण अलंकार-क्रम में किया। परवर्ती काल में भी इसे 'अलंकार शास्त्र' के नाम से पुकारा गया वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक अपने ग्रंथ को अलंकार शास्त्र के ही नाम से पुकारते हैं—

काव्यस्यायमलंकारः कोऽपूर्वो विधीयते।

× × ×

ग्रन्थस्यास्य अलंकार इत्यभिधानम् वृत्तिः।

आचार्य भामह ने स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है—

काव्यालंकार इत्येषं यथाबुद्धि विधीयते।

अप्पयदीक्षित, आचार्य शोभाकर आदि इस 'अलंकार शास्त्र' शब्द को काव्यशास्त्र के पर्याय के रूप में मान्यता देते हैं।

साहित्य विद्या—आचार्य राजशेखर ने 'शब्दार्थ' के सौहित्य से निर्मित साहित्य के विवेचक सिद्धान्त को साहित्य विद्या के नाम से अभिहित किया है।

उन्होंने काव्यमीमांसा के द्वितीय अध्याय 'शास्त्र निर्देश' के अन्तर्गत वेदांग का विवेचन करते हुए बताया है कि छः वेदांगों के बाद सातवां 'अलंकारशास्त्र' है क्योंकि यह वेद के अर्थ ज्ञान का साधक है और अलंकार के ज्ञान के बिना वेद के अर्थ का ज्ञान असम्भव है—

'उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तमङ्गम्' इति यामावरीयः। ऋते च तत्वस्वरूप-परिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः।

यही नहीं, उनके अनुसार ६ वेदांग, ४ वेद, ४ शास्त्र को मिलाकर विद्याओं के चौदह स्थान हैं। इनमें काव्य पन्द्रहवाँ विद्यास्थान है। गद्य-पद्य तथा कवि कर्म होने के कारण सभी शास्त्र काव्यविद्या का अनुसरण करते हैं।

यही नहीं, अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति (अर्थशास्त्र) पृथक् से चार विद्याएँ हैं किन्तु इनकी सारभूत विद्या का नाम साहित्यविद्या है—

'पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। सा हि चतु सृणामपि विद्यानां निष्यन्दः। अभिधर्माथौं यद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम्'।

परवर्ती काल में इस साहित्यविद्या या साहित्यशास्त्र शब्द का प्रयोग कुन्त-कादि अनेक विद्वानों द्वारा किया गया।

रीतिशास्त्र—हिन्दी साहित्य के रीति काल में इस शास्त्र को 'रीतिशास्त्र' के नाम से पुकारा गया। आचार्य चिन्तामणि से लेकर पद्माकर एवं उनके पर-वर्ती अन्यान्य लक्षणकारों ने रस, अलंकार, गुण, नायक-नायिका भेद आदि सभी को रीति शब्द की अभिधा दी। यह रीति शब्द 'रीति सिद्धान्त' का द्योतक न रहकर सम्पूर्ण शास्त्रीय दृष्टि एवं सिद्धान्तों का वाचक बना और व्यवहार में भी इस शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्रीय अर्थ के रूप में किया जाता है फिर भी आज 'काव्यशास्त्र' एवं 'साहित्यशास्त्र' शब्द अत्यधिक प्रचलित हैं।

काव्यशास्त्र शब्द अंग्रेजी के 'पोएटिक्स' का हिन्दी रूपान्तरण है। वैसे, आचार्य भोज 'काव्यशास्त्र' शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु उस काव्यशास्त्र का अर्थ है, 'काव्य' एवं 'शास्त्र' का संयोग न कि साहित्यशास्त्र का पयार्य।

उन्होंने लोकयात्रा के प्रवर्तन के निमित्त—'काव्य, शास्त्र एवं इतिहास' इन साधनों को आवश्यक माना है—

यदविधौ च निषेधे च व्युत्पत्तिरेव कारणम् ।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते ।।

काव्य, शास्त्र एवं इतिहास इन तीनों के संयोग से तीन ज्ञानधाराओं का प्रवर्तन होता है, जिसको आधार बनाकर मानव जाति अपनी जीवन यात्रा पूर्ण करती है—ये तीनों हैं—

१. काव्यशास्त्र
२. काव्येतिहास
३. शास्त्रेतिहास

काव्यशास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च ।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम् ।।

यद्यपि भोज द्वारा काव्यशास्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है, किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, यह साहित्यशास्त्र शब्द का पर्यायवाची नहीं है। आजकल प्रचलन में यही काव्यशास्त्र शब्द ही है, जो अंग्रेजी के 'पोएटिक्स' शब्द का ही हिन्दी रूपान्तरण है।

•

पूर्वपीठिका

संस्कृत काव्यशास्त्र का उद्भव

संस्कृत काव्यशास्त्र का उद्भव कब हुआ होगा, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है, फिर भी विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर इसके प्रारम्भिक काल का अनुमान लगाया जा सकता है। काव्यशास्त्रीय समस्याओं के विषय में प्रारम्भिक सामग्री नाट्यशास्त्र में ही मिलती है, और उसके साक्ष्यों के आधार इस सम्बन्ध में अनुमान को सत्यता का आधार दिया जा सकता है।

नाट्यशास्त्र का समय ई० की प्रथम शती अनुमानित किया जाता है। इसके सम्बन्ध में कई मत हैं। एक मत तो यह है कि भरत (नट) नामक जाति परम्परा से अपनी वंशानुगत 'नटविद्या' की समझ के लिए इसके संकलन को बढ़ाती रही है और सैकड़ों वर्षों के संकलन के परिणामस्वरूप इसमें पर्याप्त सामग्री संकलित होकर वर्तमान स्वरूप में आई। वर्तमान नाट्यशास्त्र इसी संकलन का परिणाम है। दूसरा मत यह है कि कई भरत नामक आचार्यों ने मिलकर परम्परा-बद्ध रूप में इसकी रचना की और उसका वर्तमान कलेवर इस सामूहिक परिश्रम का प्रतिफल है। अन्य मत के अनुसार भरत नामक आचार्य ने नाट्यशास्त्र सम्बन्धी विविध सामग्रियों का संकलन करके नाट्यशास्त्र नामक ग्रन्थ की रचना की। नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत काव्यशास्त्र से सम्बन्धित रस, भाव, अलंकार, गुण, लक्षण, दोष सामग्रियों का संकलन है।

रस : नाट्यशास्त्र के साक्ष्य के अनुसार 'रस एवं भाव' सन्दर्भों का प्रयोग नितान्त प्राचीन है। भरत ने एक स्थल पर कहा है—

> जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
> यजुर्वेदानभिनयान् रसानथर्वणदपि।

इस साक्ष्य के अनुसार रस सामग्री अथर्वण से ली गई। इस सम्बन्ध में अधि-कांश विद्वानों की धारणा है कि नाट्यशास्त्र के दैवत स्वरूप को प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से भरत ने रस का सम्बन्ध अथर्ववेद से जोड़ा है। वैसे अथर्ववेद में एक

स्थल पर हास्य भाव रसादि के प्रकरणों का उल्लेख अवश्य है—

नृत्ताय सूतं, गीताय शैलूषं, नर्मायरेमं (आमोद के लिए हिजड़े) हासाय कारिम्, (विदूषक) आसदभ्यो कुब्जः प्रमुदे वामनम्...।

आचार्य भरत ने रस की संख्या का निरूपण करते हुए 'महात्मा द्रुहिण' का उल्लेख किया है—

शृंगारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।
एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।

भरत के साक्ष्य के आचार्य द्रुहिण का नाम इस परम्परा में सबसे प्राचीन है। द्रुहिण का अर्थ है ब्रह्मा। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में बताया है कि काव्यविद्या को शिव ने ब्रह्मा को दिया तथा ब्रह्मा ने उसे अट्ठारह अधिकरणों में विभक्त करके भिन्न-भिन्न ऋषियों को सौंपा और उन ऋषियों ने इसका प्रचार किया। रूपक तथा रस का उल्लेख करते हुए बताया है—रूपक निरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः। रस सम्बन्धी अधिकरण का सम्बन्ध नन्दिकेश्वर से है। अधिकांशतया विद्वान राजशेखर की इस सूची के नामों को काल्पनिक मानते हैं—किन्तु भरत एवं नन्दिकेश्वर ये दोनों नाम पूर्णतया काल्पनिक नहीं है। नन्दिकेश्वर का नामोल्लेख भारतीय वाङ्मय में बाद हुआ है। पौराणिक कल्पना के अनुसार ये शिव के प्रमुख गण नन्दि हैं किन्तु सम्भव है, इस नाम से कोई ऋषि या आचार्य भी रहे हों। नाट्यशास्त्र के एक संस्करण में उसकी समाप्ति के बाद वाक्य मिलता है—"नन्दि भरत संगीतपुस्तकम्" कामसूत्र के वैशिक प्रकरण के सन्दर्भ में नन्दिकेश्वर सुवर्णनाम एवं कुचुमार ऋषियों के नामोल्लेख मिलते हैं। नाट्यशास्त्र के उल्लेख के अनुसार ब्रह्मा के अनुरोध पर सर्वप्रथम शिव ने 'नन्दि' को ही नाट्य विधान का आदेश दिया था और तभी से नाटक की निर्विघ्न समाप्ति तथा पूर्ण फल प्राप्ति के लिए नान्दीपाठ को नाटकों में स्थान दिया जाने लगा। आचार्य नन्दि ने तण्डु आदि का इस नाट्य विधान में सहयोग लिया। तण्डु ने आचार्य भरत को नाट्य के आयोजन का दायित्व सौंपा। 'संगीतरत्नाकर' में भी 'नन्दिकेश्वर' का नाम उसके प्रारम्भिक आचार्यों में लिया जाता है। काव्यादर्श की श्रुतिपालिनी टीका में काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दि स्वामी को दण्डी के पूर्वाचार्यों की सूची में रखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य भरत के पूर्व रस सिद्धान्त की मान्यता पूर्णतया प्रतिष्ठित थी और नन्दिकेश्वर एवं द्रुहिण का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में इस सिद्धान्त से जुड़ा रहा होगा।

नाट्यशास्त्र के साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि आचार्य भरत के पूर्व रस सिद्धान्त

पर व्यापक चर्चा हो चुकी थी। आचार्य भरत रस सिद्धान्त से सम्बन्धित आर्याओं एवं श्लोकों के विषय में बहुत स्पष्ट पूर्वक बताते हैं कि वे उनकी लिखी हुई नहीं हैं, अपितु वे उनके संकलनकर्ता हैं। नाट्यशास्त्र के छठें अध्याय के अनेक अंश इस प्रकार द्रष्टव्य हैं—

सूत्रानुबद्धे आर्ये भवतः
× × ×
भवन्ति चात्र श्लोकाः
× × ×
ऋषय उचुः

यही नहीं, इस सम्बन्ध में वे आनुवंश्य श्लोकों की भी चर्चा करते हैं जिसका अर्थ परम्परागत श्लोकों से ही है। नाट्यशास्त्र की रस सामग्री सूत्र, श्लोक, आर्या रूपों में प्राप्त सामग्री से अपनी प्रकृति के अनुसार इतनी भिन्न हैं कि उन्हें एक ग्रन्थ के अंश के रूप में कह सकना सम्भव नहीं है, साक्ष्यों के अभाव में शायद यह न सिद्ध किया जा सके कि आचार्य भरत पूर्व 'रस सिद्धान्त' का स्वरूप क्या था किन्तु इतना स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इस सिद्धान्त पर सूत्र शैली में लिखा गया 'रस सूत्र' सम्बन्धित कोई ग्रन्थ अवश्य था, साथ ही, इसका प्रभाव उस युग विशेष में प्रचलित अन्य कलाओं पर था।

यही नहीं, पौराणिक दृष्टि से रसोत्पत्ति के विषय में दो मत हैं—आचार्य भरत के अनुसार शिव ने इसे अथर्वण से संकलित करके तण्डु एवं भरत को प्रदान किया। शारदातनय कृत भाव प्रकाशन में बताया गया है कि वासुकि इसके आदि आचार्य हैं और उन्होंने इसे नारद को दिया तथा नारद ने आचार्य भरत को—

उत्पत्तिस्तु रसानां या पुरा वासुकिनोदिता।
नारदस्योच्यते सैषा प्रकारान्तर कल्पिता॥

आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में रस के सम्बन्ध में इस प्रकार का उल्लेख किया है—

'रसादिभ्यश्च'

रसभोक्ता के सम्बन्ध में 'इक' प्रत्यय का लगना और महर्षि पतंजलि द्वारा इसका भाष्य कि "रसिको नटः" नितान्त स्पष्ट रूप से 'रसभोक्ता नट' की ओर संकेत करता है? इस व्याख्या से आचार्य भट्ट लोल्लट का प्रारम्भिक सिद्धान्त कि रस का वास्तविक भोक्ता नट ही है की ओर संकेत किया गया है। महर्षि पाणिनि पतंजलि का समय 'नाट्यशास्त्र' से पूर्व है? ई० पू० पांचवीं शती यदि पाणिनि

का समय है तो काव्य में वर्णित 'रस' का अस्तित्व इस कालखण्ड में पूर्णतः वर्तमान था।

इधर विद्वानों की दृष्टि रस के इतिहास के अन्वेषण के सन्दर्भ में वात्स्यायन कृत कामसूत्र पर गई है। कामसूत्र का अस्तित्व आचार्य भरत के पूर्व रहा है और स्वयं आचार्य भरत ने अपने को उससे प्रभावित होने का अनेक स्थानों पर निर्देश किया है—

उपचार विधिः सम्यक् कामसूत्र समुत्थितम्।
× × × ×
एतेषां चैव वक्ष्यामि कामतन्त्रमनेकधा॥

नायिका-नायक भेद का आचार्य भरत कृत प्रारूप अनेक रूपों में कामशास्त्र से प्रभावित है।

डॉ० नगेन्द्र ने धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक तथा अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'रस सिद्धान्त' में एक स्थल पर बताया है कि—

"भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के दो प्रमुख अंग हैं : रस और अलंकार। इनमें से अलंकार का मूलाधार है, व्याकरण और रस का मूलाधार है, कामसूत्र। उन्होंने रस के सम्बन्ध में 'अथर्वण' वेद की मान्यता की पुष्टि भी की है, साथ ही यह भी बताया है कि रस का एक कामशास्त्रीय अर्थ भी है—

रसोरतिः प्रीतिर्भावो रागोवेगः समाप्तिरिति रति पर्यायः

यही नहीं, जयमंगल टीका को केन्द्र में रखकर उन्होंने कामसूत्र के 'तदिष्ट-भावलीलानुर्वतनम्' की व्याख्या[1] के बाद यह सिद्ध किया है कि रस के सम्बन्ध की सामग्रियाँ भी कामशास्त्र में उल्लिखित हैं। जयमंगल की टीका आठवीं शती की है और तब तक रस की सामग्रियों पर विधिवत् विचार हो चुका था फिर भी कामसूत्र में 'रस सिद्धान्त' विशेषकर शृंगार की सामग्रियाँ पर्याप्त रूप में बिखरी पड़ी हैं।

आचार्य भरत ने वृत्ति का सम्बन्ध रस से स्थापित किया है, और इस सन्दर्भ में वे पुनः वेदों तक इस सम्बन्ध क्रम को ले जाते हैं—

ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	अथर्ववेद
↓	↓	↓	↓
भारती वृत्ति	सात्वती वृत्ति	कैशकी वृत्ति	आरभटी वृत्ति
↓	↓	↓	↓
करुण वीररस	शान्तरस	शृंगार रस	रौद्र, भयानक, वीर, अद्भुत, वीभत्स

१. नायकस्य शृंगारादिषु य इष्टो रसो भावः स्थायि सञ्चारिसात्त्विकेषु लीला चेष्टितानि तेषामनुवर्तनम् इति।

यह सत्य है कि 'नाट्यशास्त्र' में शान्त रस की अवधारणा बहुत बाद की है, फिर भी यह सचेष्टता दिखाई पड़ती है, कि रस-सिद्धान्त को वैदिक परम्परा से जोड़ा जाए ।

अनेक विद्वान आचार्य भरत के 'औषधि' एवं 'व्यंजन' रसों से सम्बन्धित साक्ष्यों के आधार पर 'रसनास्वाद' की उपलक्षणता या औषधि रस (रसायन) क्रम से इसकी उत्पत्ति को जोड़ने का प्रयास करते हैं । आचार्य भरत का वाक्य इस प्रकार है—

व्यंजनौषधि संयोगे यथान्नं स्वादुतानयेत् ।
एवं भावारसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ।।

रसना रस (व्यंजन रस) का साक्ष्य आचार्य रुद्रट कृत काव्यालंकार में मिलता है—

"रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनां इवोक्तमचार्यैः"

अर्थात् मधुर तिक्त काषायादि रसना स्वाद की भाँति रस के आस्वाद को आचार्यों ने बताया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि 'रसनास्वाद' से रसास्वाद सिद्धान्त का जन्म हुआ । 'पानक रस' या 'प्रपाणक न्याय' से जिस रस के आस्वाद को समझाया गया है, उसका अर्थ यह नहीं है कि औषधि या पारद रस (रसायन) शोधन व्यापार से रस-व्यापार की निष्पत्ति हुई है । इस सम्बन्ध में अन्य कोई साक्ष्य भी चरकादि ग्रन्थों में नहीं मिलता ?

काव्य रस की प्रारम्भिक धारणा के सम्बन्ध में सम्प्रति इतना ही ज्ञात हो सका है ।

अलंकार—वैदिक साहित्य में 'अरंकृति' शब्द के रूप में यह शब्द प्रयुक्त है । मूलधातु 'अरंम्' शोभा, अलंकरण के अर्थ में है । ऋग्वेद सप्तम मण्डल (२९·३) में एक स्थान पर उल्लेख है—

का ते अस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः कथा नूनम् ते मघवन् दाशेम

उपनिषद काल तक पहुँचते-पहुँचते यह 'अलंकृत' शब्द बन गया—

प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणेति सँस्कुर्वन्ति[1]

[मृतक पुरुष के शरीर को भिक्षा, वस्त्र और अलंकार से सुसज्जित करते हैं ।]

यास्क की निरुक्ति में 'अलंकरिष्णु' शब्द का प्रयोग 'सजधज कर रहने वाले व्यक्ति' के अर्थ में किया गया है । शतपथ ब्राह्मण के साक्ष्य के अनुसार यह

---

१. छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ८, खण्ड ८, मंत्र ३, ५

अलंकार शब्द 'भूषण' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था।[1]

आचार्य भरत का प्रयोग काव्यालंकार के अर्थ में सम्भवतया सर्वाधिक प्राचीन है।

'अलं[illegible]गुणश्चैव बहुभि समलंकृतम्'

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण काल के बाद 'अलंकार शब्द' काव्यालंकार था वाचक बन गया था। रुद्रदामन के शिलालेख (दूसरी शती) का प्रयोग आचार्य भरत के बाद का है—

'स्फुट[illegible] समयोदाराऽ (कवीनां प्रयुक्तं) लंकृत गद्य-पद्यस्व।' आचार्य भरत के बाद से यह शब्दं काव्यालंकार के लिए अत्यधिक प्रचलित हुआ और इस सिद्धान्त को काव्यशास्त्रीय परिधि में विशेष मान्यता मिली।

विविध अलंकारों का विकास क्रमशः हुआ है। इनका व्यवस्थित इतिहास इस प्रकार है।

अलंकारों में सर्वाधिक प्राचीन अलंकार 'उपमा' है। इसकी सर्वप्रथम परि-भाषा ई० पू० छठी शती में आचार्य उपवर्ष (जैमिनी) की मिलती है—

उपमानमपि सादृश्यं असंन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति : अर्थात् उपमान के द्वारा किसी असमीप वस्तु की प्रतीति ही उपमा है।

वस्तुतः मीमांसा एवं न्याय में 'उपमान' प्रमाण के सन्दर्भ आदिकाल से ही इसके स्वरूप का निर्धारण हो चुका था। ऋग्वेद के भाष्यकार यास्क ने उपमा की वाचक शब्दावलियों की ओर संकेत करते हुए उसे 'निपात्' शब्द से अभि-हित करते हैं—'उपमार्थे निपातः' उनका बड़ा ही प्रसिद्ध सूत्र है। यास्क ने उल्लेख किया है कि उनके पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य ने उपमा को इस प्रकार परि-भाषित किया है—

'उपमा यत् अनत् तत्सदृशमिति' मूलतः असदृश होते हुए सदृश की बात करना ही उपमा है।

न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार उपमा के सन्दर्भ में 'सामीप्यमानं उपमानम्' वाक्य का प्रयोग असमीप होते हुए भी सामाप्य कल्पित करना उपमा है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपमा के अनेक सन्दर्भ मिलते हैं। उनके प्रसिद्ध सूत्र 'तेन तुल्येन क्रिया चेद्वतिः के आधार पर सादृश्य का भावबोध कराने

---

१. शतपथ ब्राह्मण, १३. ८. ४—७ तथा ३५.१.३६

वाली उपमा आर्थी तथा 'तुल्यता' वाचक शब्द 'इव' 'वत्' आदि से सिद्ध उपमा श्रौती का संकेत करती है।

यथा—तव सदा रमणीयते श्रीः—आर्थी उपमा
(लक्ष्मी सदा तुम्हारी रमणी की तरह आचरण करती है)

ब्राह्मणवत् अधीते : ब्राह्मण की तरह पढ़ता है : श्रौती उपमा यही नहीं, अष्टाध्यायी में इवेन समासो विभक्तिलोपः यथा "कुम्भाविवस्तनौ" यहाँ कुम्भों के साथ इव का समास हो गया है—यह 'कुम्भेव' नहीं होगा। 'इव' के सामासिक प्रयोग के कारण इसे समासगा उपमा के नाम से पुकारा गया। आचार्यों में उद्भट ने सर्वप्रथम आचार्य पाणिनि निर्दिष्ट व्याकरणिक आधार पर उपमा को वर्गीकृत करने की चेष्टा की।

परम्परा में आचार्य भरत ने ही सर्वप्रथम अलंकारों में अग्रगण्य इस 'उपमा' को प्रथम बार प्रयुक्त किया।

उपमा के पश्चात् 'रूपक' शब्द का प्राचीन प्रयोग मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के···शरीर रूपक विन्यस्त गृहीते दर्शयति (सम्पूर्ण मनुष्य जीवन को यज्ञ के रूपक में स्वीकार किया गया है) पर टिप्पणी देते हुए शंकराचार्य 'इति शारीरिक सूत्रे रूपकमङ्गीकृतम्' का ही निर्देश करते हैं। आचार्य भरत उपमा के पश्चात् रूपक अलंकार के ही अस्तित्व को स्वीकार करते हैं—

आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट 'यमक' तथा 'दीपक' अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। आचार्य भरत के बाद अलंकारों के विषय में विशेष चिन्तन हुआ और क्रमशः उसकी तालिका बढ़ती हुई। सुबन्धु ने श्लेष, उत्प्रेक्षा, आक्षेप का उल्लेख किया है। बाणभट्ट ने दीपक, उपमा, श्लेष की ओर संकेत किया। आचार्य भामह ने मेधाविन् एवं अन्य आलंकारिक आचार्य का उल्लेख किया है, जिसमें मेधावि यथासंख्य का निर्देश करते हैं तथा दूसरे आचार्य उत्प्रेक्षा का।

यथासंख्यमथोत्प्रेक्षा अलंकार द्वय विदुः।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्।[1]

आचार्य भरत तथा भामह के बीच चौथी शती के आसपास लिखित विष्णु धर्मोत्तर पुराण तक अलङ्कारों की संख्या १८ पहुँच गई थी—

---

१. भामह ने निर्देश किया है कि उपमा, रूपक, यमक, दीपक के साथ अनुप्रास भी आचार्यों द्वारा उदाहृत है। अनुप्रासः च यमको रूपकं दीपकोपमे। इति वाचामलंकाराः पञ्चैवान्यैरुदाहृता।

अनुप्रास, यमक, रूपक, व्यतिरेक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, उपन्यास, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, विशेषोक्ति, निन्दास्तुति (ब्याज), विरोध, वार्ता, निदर्शन, अनन्वय, स्वभावोक्ति, उपमा ।

यही नहीं, परम्परा में प्रचलित 'प्रहेलिका' एवं स्वभावोक्ति को 'जाति' के नाम से इसी युग में आलङ्कारिक मान्यता मिली ।

गुण—काव्य गुण का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य भरत प्रस्तुत करते हुए १० गुणों की संख्या का निर्देश करते हैं । भाषा एवं अर्थ के वाह्य वैशिष्ट्य के रूप में इनकी चर्चा बहुत पहले से होती आई है । वाल्मीकि रामायण, महाभारत, कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में इसके प्रारम्भिक संकेत मिलते हैं । रामायण किष्किंधा काण्ड में एक स्थान पर आता है—

'अहो गीतस्य माधुर्यम् अविस्तरम् असंदिग्धम्'

इसी प्रकार से महाभारत में भी 'वचनं मधुरं' विचित्रपदत्व, अर्थवत् आदि अनेक भाषा के विशेषणमूलक शब्दों का प्रयोग मिलता है । कौटिल्य ने अर्थ-शास्त्र के अन्तर्गत शासकीय लेखन की भाषा के निम्नलिखित गुणों की ओर संकेत किया है—

'अर्थक्रमः सम्बन्धः परिपूर्णता माधुर्य औदार्य स्पष्टत्व मितिलेखसंपत्' । रुद्र दामन के शिलालेख में बहुत स्पष्ट रूप से भाषा के काव्यमूलक वैशिष्ट्य को उद्घाटित किया गया है—स्फुट, लघु, चित्र, कान्त, मधुर ये भाषा के गुण काव्य में कवियों द्वारा प्रयुक्त किए जाते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य भरत तक काव्य गुण का सिद्धान्त स्थिर हो चुका था । उन्होंने अपने युग की गुण सम्बन्धी धारणा को निरूपित करते हुए बताया कि—

श्लेषप्रसादसमतासमाधिः माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यश्च गुणा दशैते ॥

आचार्य भरत से भामह तक प्रचलित अन्य काव्य सिद्धान्त

आचार्य भरत तथा उनके बाद भारतीय काव्य शास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत शिल्प या रूपवादी काव्य सिद्धान्तों का अधिक बाहुल्य रहा है । इन सिद्धान्तों का सम्बन्ध काव्य के वाह्य पक्ष विशेषकर उसके भाषिक संगठन तथा उससे मिलने वाले माधुर्य से सम्बन्धित रहा है । इस क्रम में लक्षण, शैया, पाक आदि सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं—

लक्षण—काव्य लक्षणों की प्रथम तालिका आचार्य भरत कृत नाट्यशास्त्र में मिलती है । जैसा कि आचार्य अभिनव गुप्त ने इंगित किया है—ये एक

विशिष्ट काल खण्ड में काव्य के सर्वाधिक प्रभावी तत्त्व के रूप में स्वीकृत रहे हैं किन्तु अलङ्कार सिद्धान्त के व्यापक प्रभाव के कारण तेजविहीन हो गये—

"तत्र गुणालङ्कार रीति वृत्तयश्चेति काव्येषु प्रसिद्धोमार्गः लक्षणानि तु न प्रसिद्धानि' आचार्य भरत द्वारा गिनाये गये लक्षण इस प्रकार हैं—

भूषण, अक्षर संघात्, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, प्राप्ति, अभिप्राय, निदर्शन, निरुक्ति, सिद्धि, विशेषण, गुणातिपात, अतिशय, तुल्यतर्क, पदोच्चय, दृष्ट, उपदिष्ट, विचार, तद्विपर्यय, भ्रंश, अनुनय, मात्रा, दाक्षिण्य, ग्रहण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, सारूप्य, मनोरथ, लेश, क्षोभ, गुण कीर्तन, अनुक्त सिद्धि, प्रिय वचन।

आचार्य भरत ने प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती के अन्तर्गत विवेचन करते हुए बताया है कि उनकी पूर्ववर्ती लक्षण विवेचन की १० परम्पराएँ हैं। इनके अनुसार 'काव्य पद्धति' ही लक्षण हैं, अभिधा के सहज सौन्दर्य को व्यक्त करने वाला भाषिक तथा अर्थगत चारुत्व के मूलहेतु का स्रोत यह लक्षण काव्य के अलङ्कार आदि सिद्धान्तों से अपने को भिन्न किए हुए हैं—

The लक्षण or beautiful laugnage, अभिधा, itself distinguishes काव्य from others. डॉ० वी० राघवन्।

सभी प्रारम्भिक आचार्य उद्भट, भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टतौत अभिनव गुप्त आदि किसी-न-किसी रूप में इसका उल्लेख करते हैं। आचार्य अभिनव गुप्त ने स्पष्ट रूप से संकेत किया है कि अलङ्कार सिद्धान्त के अतिशय प्रचार के कारण यह या तो क्षीण हो गया या उसी में अन्तर्भुक्त—

'उपाध्याय मतं तु लक्षणवलात् अलङ्काराणां वैचित्र्यमागच्छति'

शैया—काव्य शैया का उल्लेख वाणभट्ट कृत कादम्बरी में मिलता है—

स्फुरत कलालाप विलास कोमला करोतिरागं हृदि कौतुकाधिका।
काव्यस्य शैया स्वयमभ्युपागता कथाजनस्याभिनवावधू इव।

कलात्मक आवेश से युक्त, कोमल कान्त पदावली से व्यवस्थित, हृदय में कौतूहल एवं रागात्मक आवेग की वृद्धि करने वाली पद योजनाएँ काव्य भाषा विकास के किसी व्यवस्था को इंगित करती हैं। डॉ० एस० के० डे महोदय ने अनुमान लगाया है कि संस्कृत काव्य शास्त्र का कोई सिद्धान्त शैया नाम से रहा होगा जो कालान्तर में कवलित हो गया—

When other and more convincing theories were advansed the शैया and पाक almost disappear from sanskrit poeties.

पाक—पाक सिद्धान्त का उल्लेख आचार्य भरत ने नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा के वाह्य सौन्दर्यमूलक एवं भावात्मक सिद्धान्तों के विकसित होने के क्रम में यह प्रकाश में आया। आचार्य वामन सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं।

यत्पदानि त्यज्यत्येव परिवृत्ति सहिष्णुताम्।
स शब्दन्यास निष्णाता शब्द पाकं प्रचक्षते।

'शब्द न्यास में निपुण कवि' इसकी व्यंजना करता है कि व्यावहारिक स्तर पर उनके पूर्ववर्ती कविजन इसे ग्रहण करते रहे हैं। आचार्य राजशेखर ने अपने पूर्ववर्ती किसी कवि-आचार्य मंगल के मत का उल्लेख किया है—

सुपां तिङां च श्रवः प्रिया व्युत्पत्तिः इति मङ्गल। सो शब्दमेतत्। ग्यारहवीं ? शती तक संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में इस सिद्धान्त के दर्शन होते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र का विकास

काल विभाजन की समस्या

संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास के अध्ययन के प्रारम्भ में कतिपय इतिहास लेखकों द्वारा काल विभाजन की समस्या उठाई गई है। शास्त्रीय चिन्ताधारा को खण्डों में विभक्त करके इतिहास दृष्टि को पकड़ने एवं विश्लेषित करने की परिपाटी इधर चल निकली है किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो काव्यशास्त्र के विकास का सम्पूर्ण इतिहास एक क्रमिक और सैद्धान्तिक परम्परा से अङ्ग-बद्ध है। विशिष्ट सिद्धान्त प्रारम्भ से अन्त तक प्रायः अपनी सम्पूर्णता लिए हुए विकसित हुए हैं। प्रायः इतिहास दृष्टि के लिए यह जानना आवश्यक है कि किसी नवीन सिद्धान्त विशेष का उद्भव एवं विकास कैसे हुआ! भारतीय काव्यशास्त्र की यह विलक्षणता है कि उसका उद्भव उसके शीर्ष विकास के साथ हुआ। अन्य भारतीय विद्याओं की भाँति सूत्र रूप में सम्पूर्ण सत्य को साक्षात्कृत करने का प्रयास किया गया तथा उस साक्षात्कृत सत्य का विवेचन विश्लेषण होता रहा। यथा—आचार्य भरत के पूर्ववर्ती युग में किसी सत्य द्रष्टा ने इसके विषय में एक सूत्र दिया—

'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रस निष्पतिः'

अनेक शतियों से इस सूत्र में निहित सत्यार्थ को विवेचित करने की ही चेष्टा की जाती रही—किसी ने भी इस सूत्र के पदात्मक स्वरूप एवं अर्थबोध पर न सन्देह किया और न परिवर्तन। विभावानुभाव व्यभिचारी की जो तालिका बना दी गई, वह दो हजार वर्ष बाद भी उसी सत्यता के साथ स्वीकृत एवं विवेचित है। मूलतः आज जबकि इतिहास—उद्भव, विकास एवं ह्रास की कालधारा से जुड़ा माना जाता है, इस चिन्तन के समकक्ष वह कहीं भी नहीं ठहरता। अतः भारतीय विद्याओं की प्रकृति के अनुक्रम में ही संस्कृत काव्य-शास्त्र के विकास-क्रम को अखण्डित कालधारा के रूप में ही ग्रहण करना पड़ेगा।

यह सत्य है कि भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास को वर्गीकृत करने की कई रूपों में चेष्टा की गई है, किन्तु लगता है, वह सम्यक् विचारित नहीं है। हिन्दी साहित्य के एक मर्मज्ञ विद्वान ने ध्वनि सिद्धान्त को केन्द्र बिन्दु मानकर सम्पूर्ण काव्यशास्त्रीय चिन्तन को इस प्रकार रखा है—

१. ध्वनि काल

२. ध्वनि पूर्वकाल

३. ध्वनि उत्तरकाल

भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि में महत्त्व देने का एक फ़ैशन चल पड़ा है। ध्वनि तो भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन का एक अंग मात्र है। आचार्य अभिनव गुप्त की तत्त्वदर्शनी प्रतिभा ने उसे अवश्य चमकाया है किन्तु वह भारतीय काव्यशास्त्र की धुरी नहीं है। एक दूसरा विभाजन इस प्रकार है—

(१) प्रारम्भ काल

(२) विवेचन काल

(३) व्याख्या काल

विवेचन तथा व्याख्या के बीच अन्तर्रेखा खड़ी करना सचमुच असम्भव है—और गम्भीरता से विचार करने पर कहीं ऐसी स्थिति नहीं मिलती। भारतीय काव्यशास्त्र का विकास प्रवाहात्मक है, उसे खण्डित करके देखना सम्भव नहीं है। इसीलिए विविध सम्प्रदायों के इतिहास के रूप में उसका ऐतिहासिक तथा क्रमबद्ध अध्ययन करना अधिक न्याय सङ्गत है। डॉ० एस० के० डे का मत इस प्रकार है—

१. प्रारम्भिक काल, अज्ञात समय से ६०० वि० सं० तक
[Formative stage]

२. रचनात्मक काल, ६०० वि० सं० से लेकर ८०० तक
[Creative stage]

३. निर्णयात्मक काल, ८०० ” ” ११०० तक
[Definitive stage]

४. व्याख्यात्मक काल, ११०० ” ” १६५० तक
[Scholastic stage]

कालविभाजन का यह स्वरूप पूर्णतया सङ्गत नहीं प्रतीत होता। निर्दिष्ट तारम्य में कोई क्रमिक संगति नहीं दिखाई देती। रचना एवं निर्णय की यह प्रवृत्ति प्रत्येक कालखण्ड में देखी जाती है और व्याख्यात्मक स्थिति भी हर युग में लक्षित है। भारतीय काव्यशास्त्र का अधिकांशतया विकास क्रम साम्प्रदायिक

रहा है, अतः क्रमिक विकास को आधार मानकर ही इसका ऐतिहासिक अध्ययन करना अपेक्षित होगा।

आचार्य राजानक रुय्यक कृत अलंकार सर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण संकेत दिया है—

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽपि अलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति वैचित्र्येण भोगकृतत्वेन वेति वैद्विध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेसु आद्य उद्‌भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजोवितकारेण चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन"

इस कथन को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है—
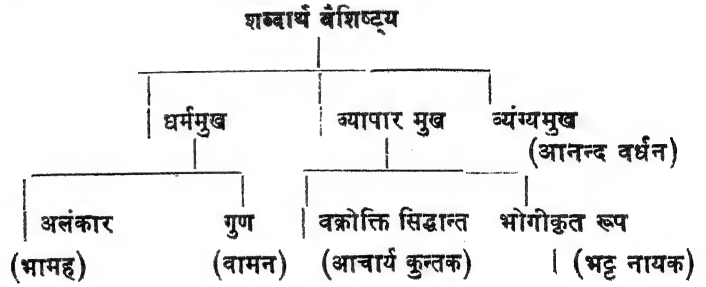
इस विवेचन में मूलतः आधार तीन ही हैं, धर्ममुख अर्थात् जो काव्य के वाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य को व्यंजित करता है, व्यापार मुख के माध्यम से अलंकार एवं अलंकार्य (वाच्य एवं वाचक) अर्थात् काव्य की सम्पूर्ण आन्तरिक एवं वाह्य व्याप्ति तथा व्यंग्य का अर्थ है, निष्पन्न अन्य विशिष्ट अर्थ, जहाँ वाच्य गौण होकर केवल उसी की सिद्धि के लिए हेतु का कार्य करता है।

प्रश्न यह है कि क्या सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र को इन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है? डॉ० सुशील कुमार डे इसे अस्वीकार करते हुए अपना वर्गीकरण देते हैं क्योंकि इससे विकासक्रम को स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

इन सबसे भिन्न भारतीय काव्यशास्त्र को सूक्ष्मतम बृत्तियों के आधार पर इन तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

१. शब्द मत—लक्षण, गुण, पाक, शैया, रीति, शब्दालंकार
२. अर्थ मत—शब्दशक्ति, ध्वनि, वक्रोक्ति, तात्पर्य, अलंकार (अर्थगत)
३. भाव मत—रस-सिद्धान्त

यहाँ 'प्रवृत्ति बाहुल्य' के कारण वर्गभेद किया गया है। भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास को इन तीन क्रमों में स्वीकार करके इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। यह क्रम साम्प्रदायिक (School) क्रम से सर्वथा भिन्न है।

शब्दमत—काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट 'शब्द मत' शब्द तथा अर्थ एवं उनसे सम्बद्ध पद के वाह्य सौन्दर्य को विशेष रूप से समर्थन देता है। यद्यपि 'रस' एवं 'अलंकार' दोनों प्रादुर्भूत हो चुके थे, फिर भी काव्यशास्त्रियों का एक वर्ग ऐसा अवश्य प्रतीत होता है—जो 'सौष्ठववादी' है। इस सौष्ठव सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्य के 'वाह्य सौन्दर्य' एवं अर्थ सौकर्य को प्रतिष्ठा मिली है। ऐसा प्रतीत होता है कि भाव और अर्थवादियों के ठीक समानान्तर शब्दार्थ सौष्ठववादी आचार्य ई० की पहली-दूसरी शती से ही अपने सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित कराने की ओर सचेष्ट थे। इनमें 'गुण' तथा 'लक्षणवादी' विवेचक काव्य के सर्वस्व के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित करने के प्रति सचेष्ट थे। आचार्य दण्डी, वामन, मंगल, राजशेखर आदि इसी परम्परा के आचार्य हैं। आचार्य वामन ने इस सिद्धान्त को 'रीतिरात्माकाव्यस्य' कहकर उसे शीर्ष पर पहुँचाने की चेष्टा की। राजशेखर कृत काव्यमीमांसा इसी परम्परा का उत्कृष्टतम ग्रंथ है। भोज कृत सरस्वती कंठाभरण पर भी इसी मत की छाया दृष्टिगत होती है।

आचार्य 'दण्डी' काव्य के वाह्य शोभाकारक धर्म को अलंकार कहते हैं, यहाँ शोभा का अर्थ है—सामान्यतया सहज प्रतीत एवं अनुभूति के स्तर पर 'विश्लेषण' सुगम धर्म। उन्होंने शब्दालंकर और अर्थालंकार का जो भी भेद किया है, उसका तात्पर्य है—भाषिक या अर्थ के स्तर पर प्रतीत होने वाली शोभातिशयता। शब्द रचना से लेकर अर्थ एवं भावप्रतीति का एक वाह्य सन्दर्भ भी है उसी प्रकार जिस तरह अर्थ, भाव एवं तादात्मीकरण की स्थिति घटित दिखाई पड़ती है। शब्द, पद, अर्थ के सौकर्य से मन को जो तृप्ति मिलती है, उसी को इन शास्त्रकारों ने काव्य पाक के नाम से पुकारा। काव्य की बाह्य स्वादुता का प्रतिफल (परिणाम) ही—काव्य पाक है। इसका क्रम इस प्रकार बनता है—

शब्द सौकर्य (शब्द गुण+अर्थ गुण)>रीति (गौडीय, पांचाली, वैदर्भी) >पाक (शब्द पाक तथा अर्थ पाक)

शब्दमत भाषा एवं शिल्प शोभाधर्म के माध्यम से वाङ्मय से परिस्रवित मधुस्राव के पान को उसका अन्तिम धर्म स्वीकार करता है।

अर्थमत—भारतीय साहित्य एवं शास्त्र में अर्थमत भी अपने में नितान्त प्राचीन है। यह अर्थमत सामान्यतया व्याकरण एवं न्यायशास्त्र से सम्बद्ध है। परवर्ती काल में अर्थालंकारों, लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति के विकास में इसका पर्याप्त योगदान रहा है। काव्य के अन्तर्गत लगभग चौथी शती के आसपास अलंकारों के विकास के साथ-साथ इस पर अधिक बल देने की परिपाटी का विकास प्रारम्भ हुआ होगा। सुबन्धु तथा बाणभट्ट काव्य में जिस वक्रतायुक्त श्लेष की चर्चा करते हैं, वह मूलतः अर्थमत के विकास का ही एक चरण प्रतीत होता है। सर्वप्रथम आचार्य भामह काव्यालंकार के अन्तर्गत शब्द मत का विरोध करते हुए अपने प्रबल तर्कों से इसका समर्थन करते हैं। अपने समसामयिक काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट वार्ता, हेतु, लेश आदि अलंकारों का विरोध उनके इसी अभिमत का परिणाम है। शब्दमतानुयायियों के अनुसार शब्द-संघटन से उत्पन्न सहज एवं लाक्षणिक सभी चमत्कार काव्य सीमा में है किन्तु इसे अर्थमत के समर्थक आचार्य भामह अस्वीकार करते हैं क्योंकि अर्थगत वक्रता ही उनके अनुसार काव्यत्व एवं अलंकारत्व की मुख्य कसौटी है।

अर्थमत

आचार्य भामह

(१) गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासायपक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥

(२) हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।

(३) स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोभिहितो यथा।

(४) आशीरपि च केषाञ्चिदलङ्कारतया मतः।

शब्द मत

आचार्य दण्डी

(१) गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्था निवेदने ॥

(२) हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्।

(३) नानावस्थां पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा।

(४) आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा।
पातु वः परमं ज्योतिरवाङ्मनसगोचरम्।

भामह द्वारा निर्दिष्ट अर्थवक्रता का सिद्धान्त काव्यशास्त्रियों द्वारा अनेक रूपों में विकसित किया गया। आचार्य कुन्तक का वक्रोक्ति सम्प्रदाय, आनन्दवर्धन का ध्वनि सम्प्रदाय, शब्दशक्ति के अन्तर्गत लक्षणावाद एवं व्यंजनावाद आदि सिद्धान्त इसी अर्थमत के विकास के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

भाव मत—रस सिद्धान्त के रूप में इसकी प्रतिष्ठा आचार्य भरत के पूर्व दिखाई पड़ती है, किन्तु काव्य के अन्तर्गत इसे विवेचित करने का प्रथम प्रयास आचार्य आनन्दवर्धन ने किया था। रस के अस्तित्व, उसके महत्त्व एवं भोग के विषय में इसके पूर्व अनेक संकेत मिल जाते हैं, किन्तु काव्य से सन्दर्भ में व्यवस्थित चिन्तन सर्वप्रथम ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत मिलता है। यदि काव्य की आत्माध्वनि है तो ध्वनि की आत्मा रस है। असंलक्ष्यक्रमध्वनि के रूप में विवेचित इसके महत्त्व एवं काव्यगत अनिवार्यता के विवेचन को देखकर यह स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि यह परम्परागत मान्यताओं के वैशिष्ट्य का संस्थापन है। इसके पश्चात् तो प्रायः आलंकारिकों एवं अन्य मतों के समर्थकों ने रस के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इसे काव्य के अनिवार्य उपादान के रूप में विवेचित किया। रस परम्परा के अन्तर्गत लिखे गए काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ—भट्टनायक कृत सहृदय दर्पण, अभिनवगुप्त कृत नाट्यशास्त्र की टीका, भोज कृत शृंगार प्रकाश, भानुदत्त कृत रसमंजरी, रसतरंगिणी, शिङ्भूपाल कृत रसार्णव, रंजकोल्लास, रसोल्लास, रुद्रभट्ट कृत शृङ्गार तिलक, पण्डित राजजगन्नाथ कृत रस गंगाधर, सन्त बड़े अकबर शाह कृत शृङ्गार मंजरी, रूपगोस्वामी कृत भक्तिरसामृतसिन्धु एवं उज्ज्वलनीलमणि आदि गिनाये जा सकते हैं।

शब्द, अर्थ एवं भाव मत के साथ-ही-साथ कवि शिक्षा से सम्बन्धित एक परिपाटी प्रारम्भ काल से ही दिखलाई पड़ने लगती है। इसके प्रारम्भिक संकेत दण्डी, भामह, वामन आदि में भी मिलते हैं। राजशेखर कृत काव्य मीमांसा, क्षेमेन्द्र कृत औचित्य विचार-चर्चा, कवि केशव मिश्र कृत अलंकार शेखर आदि अनेक ग्रंथ इस परिपाटी के अन्तर्गत लिखे गए, किन्तु शास्त्रीय क्रम में कवि शिक्षा एवं औचित्य की यह परम्परा अधिक दिनों तक नहीं पनप पाई।

कहने का तात्पर्य यह कि संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में काल-विभाजन जैसी कोई प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। एक क्रमिक काल प्रवाह के रूप में इसका व्यवस्थित विकास हुआ है। यह विकास अधिकांशतया साम्प्रदायिक या परम्पराबद्ध है। मूल चेतना के रूप में शब्द, अर्थ, भाव एवं कवि शिक्षा से सम्बद्ध विविध मत विकसित हुए हैं।

काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विकास

गुण सिद्धान्त का विकास

सामान्यतया इसके सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया जाता है कि इसको सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार किया जाए या सिद्धान्त के रूप में। आचार्य दण्डी एवं वामन के ग्रंथों के अनुशीलन से सम्प्रदाय के रूप में इसके प्रतिष्ठित होने का आभास अवश्य मिलता है क्योंकि जैसा निर्दिष्ट किया जा चुका है, शब्द मत का यह मेरुदण्ड है। भाषा के श्रुतिवैशिष्ट्य तथा अर्थ के शोभाकारी रूप के निर्माण में इसका बहुत बड़ा योगदान है—और आधुनिक शैली विज्ञान की दृष्टि से काव्य-भाषा के विवेचन के सन्दर्भ में अनिवार्यतः इसकी ओर दृष्टि जाती है। किन्तु, परम्परा में इसका साम्प्रदायिक रूप अधिक विकसित नहीं हो पाया है। अतः इसका अध्ययन सिद्धान्त के रूप में करना विशेष उपयुक्त होगा।

आचार्य भरत सर्वप्रथम बार काव्यगुणों का उल्लेख करते हैं। उन्होंने गुणों की संख्या दस बताई है—

> श्लेषप्रसादसमता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्
> अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यश्च गुणादशैते

आचार्य भरत के पश्चात् रुद्रदामन के शिलालेख में स्फुट, लघु, मधुर, चित्र-कान्त आदि गुणवाचक शब्दों का प्रयोग मिलता है किन्तु उसका 'काव्यगुण-सिद्धान्त' से विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसके पश्चात् आचार्य दण्डी इन दस गुणों का उल्लेख करते हैं। दण्डी के पश्चात् वामन ने भी इन्हीं दस गुणों का समर्थन किया किन्तु वे प्रथम बार शब्द गुण और अर्थ गुण जैसा विभाजन भी करते हैं। सामान्यतया यह धारणा प्रचलित है कि गुण सिद्धान्त का व्यवस्थित विवेचन आचार्य दण्डी के काव्यादर्श में मिलता है और उसका पूर्ण विकास आचार्य वामन कृत काव्यालङ्कार सूत्र में हुआ। आचार्य भरत, दण्डी एवं वामन के गुण विवेचन के वैशिष्ट्य की तालिका इस प्रकार है—

आचार्य भरत	आचार्य दण्डी	आचार्य वामन
१. श्लेष—सार्थक पदों का आश्लेष	अशिथिलबन्ध	शब्दों की मसृणता
२. प्रसाद—शब्द से अर्थ का सुखपूर्वक-बोध	अर्थ स्पष्टता	ओजमिश्रित-शिथिलता
३. समता—आदि से अन्त तक समस्त पद का लघु या दीर्घ होना	एकबन्धता	आदि से अन्त तक एक मार्ग
४. समाधि—अर्थ की विशेषता	अन्य के गुण का अन्य में संक्रमण	आरोह और अवरोह युक्त क्रम
५. माधुर्य—अनुद्वेजक पदावली	अनुप्रास यमक युक्त पदावली	समास का अभाव
६. ओज—शब्दार्थ की उदात्तता	समासाधिक्य	पदबन्ध की गाढ़ता
७. सुकुमारता—सुख से बोले जाने वाले पदों का योग	क्लिष्ट अक्षरों का अभाव	अपरूष शब्द
८. अर्थव्यक्ति—अर्थ का अविलम्ब बोध	अर्थ का सीधे-सीधे बोध	अर्थबोध की सुकरता
९. उदारता—उक्तियों का सुन्दर कथन	नायक का उत्कर्ष कथन	अग्राम्यता
१०. कान्ति—मनःश्रोत प्रसादी शब्द	लौकिक अर्थ	उज्ज्वलता

शब्दों के इन गुणों के अतिरिक्त आचार्य वामन ने दस अन्यगुणों की भी व्याख्या की है—

१. श्लेष—अर्थ की कुटिलता का अभाव
२. प्रसाद—अर्थ की विमलता
३. समता—अविषम बन्ध
४. माधुर्य—उक्ति वैचित्र्य
५. सुकुमारता—अपरुषता
६. अर्थव्यक्ति—वस्तु की स्फुटता
७. उदारता—पदों की नृत्य-सी प्रतीति
८. ओज—प्रौढ़ियुक्त अर्थ विधान
९. कान्ति—रस दीप्ति
१०. समाधि—वक्तव्य अर्थ का दर्शन

आचार्य भामह गुणों की संख्या तीन ही मानते हैं—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। उन्होंने शेष गुणों के विषय में कोई संकेत नहीं दिया है। परवर्ती

परम्परा में १० गुणों के स्थान पर उक्त तीन गुणों को स्वीकार करने का क्रम चलता रहा। ध्वनिवादियों में आचार्य मम्मट ने दस गुणों का तीन गुणों में समाहार करने के सिद्धान्त को स्वीकार करके उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

ओज श्लेष, ओज, उदारता, समाधि
प्रसाद प्रसाद अर्थव्यक्ति
माधुर्य माधुर्य, सुकुमारता, कान्ति

उन्होंने यह भी बताया कि 'समता' नामक काव्य गुण इन तीनों में यथासमय सन्निविष्ट हो जाता है। आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवित' के अन्तर्गत गुणों को दो भागों में विभक्त किया है—

१—अनिवार्य गुण
२—सामान्य गुण

अनिवार्य गुण के दो भेद हैं—औचित्य और सौभाग्य तथा सामान्य गुण के चार भेद—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य। आचार्य कुन्तक का गुण-निरूपण परम्परा से भिन्न दिखाई पड़ता है। अग्निपुराण का गुण विवेचन भी परम्परा से भिन्न कोटि का प्रतीत होता है। उन्होंने इसे दो भागों में विभक्त किया है, प्रथम, सामान्य गुण एवं द्वितीय विशेष गुण। ये विशेष गुण किसी भी रचना में रचनाकार की व्यक्तिगत मौलिकता के रूप में विशिष्ट बनकर उभरते हैं। सामान्य गुण प्रायः काव्यों में सर्वत्र दर्शनीय होते हैं। उनके अनुसार इनके तीन भेद हैं—

१. शब्द गुण
२. अर्थ गुण
३, शब्दार्थ गुण

शब्द गुण के अन्तर्गत लालित्य, गांभीर्य, सुकुमारता, उदारता, सत्य आदि आते हैं।

अर्थ गुण के अन्तर्गत माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि साम-यिकत्व हैं।

शब्दार्थ गुण—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्ति, पाक एवं राग इसके अन्तर्गत हैं।

आचार्य भोज का भी विवेचन इसी पर आधारित है।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में कहीं दस गुणों की स्वीकृति मिलती है, कहीं तीन की। आचार्य मम्मट और कविराज विश्वनाथ का अनुसरण करने के

कारण तीन गुणों को ही स्वीकार करने की परिपाटी दिखाई पड़ती है। आचार्य चिन्तामणि ने 'कवि कल्पद्रुम' के अंतर्गत १० गुणों को स्वीकार किया है किन्तु यह भी माना है कि माधुर्य काव्य का प्राण है। आचार्य कुलपति ने इसे रचना के मूलाधार के रूप में स्वीकृति देते हुए ओज, प्रसाद, माधुर्य को रीति माना है। आचार्य देव ने काव्य रसायन में १२ गुणों की कल्पना की है। परम्परागत दस गुणों के साथ यमक तथा अनुप्रास को गुण के रूप में कल्पित किया गया है। आचार्य भिखारीदास काव्य में १० गुण को ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इन दस गुणों को अक्षर गुण, दोषाभाव रूप गुण एवं वाक्य गुण के रूप में विभक्त किया जा सकता है। रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र आदि आधुनिक आचार्य तीन गुणों को ही स्वीकृति प्रदान करते हैं।

रीति सम्प्रदाय (सिद्धान्त)

रीति सिद्धान्त या सम्प्रदाय का प्रारम्भ कबसे स्वीकार किया जाए, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। आचार्य भरत के नाट्य शास्त्र में 'वृत्ति' का उल्लेख प्रदेशाभिधान्य से सम्बन्धित मिलता है। 'रीति' का भी सम्बन्ध प्रदेशाभिधान्य से है। वैसे, जैसा कि राजशेखर ने संकेत किया है—'वृत्ति' तथा 'रीति' में आधेय-आधार का सम्बन्ध है। उन्होंने काव्यविद्यावधू रूपक के अन्तर्गत संकेत किया है—

"तत्र वेशविन्यास क्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यास क्रमः वृत्तिः, वचनविन्यास क्रमः रीतिः।"

आचार्य भरत ने 'रसोचित्' शब्द व्यवहार का नाम 'वृत्ति' रखा है। भारती, सात्वती, कौशिकी और आरभटी नामक वृत्तियाँ नाट्य को उपकृत करती हैं। आचार्य भरत प्रदेश के क्रम में पात्रों की भाषा एवं वैशिष्ट्य को निर्दिष्ट करते हैं—

मागधी। प्राच्या। अवन्तिजा। दाक्षिणात्या[1]

एक स्थल पर 'दाक्षिणात्या' की विशेषता बताते हुए कहते हैं—

तत्र दाक्षिणात्या भवेत् बहुगीतनृत्यवाद्या कैशिकी प्राया...

डॉ० पी० वी० कणे स्पष्ट रूप से इंगित करते हुए बतलाते हैं—

The काव्यप्रकाश Notes that vamana and other regard उपनाग-

---

१. चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
अवन्ती दाक्षिणात्या च पांचाली चाथ मागधी ॥

रिका, परुषा, and कोमला As three Ritis respectively called वैदर्भी, गौड़िया, पांचाली—(एतास्तिस्त्रोवृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी गौडी पांचालाख्या रीतयो मताः।")[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रदेशाभिधान्य के क्रम में विविध नाट्य तथा कथन शैलियों का विकास हो चुका था और प्रथम शती से लेकर छठीं शती तक काव्य-शैली के रूप में इन विशिष्टताओं को और भी स्पष्ट करने की चेष्टा की गई। बाणभट्ट का यह सुपरिचित श्लोक इस तथ्य को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त है—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उपमा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः॥

आचार्य 'वामन' सर्वप्रथम इसी 'प्रदेशाभिधान्यवाद' को आधार बनाकर मार्ग 'रीति' का विवेचन करते हैं—

काश्चित् मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रिया।

यही नहीं, आचार्य दण्डी संकेत करते हैं कि 'काव्यमार्ग' अनेक हैं, किन्तु विद्वानों ने स्पष्टता के लिए उनका वर्गीकरण कर रखा है। उनके अनुसार मार्ग निम्नलिखित हैं—

१—दस गुणों से युक्त वैदर्भी मार्ग
२—गौडीय

आचार्य वामन के विवेचन में भी प्रादेशिक एवं भौगोलिक वैशिष्ट्य की झलक मिलती है।

जब वे कहते हैं कि भाषा का 'मृदु एवं स्फुट' रूप गौडीय मार्ग में तथा मध्यम का वैदर्भी मार्ग में प्रयोग मिलता है, तो इसका यही अर्थ है कि रीति के साथ प्रादेशिकता का सम्बन्ध धीरे-धीरे लुप्त होने की प्रक्रिया में था :—

एष मृदुस्फुटौ गौडीयैः स्वीकृतौ।
मध्यमस्तु अविषय इति वैदर्भैः स्वीकृतः।

फिर भी, उनके कथनों में 'प्रादेशिकता' को सूचित करने वाले अनेक संकेत वर्तमान हैं—

इत्यनालोच्य वैषम्यर्थालंकारडम्बरौ।
अवेक्षमाणा ववृधे पौरस्त्या काव्यपद्धतिः॥

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर आचार्य वामन 'दाक्षिणात्य' शब्द का प्रयोग शैली से जोड़कर करते हैं जो वैदर्भी मार्ग का सूचक है।

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ३८३

इत्यादि बन्धपारुष्यं शैथिल्यं च नियच्छति ।
अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते ।

आचार्य 'भामह' इस मत की आलोचना करते हुए इन दो मार्गों का उल्लेख करते हैं—

अलंकारवदग्राम्यर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ॥

आचार्य 'वामन' रीति (मार्ग) से सम्बद्ध प्रादेशिकता के सन्दर्भ को उससे पृथक् करने का यथेष्ट प्रयास करते हैं। वे 'रीति' को काव्य की आत्मा मानते हुए उसे गौडीय, पांचाली, वैदर्भी इन तीन भागों में विभक्त करते हैं। वैदर्भी को 'रीति' की मूलात्मा के रूप में स्वीकार करते हुए उसे 'समासहीन' तथा 'समास-युक्त' वैदर्भी इन दो भागों में विभक्त किया है।

आचार्य रुद्रट ने रीति को 'चार भागों' में विभक्त किया है; गौडीय, वैदर्भी, पांचाली तथा लाटीय। इनके अनुसार रस का रीति से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। रीति रसाश्रित है, इसको ध्यान में रखकर इन्होंने निम्नलिखित क्रम निर्दिष्ट किया है—

१. वैदर्भी पांचाली—करुण, भयानक, अद्भुत, शृंगार
२. लाटीय, गौडीय—रौद्र एवं अन्य यथोचित रस

एक अन्य विवेचन में इन्होंने रीति को समासाश्रित भी बताया है—

१. वैदर्भी—समास-रहित
२. पांचाली—स्वल्प समास
३. लाटीय—मध्य समास
४. गौडीय—दीर्घ समास

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोकलोचन में रसानुकूल शब्द रचना को रीति की संज्ञा देते हुए बताया है कि 'वृत्तियाँ' ही रीति हैं—

१. उपनागरिका वृत्ति (असमस्त पद रचना) वैदर्भी रीति
२. परुषावृत्ति (दीर्घ समासयुक्त पद रचना) गौडीय रीति
३. कोमली वृत्ति (मध्यम समास युक्त रचना) पांचाली रीति

आचार्य अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक लोचन की व्याख्या करते हुए 'शब्द संघटना धर्म' को रीति से सम्बद्ध किया है—

१. दीप्ति—गौडीय रीति
२. लालित्य—वैदर्भी रीति
३. मध्यमा—पांचाली रीति

परवर्ती काल में आचार्य राजशेखर का रीति विवेचन अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है। वे अर्थ, समास एवं भाषा प्रवृत्ति से सम्बद्ध करके इनका विवेचन करते हैं—

१. गौडीय—समास, अनुप्रास, योगवृत्ति (अभिधा की परम्परा)
२. पांचाली—ईषद् समास, ईषद् अनुप्रास, उपचारवृत्ति (लक्षणा)
३. वैदर्भी—असमास, योगवृत्ति गर्भ (अभिधा)

आचार्य कुन्तक 'रीति' को कवि स्वभाव का वैशिष्ट्य बताते हैं। वे कहते हैं—

सम्प्रति तत्र ते मार्गाः कवि प्रस्थान हेतवः।
सुकुमारो-विचित्रस्य मध्यमश्चोभयात्मकः ॥

सुकुमार, विचित्र, मध्यम तथा उभयात्मक

आचार्य भोज वैदर्भी को कवि पन्थ के नाम से पुकारते हुए उसे रीति का पर्यायवाची बताते हैं :—

वैदर्भादि कृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः
रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते।

उनके अनुसार रीति के चार भेद हैं।

१. वैदर्भी—अति सुकुमारबन्ध, अनुपचारवृत्ति, समासहीनता
२. पांचाली—अनतिदीर्घ समास, अनतिस्फुटबन्ध, उपचार वृत्ति, पादानुप्रास
३. गौडीय—अनतिदीर्घ समास, परिस्फुटबन्ध, नअति उपचार वृत्ति, अनुप्रासात्मकता, योगरूढ़ि
४. लाटी—ईषद् समास, अनति सुकुमारबन्ध, लाटीयानुप्रासयुक्त, रूढ़ शब्द

इसके अतिरिक्त उन्होंने आवन्ती एवं मागधी रीतियों का उल्लेख एवं उनकी व्याख्या की है।

शिङ्गभूपाल ने रसार्णव के अन्तर्गत इसे तीन भागों में विभक्त किया है। वैदर्भी (कोमला), गौडीय (कठिना), पांचली (मिश्रा)। संस्कृत साहित्य में परवर्ती काल में वैदर्भी, गौडीय एवं पांचाली का ही वर्णन मिलता है।

हिन्दी रीतिकालीन साहित्य में 'रीति' शब्द का विस्तृत अर्थ ग्रहण किया गया। शास्त्रीय विधान, परम्परा, प्रणाली, काव्य के विविध अंगों का सैद्धांतिक निरूपण आदि सन्दर्भों में इस शब्द का प्रयोग किया गया—

अलंकार रचना—थोरे क्रम-क्रम ते कहो अलंकार की रीति (दूलह)

रस विवेचन—रस अरु नव तरंग में नव रस रीतिहिं देखि (बेनी प्रवीन)
ताहीं को रस कहत हैं रस ग्रंथनि की रीति (पद्माकर)

काव्य रचना—काव्य रीति कछु कहत हौं व्यंग्य अर्थ चित लाय (प्रताप-साहि)

मुक्तक काव्य—अरु कछु मुक्तक रीति लखि कहत एक उल्लास (दास)

छन्द—छन्द रीति समुझै नहीं, बिन पिंगल के ग्यान (सोमनाथ)

नायिका भेद—सो विश्रब्ध नवोढ़ा यों बरनत कवि रीति

कवि तथा काव्य—अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति। मिश्रबन्धुओं ने 'रीति' का अर्थ 'काव्य प्रणाली' ही ग्रहण किया है—

"इस प्रणाली के साथ रीति ग्रंथों का भी प्रचार बढ़ा और आचार्यता की वृद्धि हुई।"

"आचार्य लोग कविता की रीति सिखाते थे।"

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल 'रीति' शब्द का अर्थ रीति रचना में निहित प्रवृत्ति ही नहीं मानते अपितु रीतिबद्ध दृष्टिकोण के समर्थन में भी रीति दृष्टि स्वीकार करते हैं। काव्य रचना की पूर्व स्वीकृत प्रणाली ही इनके अनुसार रीति है।

"जिसने रीति काव्य की रचना की है, वही रीति कवि नहीं है, जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो, वह भी रीति कवि है।"

इस प्रकार, रीति शब्द आचार्य वामन से प्रारम्भ होकर हिन्दी साहित्य की व्याप्ति तक अनेक अर्थों का बोध कराता रहा है।

ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनि सम्प्रदाय का प्रवर्तन आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक लिख कर किया। 'ध्वन्यालोक' भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में एक अत्यधिक व्यवस्थित शास्त्र ग्रन्थ माना जाता है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन ने इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है कि यह काव्यशास्त्र का कोई नवीन सिद्धान्त नहीं है। पूर्व आचार्यों ने अनेक रूपों में इसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। आचार्य आनन्दवर्धन की ऐसी उक्तियों को अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है—

'काव्यस्यात्माध्वनिरितबुधैर्यः समम्नातपूर्व।'

अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है, जिसका कथन विद्वानजन पहले कर चुके हैं। यही नहीं, ध्वनि को परिभाषित करते हुए वह बताता है—

·········स ध्वनिरितिसूरिभिः[1] कथितः ।

'सूरिभिः' शब्द का अर्थ है—'श्रूयमाणाः' अपनी विद्या में श्रेष्ठ विद्वान-जन, व्याकरण वेत्ता-अर्थात्,

प्रथमे हि विद्वान्सः वैयाकरणाः । व्याकरणमूलत्वात् सर्व विद्यानाम् ।
आचार्य अभिनवगुप्त ने 'पूर्वसूरिभिः' शब्द का अर्थ काव्यतत्त्वार्थज्ञाता से लिया है ।

'ध्वनि' शब्द आनन्दवर्धन द्वारा पहली बार नहीं प्रयुक्त किया गया है । यह 'व्यंजकत्व' के अर्थ में है और आनन्दवर्धन ने अनेक स्थलों पर संकेत किया है कि इसे व्याकरणशास्त्र से ग्रहण किया गया है—

"परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्द ब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्य एव प्रवृत्तः एवं ध्वनि व्यवहारः ।"

"प्रथमे हि विद्वांसः वैयाकरणाः । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति । तथैव अन्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिः वाच्यवाचक-सम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यः व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरिति उक्तः ।"

ध्वनि सिद्धान्त का मूलाधार 'स्फोट' सिद्धान्त है । संस्कार एवं बोध से सम्बद्ध उच्चरित ध्वनि 'शब्द' है—

नादैराहित बीजायामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोवधार्यते ।

इस ध्वनि में 'नाद' एवं 'स्फोट' दोनों का संयोग है । ध्वनि व्यंजक है और स्फोट 'व्यंग्य' है । मूलतः यही स्फोट 'ध्वनि' सिद्धान्त का मूल आधार है । आनन्दवर्धन कहते हैं—

"व्यक्तशब्दानां तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धि निर्ग्राह्याः स्फोटाभिव्यंजकास्ते ध्वनि शब्देनोक्ताः"

मूलतः भर्तृहरि कृत वाक्यपदीय एवं अन्य ग्रंथों में निर्दिष्ट 'स्फोट सिद्धान्त' को ध्वनि के आधार के रूप में ग्रहण कर 'काव्यध्वनि' के मन्तव्य को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है । वैयाकरणों ने 'सामान्यध्वनि' को भी वायु की भाँति अनित्य, सनातन एवं सर्वव्याप्त स्वीकार किया है—

"सूक्ष्मो वायुरिव सर्वमूर्तीनामन्तर्बहिश्च ध्वनिरवस्थितः, स एव केश्चिद् आकाश इति पठ्यते ।"

---

१. अथवा कृत वाग्द्वारे वंशेऽस्मिन पूर्वसूरिभिः ।

'ध्वन्यालोक' के अन्तर्गत व्यंजना, व्यंग्य, व्यंजक, प्रतीयमान आदि शब्द भर्तृहरि कृत वाक्यपदीय के अन्तर्गत बराबर प्रयुक्त मिलते हैं।

शब्दशक्तियों के सन्दर्भ में अभिधा, लक्षणा (भक्ति) एवं व्यंजना के सम्बन्ध में मीमांसा तथा न्यायशास्त्र में बराबर चर्चा मिलती है। 'वस्तुध्वनि' का मूलाधार 'वाक्यपदीय' में निर्दिष्ट 'स्थूलध्वनि' है। अलंक्ष्यक्रम का सिद्धान्त भी कहीं-न-कहीं वाक्यपदीय में ही मिल जाता है। 'काव्य प्रौढ़ि' की चर्चा अलंकारवादी आचार्य पहले ही कर चुके हैं।

इन तथ्यों के होते हुए भी अपनी पूववर्ती प्राप्त सांकेतिक या स्पष्ट ध्वनि सम्बन्धी शब्दावलियों का संस्कार करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त का जो भी प्रासाद खड़ा किया वह निश्चित ही उनकी रचनात्मक प्रतिभा का साक्ष्य है।

इस सिद्धान्त को पुनः विश्लेषित करने का श्रेय आचार्य अभिनव गुप्त को है। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' नामक टीका लिखकर उठने वाले विवादों को समाप्त करते हुए निर्भ्रांत रूप से ध्वनि को प्रतिष्ठित किया। पुनश्च-आचार्य मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' के अन्तर्गत इस सिद्धान्त के वर्चस्व को प्रतिपादित किया।

हिन्दी में, भिखारीदास कृत काव्यनिर्णय, लाला भगवानदीन कृत व्यंग्यार्थ मंजूषा, प्रतापसाहि कृत व्यंग्यार्थ कौमुदी, भानु कृत काव्य प्रभाकर, डॉ॰ नगेन्द्र द्वारा सम्पादित ध्वन्यालोक की भूमिका, प्रो॰ रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत आनन्दवर्धन, डॉ॰ भोलाशंकर व्यास कृत ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त आदि ग्रन्थ हैं।

अलंकार सम्प्रदाय

प्रारम्भ में निर्देश किया जा चुका है कि अलंकार सम्प्रदाय शेष सम्प्रदायों से प्रायः प्राचीनतम है। यद्यपि कई आचार्य रस सम्प्रदाय को प्राचीनतम मानते हैं किन्तु स्फुट रूप से कई अलंकारों का उल्लेख प्राचीन साहित्यों में मिलता है। जैसा कि निर्दिष्ट किया जा चुका है, आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र के पश्चात् विष्णुधर्मोत्तर पुराण अलंकारों की सबसे प्रामाणिक सूची देता है। यही नहीं, भट्टिकाव्य, कालिदास साहित्य, अश्वघोष कृत बुद्धचरित के अध्ययन से अलंकारों के सचेष्टतापूर्वक प्रयोग किये जाने के साक्ष्य वर्तमान हैं। कालिदास ने रघुवंश के नवम् सर्ग में 'यमकबन्ध' का सर्गान्त-लेखन करके सामयिक काव्य-क्षेत्र में स्वीकृत अलंकार प्रयोग एवं प्रियता का उदाहरण प्रस्तुत किया है। 'अभिज्ञान-

शाकुन्तलम्' के अन्तर्गत उन्होंने व्यंजना से गुण तथा अलंकार की तुलना करते हुए गुण के महत्त्व को प्रतिपादित किया है—'किमिव हि मधुराणां मण्डनम्-नाकृतीनाम्'

आकृति के लावण्य के स्थान पर 'मधुर आकृति' की तुलना 'मण्डित आकृति' से करना 'अलंकार एवं गुण' की तुलना है। यही नहीं, समुद्रगुप्त के शिलालेखों, प्रशस्तियों, परवर्ती कवियों यथा वाणभट्ट, भारवि आदि के काव्य ग्रन्थों में कई अलंकारों के प्रयोग सन्दर्भ वर्तमान हैं। इनमें उपमा, श्लेष, आक्षेप, मालादीपक, यमक, अनुप्रास आदि उस युग विशेष में काव्य में व्यवहृत होने वाले अलंकारों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

काव्यशास्त्र की साम्प्रदायिक परम्परा के 'रूप में अलंकार सिद्धान्त' पर सम्भवतया सर्वाधिक विचार किया गया। इसकी क्रमबद्ध ऐतिहासिक रूपरेखा इस प्रकार निर्दिष्ट की जा सकती है—

१. **आचार्य मेधाविन् या मेधाविरुद्र**—इनके विषय में सर्वप्रथम आचार्य भामह ने काव्यालंकार के अन्तर्गत दो श्लोकों में निर्देश किया है। उपमा के सात दोष तथा यथासंख्य नामक नवीन अलंकार के अन्वेषक के रूप में इनके नाम की चर्चा यहाँ की गई है। परवर्ती काल में रुद्रट कृत काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने अनेक स्थलों पर मेधाविरुद्र के रूप में इनके नाम का उल्लेख किया है, किन्तु अभी तक इनके द्वारा अलंकारशास्त्र पर लिखित किसी भी ग्रन्थ की प्राप्ति नहीं हुई है।

विष्णुधर्मोत्तर प्राण—इसके अन्तर्गत १८ अलंकारों की तालिका दी गई है, —जिसका उल्लेख प्रारम्भ में किया जा चुका है। पुराणकार द्वारा निर्ष्टि 'उपन्यास' अलंकार सर्वथा नया है और परवर्ती काल में इसके नाम का उल्लेख नहीं मिलता। अलंकारों की संख्या के उत्तरोत्तर विकास में विष्णुधर्मोत्तर पूराण की यह-तालिका ऐतिहासिक महत्त्व की है।

भामह—अलंकारशास्त्रियों में कृति की उपलब्धि के आधार पर सम्प्रति आचार्य भामह को इस परम्परा में प्रथम स्थान दिया जाता है। भामह कृत काव्यालंकार उनकी अलंकारत्व के मूल में निहित 'वक्रतावादी' दृष्टि का प्रबल समर्थन करता है। इनका काव्यालंकार ६ अध्यायों में विभक्त है। इन्होंने निम्न-लिखित अलंकारों का विवेचन इस ग्रन्थ में किया है—अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वाभावोक्ति, प्रेयस, रसवत्, उर्ज-स्वि, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्य

योगिता, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक आशीः ।

वक्रतारूपक अतिशयोक्ति का उल्लेख करते हुए इन्होंने सूक्ष्म, हेतु एवं लेश नामक अलंकारों की ओर भी संकेत किया है ।

दण्डी—आचार्य दण्डी और भामह के पूर्वापर होने के विषय में विवाद है, इनका ग्रन्थ 'काव्यादर्श' स्वाभावोक्तिवादी मान्यता से युक्त अलंकारशास्त्र के व्यवस्थित चिन्तन को अनेक रूपों में स्पष्ट करता है । काव्यादर्श के तीन परिच्छेद हैं । इन्होंने निम्नलिखित अलंकारों का अपने इस ग्रन्थ में उल्लेख किया है—स्वाभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरयास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश, यथासंख्य, प्रेयस, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, स्लेष, विशेषोक्ति तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजोक्ति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशी, संकीर्ण, भाविक, यमक, चित्र ।

उद्भट—इन्होंने अलंकार विषय पर अलंकारसारसंग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की है । इनके द्वारा निर्दिष्ट अलंकारों की तालिका इस प्रकार है—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, जनुप्रास, लाटानुप्रास, रूपक, उपमा, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, आतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वाभावोक्ति, प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमेयोपमा, सहोक्ति, संकर, परिवृत्ति, अनन्वय, ससन्देह भाविक, काव्यलिंग, दृष्टान्त ।

वामन—वामन ने अलंकारों का विवेचन अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यालंकार सूत्र के अन्तर्गत किया है । उनके द्वारा निर्दिष्ट अलंकारों की तालिका इस प्रकार है—अनुप्रास, यमक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, वक्रोक्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, संदेह, विरोध, विभावना, अनन्वय, उपमेयोपमा, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शन, अर्थान्तरन्यास; व्यतिरेक, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता, आशी, सहोक्ति, समाहित, संसृष्टि, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव' ।

रुद्रट—प्रारम्भिक आलंकारियों में आचार्य रुद्रट का उल्लेख विशेष रूप से किया जाता है । इनका ग्रन्थ काव्यालंकार है । इन्होंने निम्नलिखित अलङ्कारों का विवेचन इस ग्रन्थ के अन्तर्गत किया है—सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारण-

माला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, एकावली उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्योक, दृष्टान्त, पूर्व, सहो, समुच्चय, साम्य, स्मरण।

विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु।

अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, विरोधाभास।

इन प्रारम्भिक आलंकारिकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप अलंकार विषयक धारण का विशेष रूप में प्रचार हुआ। अलंकार के इस बढ़ते हुए अस्तित्व को क्षीण करने का सचेष्ट प्रयास ध्वनिवादियों ने किया, फिर भी, अलंकार विवेचन की यह धारा अप्रतिहत भाव से अक्षुण्णरूपेण चलती रही।

भोज ने सरस्वती कंठाभरण के अन्तर्गत अलंकारों पर विधिवत् विचार किया है। उन्होंने सम्पूर्ण अलंकारों को अग्नि पुराण के प्रकाश में तीन भागों में विभक्त किया, शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार। इनके द्वारा निर्दिष्ट अलंकारों को तालिका इस प्रकार है—

शब्दालंकार—जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति भणिति गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोन्याय, प्रहेलिका, गूढ़, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनय।

अर्थालंकार—जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, संभव, अन्योन्य, निदर्शन, भेद, समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्त वचन, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव।

उभयालंकार—उपमा, रूपक, साम्य, संशयोक्ति, अपह्नुति, समाध्ययुक्ति, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतस्तुति, तुल्ययोगिता, उल्लेख, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेष, परिष्कृति, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशय, श्लेष, भाविक, संसृष्टि।

आचार्य मम्मट—आचार्य मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' के विवेचन को देखने से स्पष्ट होता है कि इनकी सहानुभूति ध्वनिमत की ओर है, फिर भी, इन्होंने 'अलंकार निरूपण' पर विस्तारपूर्वक चर्चा की है। इनके द्वारा वर्णित अलंकार इस प्रकार हैं—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, ससन्देह, रूपक, अपह्नुति श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुत प्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत दीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्था-

न्तरन्यास, विरोधाभास, स्वाभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति भाविक, काव्यलिंग, पर्यायोक्ति, उदात्त, समुच्चय, परिकर, अनुमान, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मृति, भ्रान्तिमान, प्रतीप, सामाय विशेष, तद्‌गुण, अतद्‌गुण, व्याघात, संसृश्टि, संकर।

रुय्यक (सन् ११३५ से ११५० ई०)—आचार्य राजानक रुय्यक ने अलंकार शास्त्र पर विशेष गम्भीरतापूर्वक विचार किया। उनका 'अलंकार सर्वस्व' एक प्रामाणिक अलंकार ग्रन्थ माना जाता है। उनके द्वारा निर्दिष्ट अलंकारों की तालिका इस प्रकार है—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तान, उल्लेख, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, मालादीपक सार, काव्यलिंग, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्‌गुण, अतद्‌गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भविक; रसबत्, प्रेयस, ऊर्जस्विन्, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, संसृटि, संकर।

वाग्भट्ट प्रथम (सन् ११२५-११४३ के आसपास)—वागभट्ट कृत वाग्भटालंकार अपने युग का एक महत्वपूर्ण अलंकार ग्रंथ है। इस पर लगभग आधी दर्जन टीकाएँ लिखी जा चुकी है। इनके अनुसार अलंकारों की सारणि इस प्रकार है—जाति, उपमा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान, आक्षेप, संशय, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपह्नुति, तुल्योगिता; उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, विभावना, दीपक, अतिशय, हेतु, पर्यायोक्ति, समाहित, परिवृत्ति, यथासंख्य, सहोक्ति, विषम, विरोध, अवसर, सार, श्लेष, समुच्चय, अप्रस्तुत प्रशंसा, एकावली, अनुमान, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर तथा संकर। इनके अतिरिक्त वाग्भट्ट ने चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास तथा यमक इन चार शब्दालङ्कारों का भी उल्लेख किया है।

हेमचन्द्र :—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' डा० पी० वी० कणे के अनुसार (सन् ११३९ से लेकर ११४३) के बीच लिखा गया। इन्होंने इसके पंचम तथा षष्ठ अध्यायों के अन्तर्गत अलंकारों का विवेचन किया है।

जयदेव :—अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत जयदेव कृत चन्द्रालोक का विशेष रूप से उल्लेख किया जाता है। एक ही श्लोक में लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत करने की शैली की दृष्टि यह ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध रहा है। इस ग्रंथ का रचना-काल सन् १२०० से १२५2 के बीच रहा है। इन्होंने १०० अलंकारों का वर्णन इस ग्रन्थ में किया है। तालिका इस प्रकार है—छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, लाटानुप्रास, स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश, यमक, चित्र, उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, रूपक, परिणाम, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, स्मृति, भ्रन्ति, सन्देह, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, अनुमान, अर्थापत्ति, काव्यलिंग, परिकर, परिकरांकुर, अतिशयोक्ति, प्रौढोक्ति, सम्भावना, प्रहर्षण, विषादन, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विरोधाभास, विभावना, विशेषक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, विशेष, व्याघात्, कारणमाला, एकावली, सार, यथासंख्य पर्याय, परिवृत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, उल्लास, तद्गुण, पूर्वरूप, अतद्गुण, अनुगुण, अवज्ञा, प्रश्नोत्तर, पिहित, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, भाविकच्छवि, उदात्त, अत्युक्ति तथा सात रसवत् अलंकार।

विद्याधर कृत एकावली परवर्ती आलंकारिकों द्वारा विशेष रूप से चर्चा का विषय रही है। एकावली पर मल्लिनाथ की अत्यधिक प्रसिद्ध टीका 'एकावली तरल' के नाम से मिलती है।

विद्यानाथ कृत प्रतापरुद्रयशोभूषण अलंकार शास्त्र की परम्परा से सम्बध हूँ। यह ग्रंथ सन् १३२५ के आस-पास लिखा गया।

वत्सलांछनः इनके ग्रंथ का नाम 'काव्य परोक्षा' है। यह सर्वांगनिरूपण परम्परा का ग्रंथ हैं। यह सन् १३२२ के आस-पास लिखा गया।

वाग्भट्ट द्वितोय कृत काव्यानुशासन यह ग्रंथ सर्वांगनिरूपण पद्धति का है, जिसके तृतीय तथा चतुथ अध्यायों में अलंकार का विवेचन मिलता है, इसमें ६८ अलंकारों का उल्लेख मिलता है।

भानुदत्त कृत अलंकार तिलक अलंकार परिपाटी का शास्त्रीय ग्रंथ है। इसकी रचना १५ शताब्दी में हुई थी।

विश्वनाथ कृत साहित्य दर्पण—यह काव्य शास्त्र के मानक ग्रंथों में सर्वांग विवेचन से सम्बन्धित है। इसके दसवें परिच्छेद में अलंकारों का विवेचन किया गया है।

केशव मिश्र कृत अलंकार शेखर कवि शिक्षा का ग्रन्थ है। इसका रचना-काल १७ वीं शती है।

कवि कर्णपूर कृत अलंकार कौस्तुभ १७ वीं शती की रचना है। यह सर्वांग विवेचन से सम्बन्धित है।

अप्पय दीक्षित कृत चित्रमीमांसा' तथा 'कुवलायानन्द' दोनों अलंकारशास्त्र के ऊपर स्वतन्त्र रूप से लिखे गये ग्रन्थ हैं। अप्पय दीक्षित अलंकार निरूपण की परम्परा के अन्तिम आचार्य माने जाते हैं। इनकी मान्यताओं में प्रौढ़ता वर्तमान है। इनका रचनाकाल १७ वीं शती है।

पण्डितराज जगन्नाथ संस्कृत काव्य शास्त्र के अन्तिम आचार्य माने जाते हैं। इनके द्वारा रचित 'रस गंगाधर' ग्रन्थ सर्वांग निरूपण शैली का है। यह ग्रंथ १७ वीं शती के मध्य में लिखा गया है। इन्होंने अप्पय दीक्षित कृत चित्रमीमासा की समीक्षा 'चित्रमीमांसाखण्डन' नामक ग्रन्थ में की है।

हिन्दी साहित्य के अलंकार विवेचक आचार्य

आचार्य	ग्रन्थ का नाम	समय
१. केशवदास	कविप्रिया	सं० १६५८
२. चिन्तामणि	कविकुलकल्पतरु	—
३. महाराज जसवंतसिंह	भाषा भूषण	सं० १६८३-१७३५
४. मतिराम	ललित ललाम (कुबलयानन्द)	सं० १७१६
	अलंकार पंचाशिका	१७४५
५. भूषण	शिवराजभूषण	सं० १६७०-१७७२
६. कुलपति	रस रहस्य	सं० १७२८
७. सोमनाथ	रस पीयूष निधि	सं० १६६४
८. श्रीपति	काव्य सरोज	सं० १७७७
९. पदुमनदास	काव्यमंजरी	सं० १७४१
१०. देव	शब्द रसायन	१७६०
११. गोप	रामचन्द्रभूषण, रामचन्द्राभरण	१७७३
१२. श्रीधर ओझा	भाषाभूषण	१७६७
१३. रसिक सुमति	अलंकार चन्द्रोदय	१७८५
१४. भूपति	कंठाभूषण	१७९१
१५. याकूब खाँ	रसभूषण	१७७५
१६. दलपति राय	अलंकार रत्नाकर	१७९८

१७. रघुनाथ	रसिक मोहन	१७९६
१८. गोविन्द कवि	कर्णाभरण	१७९७
१९. भिखारीदास	काव्यनिर्णय	१८०३
२०. दूलह	कवि कुल कंठाभरण	१८००-१८२५
२१. शम्भुनाथ मिश्र	अलंकार दीपक	१९वीं शती
२२. रसरूप	तुलसीभूषण	१८११
२३. बैरीसाल	भाषाभरण	१८२५
२४. रतनेस	अलंकार दर्पण	१८३०
२५. हरिनाथ	अलंकार दर्पण	१८१६
२६. रामसिंह	अलंकार दर्पण	१८४५
२७. सेवादास	रघुनाथालंकार (ह० नागरीप्रचारिणी)	१८४०
२८. चन्दन	काव्याभरण	१८४५
२९. बेनी बंदीजन	ठिकैत राजप्रकाश	१८४९
३०. जगतसिंह	साहित्य सुधा निधि	१८५८
३१. उमेदराय	वाणीभूषण	१८६१
३२. पद्माकर	पद्माकरण	१८६७
३३. ब्रह्मदत्त	दीपक प्रकास	१८६७
३४. रसिक गोविन्द	कर्णाभरण	१८९०
३५. करण भट्ट	अलंकार कला निधि	१८८४
३६. गिरिधरदास	भारतीभूषण	१८९०
३७. बलवानसिंह	चित्र चन्द्रिका	१८८९
३८. ग्वाल कवि	रसिकानन्द; अलंकार भ्रमभंजन	१९००
३९. ऋषिनाथ	अलंकार मणि मंजरी	आर्य यंत्रालय, वाराणसी
४०. सूरति मिश्र	काव्य सिद्धान्त; अलंकार मंजरी	
४१. रतनकवि	अलंकार दर्पण (हस्त०)	दतिया पुस्तकालय, दतिया
४२. रसिक सुमति	अलंकार चन्द्रोदय (हस्त०)	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

आधुनिक युग

१. कविराज मुरारिदान	जसवंत यशोभूषण	सं० १९५०
२. जगन्नाथप्रसाद भानु	काव्यप्रभाकर	सं० १९६६
३. भगवानदीन	अलंकार मंजूषा	सं० १९७३
४. अर्जुनदास केडिया	भारती भूषण	सं० १९८७
५. विहारीलाल भट्ट	साहित्य सागर	सं० १९९४
६. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार	अलंकार मंजरी	सं० २००२
७. रामशंकार शुक्ल 'रसाल'	अलंकार पीयूष, दो भाग	सं० १९८६
८. देवेन्द्रनाथ शर्मा	अलंकार मुक्तावली	सं० २००५
९. रामदहिन मिश्र	काव्य दर्पण	

१०. डॉ० ओम प्रकाश --हिन्दी अलंकार साहित्य
११. डॉ० सत्यदेव चौधरी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य
१२. डॉ० भोलाशंकार व्यास--भारतीय काव्यशास्त्र और काव्यालंकार
१३. डॉ० ब्रह्मा नन्द शर्मा—संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकार का विकास
१४. डॉ० नगेन्द्र—रीतिकाव्य की भूमिका
१५. डॉ० ओम प्रकाश—रीतिकालीन अलंकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' का एक मात्र ग्रन्थ 'वक्रोक्ति जीवितम्' आचार्य कुन्तक या कुन्तल द्वारा लिखा गया है। ध्वनिवादियों द्वारा अलंकार सिद्धान्त के महत्त्व को नकारे जाने के बाद अलंकार समर्थकों ने उसे प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। आचार्य कुन्तक कृत वक्रोक्ति जीवितम् इसी दिशा में किया गया प्रयास है।

काव्यशास्त्र के इतिहास लेखकों में यह विवाद है कि आचार्य कुन्तक आनन्दवर्धन के पूर्व हुए थे। किन्तु इस भ्रान्ति का विकास विद्याधर कृत एकावली तथा अलंकार सर्वस्व के टीकाकार जयरथ की टिप्पणियों से हुआ। आनन्दवर्धन द्वारा प्रयुक्त प्रथम श्लोक में 'भाक्तमाहुः' पर टिप्पणी देते हुए—कहा गया है।

एतेन अत्र कुन्तकेन भक्तावन्तर्भावितो ध्वनिस्तदपि प्रत्याख्यातम्

(एकावली)

इदानीं यद्प्यन्यैरस्य भक्त्यन्तर्भूतत्वयुक्तं तदपि दर्शयितुमाह वक्रोक्तीत्यादि।

आचार्य पी० वी० कणे का मत है कि आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक के बाद ही कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवितम्' की रचना की। वक्रोक्तिकार ने ध्वन्यालोक के

प्रथम श्लोक 'स्वेच्छाकेसरिणः—नखाः' की क्रियावैचित्र्य के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में प्रशंसा की है।

वस्तुतः ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो जाने के बाद उसे समसामयिक दो आचार्यों का कड़ा विरोध सहन करना पड़ा था। प्रथम भट्टनायक ने 'हृदय दर्पण' के माध्यम से 'ध्वनि निरपेक्ष' स्वयंसंवेद्य रस की व्याख्या की। दूसरी व्याख्या आचार्य कुन्तक की थी। इन्होंने 'शब्द शक्तियों' के प्रपंच को अस्वीकार करने का प्रयास करते हुए—'वैदग्धभंगी भणिति रूप' वक्रोक्ति को प्रतिष्ठित किया। वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग वस्तुतः आचार्य कुन्तक के पूर्व का है। आचार्य भामह ने सर्वप्रथम अलंकारत्व के मूलहेतु के निर्धारण की चर्चा करते हुए, वक्रोक्ति के सम्बन्ध में बताया कि—'वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिः अलंकाराय कल्पते' यही नहीं, इस वक्रार्थ रूप वक्रोक्ति की उन्होंने अनेकशः चर्चा की है—

> हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।
> समुदायाभिधानस्य　　वक्रोक्त्यभिधानतः॥
> सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।

दण्डी भी काव्यादर्श के अन्तर्गत वक्रोक्ति की चर्चा करते हैं—

> श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
> भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥

अलंकार के रूप में सर्वप्रथम बार इसे वामन मान्यता देते हैं। वे वक्रोक्ति अलंकार को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

> सादृश्यलक्षणा वक्रोक्तिः

आगे चलकर, आचार्य रुद्रट ने वक्रोक्ति को 'शब्दालंकार' के अन्तर्गत रखकर इसे काकु वक्रोक्ति और श्लेष वक्रोक्ति जैसे दो भागों में विभक्त किया।

आचार्य आनन्दवर्धन ने अभाववादियों के मत का उल्लेख करते हुए मनोरथ नामक कवि के एक श्लोक का उद्धरण किया है—जिसमें वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग मिलता है—

> 'व्युत्पन्नं रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्ति शून्यं च यत्'

काव्य में इनके अनुसार वक्रोक्ति भंगिमा' आवश्यक है।

संस्कृत काव्यों में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रयोग से भी प्राचीन है। वाणभट्ट कृत कादम्बरी में 'वक्रोक्ति निपुणेव-विलास जनेन' शब्द का प्रयोग है। अमरुक शतक में 'वक्रोक्ति' शब्द का उल्लेख विलास क्रीडा के समय प्रयुक्त कटाक्षयुक्त वाणी के अर्थ में मिलता है—

सा पत्युः प्रथमेऽपराध समये सख्योपदेशं विना।
नो जानाति सविभ्रमाङ्गललना वक्रोक्ति संसूचनम् ॥

वक्रोक्ति को परिभाषित करते हुए आचार्य कुन्तक ने बताया है कि—

'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गो भणितिरुच्यते'

वक्रोक्ति शब्द की भाँति वैदग्ध्यभङ्गी शब्द आचार्य कुन्तक के पूर्व का बताया जाता है। 'विदग्ध' शब्द का प्रयोग कालिदास भवभूति आदि के साहित्यों में प्रारम्भ से ही देखा जा सकता है। 'विदग्ध' का प्रयोग व्युत्पन्नता एवं विद्याभ्यास से सिद्ध प्रतिभावान् व्यक्ति के अर्थ में किया जाता रहा है। 'भङ्गो' का प्रयोग कादम्बरी, ध्वन्यालोक आदि में अनेक स्थानों पर बताया जाता है—

यही नहीं, भणिति शब्द का प्रयोग नितान्त प्राचीन है। ध्वन्यालोक के अन्तर्गत निर्दिष्ट है—'भणितिकृतं वैचित्र्यमात्रं' यही नहीं दण्डी, वामन भी भणिति शब्द का प्रयोग काव्य के अर्थ में करते हैं—

इस प्रकार वक्रोक्ति एवं उसकी परिभाषा में प्रचलित शब्दों का प्रयोग आचार्य कुन्तक के पूर्व था। इसके बावजूद भी, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आचार्य कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त केवल ऊपर निर्दिष्ट शब्दों तक ही सीमित है। आचार्य ने अपनी मौलिक प्रतिभा के उन्मेष से ध्वनि सिद्धान्त के अकाट्य तर्कों का खण्डन करते हुए 'वक्रोक्ति जीवितम्' नामक ग्रन्थ के माध्यम से जिन काव्य सिद्धान्तों को प्रतिठित किया गया है, वे निश्चित ही सैद्धान्तिक दृष्टि से ग्राह्य हैं। आनन्दवर्धन के ध्वनि-विवेचन का आधार व्याकरणशास्त्र में निर्दिष्ट बैखरी बाणी को व्यक्त करने वाला स्फोट सिद्धान्त था—इस सिद्धान्त के माध्यम से वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के भेद की स्थिति को सूक्ष्मता से पकड़ कर व्यागार्थ को ही काव्य की आत्मा सिद्ध करने की चेष्टा की। इस चेष्टा में मौलिकता इतनी ही थी, कि प्रतीयमान रूप व्यंग्यार्थ का चारुत्व पूर्णरूपेण प्रकाश में आकर विवेचन एवं चर्चा का विषय बने। किन्तु, काव्य मात्र चारुत्व या प्रतीयमान का ही पर्याय नहीं है। भारतीय साहित्य में काव्य के अन्तश्चमत्कार की भाषिक सर्जना के अनेक सोपानों की चर्चा की गई है। आनन्दवर्धन जिसे वाच्यार्थ की संज्ञा देते हैं, उसी स्तर पर "रचना केवल रचनात्मक कौतुक के प्रदर्शन के निमित्त' सिद्धान्त को आधार बनाकर रीति, गुण, पाक, अलंकार आदि की कल्पना की गई। काव्य के बोध एवं उसकी शिल्पशक्ति का आधार उसकी भाषा है। अर्थ बोध के लिए काव्यभाषा की रचना की जाती है और जब रचना की जाती है तो उसका उद्देश्य उसी सौन्दर्य की सृष्टि है। काव्य की भाषिक शोभा एवं उसके माध्यम से रची गयी अलङ्कार रचना या अलंकृति और उस अलं-

कृति का आधेय विषय अर्थात् अलंकार्य ये दो महत्वपूर्ण विषय हो जाते हैं। अलंकृति एवं अलंकार्य की व्याख्या वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ से हटकर करना यह कुन्तक के सिद्धान्त की अपनी मौलिक विशेषता है। यही उनके अनुसार वक्रोक्ति सिद्धान्त का आधार भी है।

आचार्य कुन्तक कृत वक्रोक्ति जीवित चार उन्मेषों में विभक्त है। प्रथम उन्मेष के अन्तर्गत वह वक्रोक्ति को परिभाषित करता हुआ उसके स्वरूप, प्रकृति वैचित्र्य एवं भेदों का उल्लेख करता है। वह इसी के अन्तर्गत कविमार्ग (गुण) की भी चर्चा करता है। द्वितीय उन्मेष के अन्तर्गत वर्ण विन्यास पद पूर्वार्ध, पर्याय, उपचार, विशेषण, संवृत्ति, वृत्तिवैत्र्यि, भाववैचित्र्य, लिंगवैचित्र्य, क्रिया, काल, संख्या, पुरुष, उपग्रह आदि वक्रताओं की परिभाषाओं और उदाहरणों का परिचय देता है। तृतीय उन्मेष के अन्तर्गत वस्तु वक्रता का वर्णन करता हुआ अनेकानेक अलंकारों के औचित्य को भी परखता है। वह चतुर्थ उन्मेष के अन्तर्गत प्रकरण एवं प्रबन्ध वक्रता की विस्तार पूर्वक चर्चा करता है।

रस सम्प्रदाय

रस सिद्धान्त के विवेचन में संस्कृत काव्यशास्त्र के परवर्ती कालखण्ड में साम्प्रदायिक दृष्टि अवश्य दिखाई पड़ती है, विशेष रूप से कविराज विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि रस का विवेचन तथा महत्वनिरूपण जिस आग्रह से करते हैं, उसमें उनकी इस सिद्धान्त के प्रति मोहाविष्ट दृष्टि अवश्य है, किन्तु रस सिद्धान्त का प्रारम्भिक इतिहास विशिष्ट सम्प्रदाय के रूप में उभरता नहीं दिखाई पड़ता। आचार्य भरत नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत, रीतिकार-वामन रीति-विवेचन के अन्तर्गत, आचार्य रुद्रट अलङ्कार, ध्वनिकार ध्वनि विवेचन तथा वक्रोक्तिकार वक्रोक्ति विवेचन के अन्तर्गत इसके महत्व और आवश्यकता को अपरिहार्य रूप से स्वीकार करते हैं। आचार्य दण्डी रसवत् अलङ्कार के अंतर्गत इसकी समग्रता की ओर संकेत करते हैं। संक्षेप में, रस सिद्धान्त सम्बन्धी ऐतिहासिक सामग्री का विवेचन निम्नलिखित क्रम में रखकर विचार कर सकते हैं—

१. विभिन्न सम्प्रदायों के अन्तर्गत चर्चित रस सामग्री

२. रस सिद्धान्त के स्वतन्त्र विवेचक ग्रंथ

१. जैसा कि कहा जा चुका है, संस्कृत काव्यशास्त्र के सभी संप्रदाय रस-सिद्धान्त की वास्तविक सत्ता को प्रकारान्तर से स्वीकार करते हैं।

अलङ्कारवादी आचार्यों में भामह, उद्भट, रुद्रट आदि विशेष रूप से प्रख्यात हैं। इन्होंने किसी-न-किसी रूप में 'रस-सिद्धान्त' की ओर संकेत किया है। आचार्य भामह ने महाकाव्यलक्षण का निर्देश करते हुए रस को अपरिहार्य तत्त्व की ओर संकेत किया है—

युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।

उन्होंने आचार्य दण्डी आदि की परम्परा में स्वीकृत रसवत्, प्रेयस, ऊजस्विन का वर्णन किया है। उद्भट ने काव्यालंकारसारसंग्रह ग्रंथ के अन्तर्गत रसवत् आदि भावमूलक अलङ्कारों का अत्यधिक विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होंने प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वित् तथा समाहित का वर्णन करते हुए रसवत् के अन्तर्गत नाट्य के अन्तर्गत स्वीकृत नव रसों की चर्चा की है—

श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नवनाट्ये रसास्मृताः॥

अलङ्कारवादी आचार्य रुद्रट रस-मान्यताओं के प्रति उदार थे। उन्होंने रस को रसवत् आदि अलङ्कारों की कक्षा से मुक्त करते हुए उनके स्वतन्त्र अस्तित्व तथा महत्व को निष्पक्ष भाव से घोषित किया है—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवर्गमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि यस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥
तस्मात् तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्॥

गुणवादी आचार्य दण्डी की मान्यताएँ रस सिद्धान्त की समीपवर्तिनी स्थित हैं। उन्होंने रसवत् अलङ्कार का वर्णन करते हुए काव्य के आठ रसों की चर्चा की है। उन्होंने बताया है—

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवत् रसपेशलम्।
ऊजस्विरूढाहङ्कारं युक्तोत्कर्ष च तत्त्रयम्॥

इसके बाद क्रमशः श्रृंगार के संयोग, रौद्र, युद्धवीर, करुण (करुणात्मक विप्रलम्भ) तथा अन्त में अलङ्कारों की ओर संकेत करते हैं—

इति कारुण्यमुद्रिक्तमलङ्कारतया स्मृतम्।
तथा परेऽपि वीभत्सहास्यादभुत भयानकाः॥

अन्त में, निष्कर्ष निकालते हुए बताते हैं—

वाक्यस्याग्राम्यतायोनिर्माधुर्ये दर्शितो रसः।
इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्॥

गुण विकास के लिए 'रस-संयोग' दण्डी के अनुसार अपरिहार्य है।

रीतिवादी आचार्य वामन ने रस सत्ता को प्रकारान्तर से स्वीकार किया

है। वैदर्भी रीति, पाक तथा कान्ति के सम्बन्ध में रस-सिद्धान्त का उनमें आवेश देखा जा सकता है। कान्ति अर्थगुण की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

रीप्ति रसत्वं कान्तिः

दीप्ता रसा श्रृंगारदयो यस्य स दीप्त रसः। तस्य भावो दीप्ति रसत्वं कान्ति :

ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि के रूप में रस को ही प्रच्छन्नतः स्थापित करते हैं। इन्होंने रस सिद्धान्त एवं उसके महत्त्व को निभ्रान्त शब्दों में प्रतिष्ठित करते हुए अविवक्षित वाच्यध्वनि के अन्तर्गत असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के दो रूपों में रस की व्याख्या की। वह जहाँ अनेक रूप-क्रम में व्यक्त होता है—यथा रस, भाव आदि और द्वितीय वे सन्दर्भ जहाँ वह अभिव्यक्ति पाता है—पद में लेकर प्रबन्ध तक। यही नहीं, प्रथम बार आनन्दवर्धन ने यह भी सिद्ध किया कि गुण, रीति तथा अलङ्कार ये सभी मिलकर रस को दीप्त भी करते हैं। वे वाचक रूप में व्यंग्यरस को प्रकाशित करने में अपने अस्तित्व का भी समर्पण करते हैं। ध्वनि सिद्धान्त के विवेचक आचार्य अभिनवगुप्त ने तो यहाँ तक बताया कि कांव्य की आत्म ध्वनि है तो ध्वनि की आत्मा रस है। आचार्य मम्मट ने रसास्वादन से उद्‌भूत आनन्द का आस्वाद ही काव्य का अन्तिम प्रयोजन स्वीकार किया है।

सकलप्रयोजन मौलिकभूतं समन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।

वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक भी रस सिद्धान्त एवं उसके प्रभाव का स्पष्ट रूप से समर्थन करते हैं। वक्रोक्तिजीवित के अन्तर्गत एक स्थल पर वे काव्यरस के आनन्द को धर्मार्थकाममोक्ष के आनन्द से अधिक लोकोत्तर मानते हैं—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारों वितन्यते॥

आचार्य कुन्तक काव्यमार्ग का विवेचन करते हुए बार-बार रस की ओर संकेत करते हैं। डॉ० नगेन्द्र का मत है कि ध्वनिवादियों ने जो महत्त्व रस को दिया है, वैसा ही महत्त्व उसे आचार्य कुन्तक ने भी दिया है।

कुन्तक के अनुसार काव्य वक्रोक्ति अर्थात् कला है। इस कला की रचना के लिए कवि शब्द अर्थ की अनेक विभूतियों का उपयोग करता है—अर्थ की विभूतियों में सबसे अधिक मूल्यवान है रस। अतएव रस वक्रोक्तिरूपिणी काव्यकला का परमतत्व है।"[1] डॉ० वी० राघवन ने श्रृंगार प्रकाश में रुद्रट कृत

१. रससिद्धांत, डॉ नगेन्द्र, पृष्ठ ५१

'रस कलिका' नामक ग्रन्थ का उल्लेख भी किया है।

नाट्य शास्त्र तथा रस सिद्धान्त—नाट्य के अन्तर्गत रस तत्त्व को अनिवार्यता के रूप में ग्रहण किया गया है। आचार्य भरत ने नाट्ययशास्त्र के छठें तथा सातवें अध्याय में रस विषयक समग्र सामग्रियों का संकलन करते हुए उसके महत्त्व का निरूपण इन शब्दों में किया—

सत्त्व प्रयोजितो ह्यर्थो प्रयोगोऽत्र विराजते,
येत्वेते सात्विका भावा नानाभिनयं संश्रिताः
रसेष्वेतेषु सर्वे ते ज्ञेया नाट्य प्रयोक्तृभिः।
नाना भावार्थ सम्पन्नाः स्थायी सत्त्वाभिचारिणः।
पुष्पावकीर्णा कर्तव्याः काव्येषु हि रसा बुधैः॥

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्टतौत के मत का उल्लेख करते हुए नाट्य एवं रस की अभिन्नता का प्रबल शब्दों में समर्थन किया है—

नाट्य समुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः, रस समुदायो हि नाट्यम् नाट्य एव च रसा, काव्येऽपि नाट्यमान एव रसः।

नाट्य परम्परा की दूसरी कृति धनञ्जय कृत दशरूपक हैं। इन्होंने सांकेतिक ढंग से रूपकों की रचना के संदर्भ में रसविधान की चर्चा की है। वे एक स्थल पर कहते हैं—

'न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्य व्यञ्जक भावः किं तर्हि भाव्यभावक सम्बन्धः।

इसी प्रकार नाट्य परम्परा के अन्तर्गत रामचन्द्र गुणचन्द्र कृत (१२वीं) शती नाट्यदर्पण भी उल्लेखनीय है। इन्होंने तृतीय विवेक के अंतर्गत नाट्य में प्रयुक्त होने वाले रस का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। प्रथम विवेक की प्रस्तावना में लक्षणकार ने रस तथा 'रस कल्लोल संकुल' नाटक की प्रशंसा की है—

अलङ्कार मृदुः पन्थाः कथादीनां सुसंचरः
दुःसंचरस्तु नाट्यस्य रस कल्लोल संकुलः।
स कविस्तस्य काव्येन मर्त्या अपि सुधांधसः।
रसोर्मिघूर्णिता नाट्ये यस्य नृत्यति भारती।

शारदातनय कृत 'भाव प्रकाशन' (१३ वीं शती) में रस के सम्बन्ध में अत्यधिक आत्मीयतापूर्वक विचार किया गया है।

रस सिद्धांत के शास्त्रीय ग्रंथ—भरत के रस सूत्र के व्याख्याकारों को या तो नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों या रसशास्त्रीय ग्रंथों के रचनाकारों की सरणि में रखा जाता है। भट्ट लोल्लट एवं शंकुक के ग्रंथों के विषय में कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, केवल भट्नायक कृत 'हृदय दर्पण' या 'सहृदयदर्पण' का उल्लेख प्राप्त है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ध्वनि सिद्धान्त के शैवाल में उलझे हुए रस-सिद्धांत को बाहर निकालकर उसे अपने स्वतन्त्ररूप में प्रतिष्ठित करने का कार्य इस ग्रंथ के माध्यम से भट्टनायक ने किया। इस सन्दर्भ में भट्टलोल्लट तथा शंकुक के विषय में भी अनुमान है कि उन्होंने अपने किसी रसशास्त्रीय ग्रंथ के अन्तर्गत ही मुनि-सूत्र की व्याख्या की थी। आचार्य लोल्लट का समय पी० वी० कणे ने ८०० शती स्वीकार किया है। आचार्य शंकुक का समय भट्टनायक एवं भट्ट लोल्लट के बीच का है। मुनिसूत्र के तीसरे व्याख्याता आचार्य भट्टनायक का समय १०वीं शती माना जाता है। आचार्य भट्टनायक के आसपास ही अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने 'काव्य कौतुक' नामक ग्रंथ की रचना की थी। अभिनवगुप्त ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से टिप्पणी की है कि उनके गुरु ने इस काव्य कौतुक के अन्तर्गत रस का विवेचन कई श्लोकों में किया है—

'यत्तूपाध्यायैः काव्यकौतुके रसोद्देशपरे श्लोके निरूपितं'

× × ×

काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदयो रसोदय इत्युपाध्यायः।

आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा स्वीकृत 'शान्त रस' की अखण्डता तथा सर्वाङ्गि-भूतता का निर्वचन सर्वप्रथम आचार्य भट्टतौत ने ही किया था।

सामान्यतया ज्ञात रूप में भोजराज कृत श्रृंगार प्रकाश (११वीं शती) रस विषयक प्रथम ग्रंथ है जिसमें काव्य के शेष तत्वों के विवेचन के साथ-साथ यह भी मिल है। भोज द्वारा शृंगार रस को सम्पूर्ण रसों का अंगिन् स्वीकार करना तथा नाट्य के सापेक्ष्य में नायक-नायिका भेदादि को उससे सम्बद्ध करना, उसकी अपनी उपलब्धि है। यद्यपि भोज की मान्यताएँ अग्नि पुराण के मत के समीप हैं, फिर भी भोज के विवेचन को मौलिक माना जाता है। कविराज विश्वनाथ कृत साहित्य दर्पण (१७वीं शती) रस विवेचन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इनकी काव्यविषयक परिभाषा तथा रस विवेचन से सम्बन्धित अंशों को देखकर यह ज्ञात होता है कि इनकी रस सिद्धान्त में पूर्ण अस्था थी, तथा उसे ये काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार करते थे। इन्होंने किसी नारायण नामक आचार्य के मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार चमत्कार अङ्गिन्-रस है।

इस परम्परा में भानुदत्त कृत रसतरंगिणी तथा रस मञ्जरी (१५वीं शती) का उल्लेख किया जाता है। इन ग्रंथों के अन्तर्गत इन्होंने रस से सम्बन्धित रस-रत्नदीपिक (अल्लराज) एवं शृंगार तिलक का भी उल्लेख किया है। शिङ्भूपाल कृत रसार्णव भी स्वतन्त्र रूप से रस विवेचन की इसी परम्परा से सम्बद्ध है।

उन्होंने इस ग्रन्थ की उद्भावना की ओर संकेत करते हुए बताया है कि शुष्क विषयों के विवेचन करने वाले शास्त्ररूपी वन से थकी हुई सरस्वती को शीतलता देने वाली यह रसयुक्त 'रसतरंगिणी' है—

भारत्या शास्त्रकान्तार श्रान्तया: शैत्यकारिणी।
क्रियते भानुना भूरिरसा रसतरंगिणी॥

अल्लराज कृत 'रसरत्नदीपिका' भानुदत्त की ही परम्परा का रस विषयक ग्रन्थ है और भानुदत्त के द्वारा उल्लिखित होने पर यह रसतरंगिणी के पूर्व का सिद्ध होता है। इसी प्रकार भानुदत्त के रस विषयक परवर्ती ग्रन्थों में शिङ्भूपाल कृत रसार्णव का उल्लेख किया जा सकता है। इन संम्पूर्ण ग्रंथों की विशेषता यह दिखाई पड़ती है कि सभी-के-सभी रस को ब्रह्म विषयक अखण्डानुभूति से जोड़ते हैं।

सर्वाङ्गनिरूपक आचार्यों में पण्डितराज जगन्नाथ ने विस्तारपूर्वक 'रसगङ्गाधर' के अन्तर्गत रस का विवेचन किया है। उनका यह विवेचन अनेक अर्थों में मौलिक प्रतीत होता है। विशेषरूप से रसनिष्पत्ति एवं साधारणीकरण के सम्बन्ध में किया गया उनका विचार परम्परा से भिन्न प्रकार का है।

संस्कृत वाङ्मय के अन्तिम दिनों में वैष्णव भक्ति के व्यापक प्रचार, प्रसार तथा भिन्नता के कारण परम्परागत रस सिद्धान्त से उसकी व्याख्या सम्भव नहीं थी। सामान्यतया काव्यरस के विषय लोक एवं लोकात्मक चेतना के अन्तर्गत मानवीय वासनाओं से जुड़े भाव-समूह हैं किन्तु भक्ति काव्य में लोकात्मक भाव को साधन के रूप में स्वीकार किया है। संस्कृत साहित्य में लोकात्मक भाव रस के लिए साधन और साध्य दोनों हैं, किन्तु भक्ति काव्य में लोकात्मक भाव आध्यात्मिक आनन्दानुभूति तक पहुँचने के लिए साधन या माध्यम का कार्य करता है। 'लीला' इन दोनों के बीच में आकर लोक भाव को आध्यात्मिक रस की प्रतीति कराने में माध्यम का कार्य करती है, इसलिए भक्त आचार्यों ने परम्परा से चले आते हुए रस सिद्धान्त से भिन्न हटकर भक्तिरस की कल्पना की। हिन्दी काव्यशास्त्र के अन्तर्गत इस दृष्टिकोण को विस्तारपूर्वक स्पष्ट करने की चेष्टा की जाएगी किन्तु यहाँ उन भक्ति रस विषयक ग्रंथों का उल्लेख मात्र पर्याप्त होगा ताकि उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि स्पष्ट हो सके।

भक्तिरस की परम्परा का सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ श्रीधर कृत 'रसचन्द्रिका' है जिसकी ओर रूपगोस्वामी ने श्रीहरिभक्तिरसामृत सिन्धु के अन्तर्गत संकेत किया है। अन्य तालिकाओं में सम्प्रति इसकी कोई सूचना नहीं मिलती। रूप-गोस्वामी कृत 'श्रीहरिभक्तरसामृतसिन्धु' एवं 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ भक्तिरस की सामग्री को प्रथमबार व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करते हैं। कवि कर्णपूर गोस्वामी ने भी अलङ्कार कौस्तुभ के अंतर्गत विशेषविस्तारपूर्वक भक्तिरस पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। मधुसूदन सरस्वतती ने भिन्न रूप से भक्तिरस के स्वरूप और उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन 'भक्तिरसायन' शीर्षक ग्रन्थ में किया है। उसकी १७वीं शती से लेकर १८वीं शती तक विकसित वैष्णव भक्ति से सम्बन्धित प्रायः सभी सम्प्रदायों ने इस्ततः चर्चा की है। इनका दृष्टिकोण शास्त्रीय परम्परा के विवेचन से मूलतः भिन्न रहा है।

हिन्दी साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि लोकात्मक चेतना के ठीक समानान्तर शास्त्रीय चेतना का विकास क्रम एक सुनियोजित प्रवाह के रूप में गतिशील है।

हिन्दी भक्तिकाल में भी शास्त्रीय चेतना से प्रेरित रस सिद्धांत विषयक निम्न-लिखित ग्रंथ लिखे गये—

१. कृपाराम—हिततरंगिणी
२. सूरदास—साहित्यलहरी (नायिका भेद)
३. नन्ददास—रसमञ्जरी
४. केशवदास—रसिक प्रिया
५. कविराज सुन्दर—सुन्दर श्रृंगार (शाहजहाँ के दरबारी कवि)

रस सिद्धांत पर ग्रंथ प्रणयन का प्रवाहमान क्रम १७वीं शती से आज तक देखा जा सकता है। हिन्दी के शास्त्रनिष्ठा में विश्वास रखने वाले आचार्यों ने श्रृंगार रस एवं नायक-नायिका भेद को विशेष आस्था के साथ ग्रहण किया। २०वीं शती तक निरन्तर प्रवाहित शास्त्रीय चेतना के अंतर्गत रस विषयक निम्न-लिखित ग्रंथ लिखे गये —

रीतिकाल के रसविषयक ग्रंथ

१. केशवदास—रसिकप्रिया
२. चिन्तामणि—कविकुल कल्पतरु, श्रृङ्गार मञ्जरी
३. तोष—सुधानिधि
४. मतिराम—रसराज, ललित ललाम
५. कुलपति—रस रहस्य

६. देव—शब्द रसायन, रसविलास, भावविलास
७. कुमारमणि—रसिक रसाल
८. रसलीन—रस प्रबोध
९. भिखारीदास—रस सारांश, शृङ्गार निर्णय
१०. रमनेस—रसिक विलास
११. पद्माकर—पद्माकर पंचामृत
१२. रसिक गोविन्द—रसिक गोविदानंद घन
१३. कृष्णभट्ट देव ऋषि—शृंगार रस माधुरी
१४. याकूब खाँ—रसभूषण
१५. सोमनाथ—शृङ्गार विलास
१६. उदयनाथ कवीन्द्र—रस चन्द्रोदय
१७. शोभाकवि—नवल रस चन्द्रोदय
१८. रामसिंह—रस निवास
१९. ग्वाल—रसरंग

हिन्दी साहित्य इतिहास ग्रन्थों में उल्लिखित कवि तथा आचार्य

२०. मोहनलाल—शृङ्गार सागर—सं० १६१६
२१. बलभद्र मिश्र—रसविलास—सं० १६४०
२२. ब्रजपति भट्ट—रसभावमाधुरी—सं० १६८०
२३. सुन्दर कवि—सुन्दर शृङ्गार—सं० १६८८
२४. शम्भुनाथ सोलङ्की—नायिका भेद—सं० १७०७
२५. तुलसीदास—रस कल्लोल—सं० १७११
२६. मण्डन—रसरत्नावली—सं० १७२०
२७. गोपालराम—रस सागर—सं० १७२६
२८, सुखदेव मिश्र—रसरत्नाकर, रसार्णव, शृङ्गार लता—सं० १७३०
२९. श्रीनिवास—रस सागर—सं० १७५०
३०. केशवराम—नायिका भेद—सं० १७५४
३१. बलबीर—दम्पति विलास—सं० १७५९
३२. लोकनाथ चौबे—रस तरंग—सं० १७६०
३३. खड्गराम—नायिका भेद—सं० १७६५
३४. बेनी प्रसाद—रस शृंगार समुद्र—सं० १७६५
३५. श्रीपति—रस सागर—सं० १७७०

३६. आजम—शृंगार रस दर्पण—सं० १७८६

३७. कुन्दन—नायिका भेद—सं० १७६२

३८. गुरुदत्त सिंह 'भूपति'—रसरत्नाकर, रसदीप—१८वीं शती का अन्त

३९. उदयनाथ कवीद्र—रस चंद्रोदय—सं० १८०४

४०. शम्भुनाथ—रसतरंगिणी, रसकल्लोल—सं १८०६

४१. चन्ददास—शृंगार सागर—सं० १८११

४२. शिवनाथ—रसवृष्टि—सं० १८२८

४३. दौलतराम उजियारे—रसचंद्रिका, शृंगार चरित

४४. बेनीबंदीजन—रस विलास—सं० १८६४

४५. यशवंत सिंह—शृंगार शिरोमणि—सं० १८५६

४६. यशोदानन्दन—बरवै नायिका भेद—सं० १८७२

४७. करन कवि—रस कल्लोल—सं० १८६०

४८. कृष्ण कवि—गोविन्द विलास—सं० १८६३

४९. नवीन—रंगतरंग—सं०—१८६६

५०' जगदीशलाल—व्रजविनोद नायिका भेद—१९वीं शती का अन्त

५१. गिरिधरदास—रसरत्नाकर—१९वीं शती का अंत

५२. नारायण भट्ट—नाट्य दीपिका—१९वीं शती का अंत

५३. चन्द्रशेखर—रसिक विनोद—सं० १९०३

५४ वंशमणि—रसचंद्रिका—अज्ञात

५५. सेवक कवि—अज्ञात

५६. नंदराम—शृंगार दर्पण अज्ञात[1]

१९वीं तथा२०वीं शती में प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र की रसविषयक समस्याओं पर अनेक दृष्टि से विचार किया गया। इधर हिंदी साहित्य के अंतर्गत शोध परक दृष्टिकोण के विकास के साथ-साथ रस सिद्धांत पर गम्भीरतापूर्वक चिंतन किया गया। इसके परिणामस्वरूप रस से सम्बन्धित निम्नलिखित मौलिक ग्रन्थ प्रकाश में आये—

१. रस मीमांसा—आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल

२. रस सिद्धांत—डॉ० नगेन्द्र

३. रस सिद्धान्त : स्वरूप विश्शेषण—डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित

---

१. यह सूची डॉ० सत्यदेव चौधरी, काव्यशास्त्रीय निबन्ध के आधार पर तैयार की गई है। दे० उक्त ग्रन्थ, पृष्ठ ४८ से ५३ तक

४. रस गङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन—डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त
५. रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र—डॉ० निर्मला जैन
६. काव्यशास्त्र में रस सिद्धांत—सच्चिदानन्द चौधरी
७. रीतिकालीन कविता तथा शृङ्गार रस का विवेचन—डॉ० राजेश्वर चतुर्वेदी
८. रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन—डॉ० छैल बिहारी गुप्त राकेश
९. रस सिद्धांत और सौदर्य शास्त्र—डॉ० निर्मला जैन
१०. भक्ति रसार्णव (संस्कृत)—श्री हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी)
११. रस विमर्श—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

कवि शिक्षा

भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत कवि शिक्षा जैसी परम्परा भी सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुई है। इसके प्रारम्भिक सूत्र आचार्य भरत, भामह, दण्डिन् वामन एवं रुद्रट में मिलते हैं। आचार्य भामह ने काव्यालंकार के अन्तर्गत पंचम तथा षष्ठ अध्यायों में ऐसे सूत्रों की ओर संकेत किया है, जिनसे कवि के लिए करणीय तथा अकरणीय व्यवस्था का बोध होता है। वे एक स्थल पर कहते हैं—

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रिया दरः॥

शब्द और अर्थ का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके, काव्यज्ञों की उपासना करके और अन्य काव्य बन्धों का अवलोकन करके काव्य प्रणयन की ओर प्रवृत्त होना चाहिये।

अन्तिम अध्याय के कई श्लोकों के माध्यम से उन्होंने यह समझाने की चेष्टा की है कि काव्य विधान का सम्पादन अनेक ऋषियों के मतों तथा पूर्व कवियों के रचना वैशिष्ट्यों का कुशलतापूर्वक संकलन एवं अवगाहन करके करना चाहिये। वे एक स्थल पर कहते हैं—

प्रायेण दुर्बोधतया शास्त्राद्बिभ्यत्यमेधसः।
तदुपच्छन्दनायैष हेतुन्याय लवोच्चयः॥
स्वादुकाव्यरसो मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्॥

दुर्बोधता के कारण मन्द बुद्धि शास्त्र से डरते हैं। काव्य के मधुर रस में मिलाकर शास्त्र का उपयोग होता है। कड़वी दवा को प्रथम मधु में मिलाकर

उसे चखते हुए पी जाते हैं। अन्तिम अध्याय में एक स्थल पर वे पुनः कहते हैं—

वक्रवाचां कवीनां ये प्रयोगं प्रति साधवः ।
प्रयोक्तं ये न युक्तश्च तद्विवेकोऽयमुच्यते ।।
ना प्रयुक्तं प्रयुञ्जीत चेतः सम्मोहकारिणम् ।
तुल्यार्थत्वेऽपि हि ब्रूयात्को हन्ति गतिवाचनम् ।।

वक्रोक्ति मार्ग के कवियों के प्रयोग योग्य एवं अयोग्य शब्दों का विवेचन किया जा रहा है—जैसे मन में भ्रम उत्पन्न करने वाले अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये यथा 'हन्' शब्द का अर्थ गमनार्थी होने पर भी जाने के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जाता है।

आचार्य दण्डीकृत काव्यादर्श के अन्तर्गत रीति, गुण दोष विवेचन के संदर्भ में 'कवि शिक्षा' की दिशा में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। 'कवि शिक्षा' शब्द का प्रथम सांकेतिक प्रयोग आचार्य दण्डीकृत काव्यादर्श में ही प्राप्त है —

शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।

काव्य शक्ति, निपुणता, लोक, शास्त्र का गहन अनुशीलन काव्यज्ञ द्वारा दी गई शिक्षा एवं अभ्यास' का सम्मिलित परिणाम है। काव्यज्ञ द्वारा दी गई 'शिक्षा' 'कवि शिक्षा' परिपाटी की ओर स्पष्ट संकेत करती है। प्रथम परिच्छेद का समापन करते हुए वे कहते हैं—

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती,
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः ।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा,
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ।

काव्य कीर्ति की इच्छा रखने वाले को अनालस्यभाव से निरन्तर सरस्वती की उपासना करनी चाहिये। काव्य सामर्थ्य की अल्पता के बावजूद भी श्रम करने वाले पण्डित जन विद्वानों की गोष्ठियों का आनन्द प्राप्त करते हैं।

एक अन्य स्थल पर काव्य मार्ग के औचित्य का विवेचन करते हुए वे कहतेहैं—

इति त्यागस्य वाक्येऽस्मिन्नुत्कर्षः साधु लक्ष्यते ।
अनेनैव पथान्यत्र समानन्यायमूह्यताम् ।।

इस प्रकार के वाक्य (इस श्लोक के पूर्व कथित) वाक्य में उत्कर्ष स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। अतः अन्यत्र भी इसी मार्ग का अनुसरण करके पद्य रचना करनी चाहिये।

आचार्य दण्डी गुणों तथा मार्गों के सन्दर्भ में ग्राह्यता तथा दोषों के सन्दर्भ में कवियों के लिए उसकी अग्राह्यता का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। वे काव्य दोषों के सम्बन्ध में कहते हैं—

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम्।
देशकालकलालोक न्यायागमविरोधि च।
इति दोषा दशैवेते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः॥

'काव्यमर्मज्ञों के लिए वर्जित' शब्द का प्रयोग करके वे कवि शिक्षा परिपाटी का ही संकेत करते हैं। आचार्य वामन काव्यालंकार सूत्र के पंचम अधिकरण के दो अध्यायों में काव्य समय तथा शब्द शुद्धि कविशिक्षा की ही सामग्री देता है। यह सम्पूर्ण प्रसंग कवि शिक्षा का है। उन्होंने धातु, कृदन्त, संज्ञा, समास, प्रत्यय, कारक-प्रयोग, ह्रस्वदीर्घादि परिवर्तन, स्त्री प्रत्यय, मनुष्येतर जातियों के लिए प्रयुक्त प्रत्ययादि, शब्द प्रयोग की शुद्धि-अशुद्धि आदि का विवेचन किया है।

पंचम अधिकरण का प्रारम्भ करते हुए आचार्य वामन कहते हैं—

सम्प्रति काव्यसमयं शब्दशुद्धिं च दर्शयितुं प्रायोगिकाख्यमधिकरणमारभ्यते तत्र काव्यसमयस्तावदुच्यते।

'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण'

काव्य समय तथा शब्द शुद्धि को स्पष्ट करने के लिए वे प्रायोगिक नामक पञ्चम अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं। प्रायोगिक शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—'प्रयोग विषये नियामकत्वेन भवतीति प्रायोगिकम्', प्रयोग-वर्ज्यावर्ज्य नियम इति'' अर्थात् काव्य रचना में उद्यत व्यक्ति के लिए 'करणीय' प्रयोग के विधि-निषेधों का वर्णन यहाँ अभीष्ट है। मूलतः यहाँ 'काव्य समय' शब्द का अर्थ कवि के लिए वर्ज्यावर्ज्य प्रयोग संकेत है। इस प्रकार कवि शिक्षा विषयक प्रबुद्ध दृष्टिकोण वामनकृत काव्यालंकारसूत्र में वर्तमान है।

आचार्य क्षेमेन्द्र कृत कवि कंठाभरण (सं० १०३० से १०८०) आचार्य राजशेखर कृत काव्य मीमांसा समसामयिक कवि शिक्षा पर लिखे गये मौलिक ग्रंथ हैं। इन्होंने पाँच अध्यायों (कक्षाओं शिक्षा) में कवि शिक्षा सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत की है—(१) कवित्व शक्ति का सम्पादन (२) पद रचना शक्ति सम्पादन के बाद उसकी पुष्टि (३) काव्य चमत्कार (४) काव्य के गुणदोष का परिणाम (५) परिचय प्राप्ति। कवित्व शक्ति को प्राप्त करने के उपायों (अध्याय २) पर विशेष विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। यही नहीं, अध्याय ३ के अन्तर्गत कवियों के लिए आवश्यक चमत्कारों के ज्ञान को भी आवश्यक बताया है

'काव्यज्ञ शिक्षया परिशीलनमभ्यासः' अर्थात् काव्यवेत्ता द्वारा दी गई शिक्षाओं का अनुशीलन तथा अभ्यास आवश्यक है।

आचार्य भामह से प्रारम्भ होने वाली इस परम्परा के स्फुट संकेत ध्वन्यालोक वर्धन, वक्रोक्तिजीवितम् तथा ध्वन्यालोकलोचन में मिलते हैं। जैसा कि निर्दिष्ट है ठीक इनके आस-पास लगभग १०वीं शती में राजशेखर ने कविशिक्षा पर 'काव्य-मीमांसा' नामक अपना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। राजशेखर के पूर्ववर्ती शास्त्रकारों के निर्देशों तथा संकेतों से यह नितान्त स्पष्ट है कि 'कवि शिक्षा' काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त का एक अनिवार्य अंग रहा है। इस शास्त्र के प्रायोगिक अर्थात् व्यवहार पक्ष के नाम से जाना जाता रहा है।

काव्यशास्त्र के इस व्यावहारिक पक्ष (प्रायोगिक) के विविध पहलुओं पर साङ्गोपाङ्ग रूप से 'काव्य मीमांसा' के अन्तर्गत विचार किया गया है। यहाँ काव्य के लिए सम्पूर्णतः उपयोगी तत्त्वों तथा कवि के लिए आवश्यक-अनुकरणीय सामग्रियों को निर्दिष्ट किया गया है। कवि के शास्त्रादि ज्ञान का स्वरूप क्या हो, अपनी अन्तर्शक्ति बढ़ाने के लिए वह क्या-क्या करे और अन्त में उसकी दिन चर्या क्या हो— आदि उपयोगी तथा व्यावहारिक विषयों पर नितान्त सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया है। कवि दिनचर्या में वह बताता है—

अनियतकालाः प्रवृत्तयो विप्लवन्ते तस्माद्दिवसं निशां च यामक्रमेण चतुर्द्धा विभजेत्। स प्रातरुत्थाय कृतसन्ध्यावरिवस्यः सारस्वतं सूक्तमधीते। ततो विद्यावसथे यथासुखमासीनः काव्यस्य विद्या उपविद्याश्चानुशीलयेदाप्रहरात्। न ह्येवंविधमन्यत्प्रतिभाहेतुर्यथा प्रत्यग्रसंस्कारः। इत्यादि

समय का नियमित विभाग न करके किये जाने वाले काम अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। इसलिए दिन और रात को प्रहरों के क्रम से चार-चार भागों में विभक्त कर दे। कवि, प्रातः काल उठकर सन्ध्यापूजन करने के पश्चात् सरस्वती-स्तोत्र का पाठ करे। तदनन्तर विद्याभवन में आनन्द से बैठकर एक प्रहर तक काव्य की विद्याओं और उपविद्याओं का अभ्यास करे। प्रतिभा बढ़ाने के लिए अभ्यास से संस्कार को तेज करने के लिए अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। आदि-आदि।

साहित्य मीमांसा की समाप्ति के पश्चात् वह कवियों को सावधान करता है कि वे अत्यन्त सावधान होकर साहित्य विद्या के अन्तर्गत वर्णित विषयों का अभ्यास करें। उत्तम काव्य की सिद्धि इनके बिना सम्भव नहीं है—

अनुसन्धानशून्यस्य दूषणं दूषणायते।
अनुसन्धानशून्यस्य च कवेर्दूषणं भूषणायते।

अनुसन्धान शून्य कवि की उत्तम बातें दूषण बन जाती हैं और सावधान कवि के दूषण भी भूषण हो जाते हैं। अतः कवि के लिए नितान्त आवश्यक है उनके लिए निर्दिष्ट बातों को वे व्यवहार में लाएँ।

परवर्ती काल खण्ड में कवि शिक्षा से सम्बन्धित कई ग्रन्थ प्रकाश में आये। केशव मिश्र कृत अलंकार शेखर, अरिसिंह कृत कल्पलतावृत्ति, किसी अन्य अज्ञात् आचार्य द्वारा रचित कविकल्पलता आदि ग्रंथ इस सम्प्रदाय की अन्तिम कड़ी के रूप में मिलते हैं। अलंकार शेखर के रचनाकार केशव मिश्र स्पष्ट रूप से बताते हैं कि इस ग्रंथ का कारिका भाग शौद्धोदनि द्वारा लिखे गये थे—शौद्धोदनि 'अलंकार विद्यासूत्रकारो भगवाञ्छौद्धोदनिः परम कारुणिकः स्वशास्त्रे प्रवर्तयिष्यन्प्रथमं काव्यस्वरूपम्' आह। श्री पी० वी० कर्णे ने शौद्धोदनि का समय ११वीं शती के बाद स्वीकार किया है, इस प्रकार 'काव्यमीमांसा' के पश्चात् कवि शिक्षा विषय पर लिखा गया शौद्धोदनि का कारिका रूप ग्रंथ ही स्वीकार किया जा सकता है।

हिन्दी में इस परम्परा के अन्तर्गत आचार्य केशवदास ने कविप्रिया नामक ग्रंथ की रचना की। केशवदास कृत कविप्रिया संस्कृत साहित्य की इस परिपाटी की अन्तिम और सशक्त कृति है। विद्वानों की धारणा है कि यह अरिसिंह कृत कल्पलता वृत्ति तथा केशवमिश्र कृत अलंकार शेखर पर आधारित है। वस्तुतः यह कवि शिक्षा की परम्परा का मौलिक ग्रन्थ है और इसके ऊपर उपर्युक्त ग्रन्थों का प्रभाव खोजना व्यर्थ है। अपने युग में प्रचलित काव्य की धारणाओं तथा काव्यशास्त्र की परम्परागत परिपाटियों का सम्यक्रूपेण अध्ययन करके आचार्य केशवदास हिन्दी में काव्य रचना के लिए प्रवृत्त होने वाले नये कवियों का इस ग्रंथ के माध्यम से मार्ग प्रशस्त करते हैं—

समझै बाला बालकहुँ, वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशवकरो, छमियो कवि अपराध॥
अलंकार कवितान के सुनि, सुनि विविध प्रकार।
कविप्रिया केशव करी, कविता को सिंगार॥

यही नहीं, इस ग्रंथ की प्रस्तावना में इन्द्रजीत की प्रसिद्ध गणिका प्रवीणराय की काव्यशिक्षा के लिए कवि संकेत करता है—

नाचति गावति पढ़ति सब, सबै बजावति बीन।
तिनमें करत कवित्त इक, राय प्रवीन प्रवीन।
सविता जू कविता दई, ताकहँ परम प्रकास।
ताके काज कवि प्रिया कीन्हीं केशवदास॥

कविप्रिया की समाप्ति के पश्चात् आचार्य केशवदास कवियों के लिए विशेष रूप से आग्रह करते हैं कि वे विदग्ध काव्य रचना के लिए कविप्रिया की निरन्तर उपासना करते रहें—

प्रति-प्रति पल अवलोकिबो, पढ़िबो गुनिबो चित्त ।
कविप्रिया को रक्षियो, कविप्रिया ज्यों मित्त ।।
अनल-अनिल जल मलिन ते, विकट खलन तें नित्त ।
कविप्रिया को रक्षियो, कविप्रिया ज्यों मित्त ।।

संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य के परवर्ती कालखण्ड में कविशिक्षा एवं वर्णक सम्बन्धी ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है—

१. अरि सिंह—कवि कल्पलता
२. देवेश्वर—कवि कल्पलता
३. केशव मिश्र—अलंकार शेखर
४. कविकर्पिटिका—रचनाकार अज्ञात
५. वर्णरत्नाकर—दामोदर पण्डित
६. वर्णक समुच्चय—अज्ञात
७. सभा शृंगार—अज्ञात

हिन्दी में वर्णकों एवं कवि शिक्षा से सम्बन्धित सामग्री निम्नलिखित ग्रंथों में देखी जा सकती है—

१. कविप्रिया—केशवदास
२. काव्य सिद्धान्त—सुरति मिश्र
३. सुखसागर—तरंग देव
४. काव्यशिक्षक—साधो गिरि ।[1]

औचित्यसम्प्रदाय

औचित्य सम्प्रदाय के उद्भावक आचार्य क्षेमेन्द्र आचार्य भट्ट गङ्गक के शिष्य बताये गये हैं । इसके अनुसार यह औचित्य कोई नवीन सम्प्रदाय नहीं है । संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अनेकशः इस मत की मान्यताओं का समय-समय पर उल्लेख किया है—

---

१. विशेष के लिए देखिए—कवि शिक्षा की परम्परा और हिन्दी रीति—साहित्य, डॉ० सत्य प्रकाश

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्यदौचित्यं प्रचक्षते ।।

औचित्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'नारी-अलंकरण' को सादृश्य बनाकर अनौचित्य का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया है—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यातां,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः ।।

इसमें निर्दिष्ट अनौचित्य का सन्दर्भ संस्कृत साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन है। परम्परा में आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत सर्वप्रथम इस प्रकार के अनौचित्य का आलंकारिक वर्णन प्रस्तुत किया है—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभा जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यैवोपजायते ।।

वृत्ति की उपयुक्तता के रसौचित्य की चर्चा ध्वन्यालोक में कई स्थलों पर मिलती है—

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थ शब्दयोः
औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो विविधाः स्मृताः ।

यही नहीं, ध्वन्यालोककार 'अनौचित्य' की भी चर्चा करता है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्य बन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।

आचार्य क्षेमेन्द्र को औचित्य सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने में ध्वन्यालोककार के विचारों ने पर्याप्त सहायता पहुँचाई होगी। ध्वन्यालोकलोचन के अन्तर्गत आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने पूर्ववर्ती औचित्यवादियों की ओर संकेत करते हुए गुणालंकाररस औचित्य की चर्चा की है—

यदि शरीरं कटकादि युक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्यानौचित्यम् ।

लोचन, पृ० ७५

वक्रोक्ति जीवितकार आचार्य कुन्तक भी 'औचित्य' की मान्यताओं से सर्वथा परिचित प्रतीत होते हैं—

आञ्जनेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यं उचिताख्यानजीवितम् ।
यत्र वक्तुः प्रमातुः वा वाच्यं शोभातिशायिना ।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदौचित्यमुच्यते ।।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने सामयिक काव्य रचना के दो व्यावहारिक पक्ष 'औचित्य' और 'कवि शिक्षा' को ध्यान में रखकर अपने दोनों 'औचित्य विचार चर्चा' तथा 'कवि कंठाभरण' नामक ग्रन्थों की रचना की। 'औचित्य' तथा 'कवि शिक्षा' की परिपाटियाँ इनके पूर्व विकसित होकर पर्याप्त-रूपेण प्रचलन में थी। इन दानों व्यावहारिक मान्यताओं को प्रकाश में लाकर इन्होंने इस दिशा में सराहनीय कार्य किया। आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य को 'काव्य-जीवित' मानते हैं—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥

———

भारतीय काव्यशास्त्र की प्रकृति का विवेचन

संस्कृत काव्य शास्त्रीय चिन्तन कितना प्राचीन है, इसके विषय में मतैक्य नहीं है। भारतीय मनीषा के साथ उत्पन्न अनेक शास्त्रों के साथ काव्यशास्त्र का भी उद्‌भव हुआ है। यह शास्त्र अन्य शास्त्रों से अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। इसकी शैली पर आपस्तम्ब धर्मसूत्र, पाणिनीय व्याकरण, निरुक्त जैमिनिसूत्र पर शबरभाष्य, कामसूत्र आदि प्राचीनतम ग्रन्थों के प्रभाव दर्शनीय हैं। राजशेखर ने काव्य मीमांसा के अन्तर्गत विद्याओं एवं उपविद्याओं की जो सूची तैयार की है, उसमें सर्वप्रथम बार साहित्य विद्या को व्यवस्थित रूप से स्थान दिलाने की चेष्टा दिखाई पड़ती है। उसके अनुसार अपौरुषेय ६ वेदांगों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्ति, छन्द एवं ज्योतिष' के पश्चात् सप्तम् अपौरुषेय वेदांग, अलंकार शास्त्र है—

"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचितिः ज्योतिषं इति षड्‌ङ्गानि। उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तमङ्गम्, इति यायावरीयः। ऋते च तत्वस्वरूप परिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः।

वस्तुतः वेदांगों की धारणाओं के पश्चात् अलंकार शास्त्र की धारणा का विकास इस क्रम में सबसे बाद का प्रतीत होता है।

यही नहीं, पौरुषेय १४ विद्याओं की सूची देने के बाद १५वें विद्या स्थान पर वे 'काव्य विद्या' को रखते हैं। वे कहते हैं —

'सकलविद्यास्थानैकामतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्' इति यायावरीयः। गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च। तद्धि शास्त्राण्यनुधावन्ति'—

१४ विद्यास्थानों के अतिरिक्त काव्य १५वाँ विधास्थान है। यह चौदहों विधास्थानों का एकमात्र आधार है। इस काव्य के गद्य पद्यमय तथा हितोपदेशक होने के कारण सभी शास्त्र इस काव्यविद्या का अनुसरण करते हैं।

पौरुषेय विद्याओं में भी राजशेखर काव्यविधा को १५वाँ तथा अन्तिम स्थान देते हैं।

शुक्रसंहिता, वृहस्पति संहिता; मनुसंहिता तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र के विद्या प्रकरणों में काव्यशास्त्र का नाम नहीं है। इसीलिए उनके द्वारा निर्दिष्ट

उत्तरोत्तर विकसित-आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति के सन्दर्भों काउल्लेख करते हुए राजशेखर अपना मत व्यक्त करते हैं—

'पंचमी साहित्यविद्या' इति यायावरीयः। सा च चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः। आभिधर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्विद्याना विधानां विद्यात्वम्

राजजेश्वर का मत है कि साहित्यविद्या भी पाँचवी विद्या है, जो चारों विद्याओं का सार है। धर्म और अर्थ की प्राप्ति इसका मुख्य फल है।

इस प्रकार सामान्यतया कौटिल्य के अर्थशास्त्र अर्थात् ई० पू० पाँचवीं शती तक काव्यविद्या को परम्परित विद्याओं के अन्तर्गत व्यवस्था नहीं मिली थी। सम्भव है, इसके क्रमिक सूत्रों का धीरे-धीरे विकास होता रहा हो और सब के प्रचलन के पश्चात् इसे विद्या जैसी संज्ञा से विभूषित किया गया हो।

आचार्य राजेश्वर इस विद्या की प्रकृति तथा विस्तारक्षेत्र की चर्चा करते हुए कहते हैं—

शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या। उपविद्यास्तु चतुःषष्ठिः। ताश्चकला इति विदग्धवादः। स आजीवः काव्यस्य।

शब्द तथा अर्थ के यथावत् सहभाव को बताने वाली विद्या साहित्य विद्या कहलाती है। इस विद्या की चौंसठ उपविद्यायें (कलायें) हैं। उपविद्याएँ काव्य के लिए प्राणवत् चैतन्य तुल्य हैं।

राजशेखर के इन कथनों से नितान्त स्पष्ट हैं कि भारतीय वाङ्मय में सम्पूर्ण अपौरुषेय शास्त्रों एवं विद्याओं की प्रतिष्ठा हो चुकने के बाद क्रमशः अलंकारशास्त्र, काव्यविद्या तथा साहित्यविद्या की उत्पत्ति एवं विकास हुआ। सर्वप्रथम यह अलंकार शास्त्र के रूप में प्रचलित हुआ, पुनः प्रयोगबाहुल्य के कारण काव्यविद्या के रूप में जाना गया और अपनी समस्त धारणाओं के विकास कर लेने पर पर इसे 'साहित्य विद्या' की स्वीकृति मिली। इस प्रकार राजशेखर भारतीय काव्यशास्त्र के विकास के इतिहास की सूक्ष्मप्रवृत्तिगत यात्रा की ओर संकेत करते हैं।

भारतीय चिन्तन की सबसे बड़ी उपलब्धि है, निष्कर्षों के अन्तिम बिन्दु तक पहुँचने की। चाहे वह व्याकरणशास्त्र हो या निरुक्ति, ज्योतिष हो या छन्द प्रायः पूर्णतः सुविचारित निष्कर्ष एवं उपलब्धि तक उस शास्त्र को पहुँचाने की चेष्टा की गई है। पाणिनि के व्याकरणीय चिन्तन के बाद फिर उस पर नये ढंग से सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ी, इसी प्रकार छन्दशास्त्र, ज्योतिष की भी स्थिति है। विद्या से सम्बद्ध अन्तिम सत्य को साक्षात्कृत करके उसे प्रतिष्ठित करने का दृष्टिकोण भारतीय मनीषा की एक सर्वतोत्कृष्ट प्रकृति है। काव्यशास्त्रीय चिन्तन

भी इस प्रवृत्ति का अनुगमन करता है। सामान्यतया काव्यशास्त्रीय चिन्तन के विविध सम्प्रदायों ने इस प्रवृत्ति का कहीं भी परित्याग नहीं किया। इस क्रम में, शास्त्राख्यान की सूत्र पद्धति इनके द्वारा अपनाई गई; जहाँ सूत्र से कार्य सम्पन्न होना आवश्यक नहीं समझा गया कारिकाएँ और वृत्तियाँ लिखी गईं। समर्थन तथा विरोध में श्रुत, प्रचलित तथा सामयिक आचार्यों के कथनों की टिप्पणियाँ रखी गईं, और अन्त में आर्या, गाथा जैसे बड़े श्लोकों के साथ भाष्य प्रस्तुत किया गया, यही नहीं, उन पर पुनः टीकायें और टीका ग्रन्थों पर टीकायें लिखी गईं। कुल मिलाकर भारतीय, शास्त्र चिन्तन की पद्धति का समग्रतया समाहार काव्यशास्त्रीय चिन्तन पद्धति में देखने को मिलता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शास्त्र निरूपण क्रम में मूल तत्त्वार्थ को अन्वेषित करने की दृष्टि काव्यशास्त्र में भी मिलती है। यदि विविध सम्प्रदायों में निर्दिष्ट मान्यताओं पर विचार करें तो यह तथ्य और भी सुगमतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत सूत्र तथा भाष्य शैली में बताते हैं-'विभावनुभावकर्मचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। यह सूत्र आज भी इसी क्रम में प्रामाणिक माना जाता है। इस सूत्र में निहित व्यवस्था में कहीं भी इधर-उधर परिवर्तन करने का न तो अवकाश है और न सम्भावना। आचार्य भरत के पूर्ववर्ती किसी मंत्रद्रष्टा ऋषि ने इस सूत्र के माध्यम से रस का दर्शन इसी रूप में किया, और वह अन्तिम सत्य बन कर रह गया। इसी प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायीभाव आदि के विषय में दी गई उक्त ऋषि की मान्यता इतने हजार वर्षों के बाद भी ज्यों-की-त्यों है। भारतीय मनीषा के अन्तर्गत शास्त्र के सत्य का दर्शन करके उसे प्रतिष्ठित करने का भाव यहाँ भी तदवत् वर्तमान है। यही नहीं, रस के पश्चात् अलंकार सिद्धान्त प्रकाश में आया। वहाँ भी, चाहे भामह हों या दण्डी, वामन हों या रुय्यक—चिन्तन में निहित मूल तत्त्व को पकड़ने की बलवती ललक इनमें वर्तमान है। आचार्य भामह जब बताते हैं कि 'वक्रता' अलंकारत्व का मूल हेतु है या दण्डी सिद्ध करते हैं कि स्वभावोक्ति या सहजता अलंकारत्व का मूल बीज तत्त्व है या वामन सादृश्य को अलंकारत्व का हेतु बताते हैं तो उनके इन कथनों का तात्पर्य ही यही है कि ये अलंकार चिन्तन की उस धुरी की तलाश में हैं, जिस पर उसे प्रतिष्ठित किया जावे। यही नहीं, उनका समस्त अलंकार निरूपण क्रम भी उसी क्रम में चलता है। आचार्य भामह द्वारा निर्दिष्ट विविध अलंकारों की परिभाषाएँ एवं तालिकाएँ वक्रतानुक्रम में ही हैं और दण्डिन् की मान्यता स्वभावोक्ति क्रम में। इनकी स्थापनाएँ

पूरा शास्त्र-चिन्तन पर आधारित हैं। आचार्य वामन अर्थालंकारों का मूल उपमा मानते हुए बताते हैं—

साम्प्रत्यर्थालिङ्काराणां प्रस्तावः। तन्मूलं चोपमेति सैव विचार्यते। अब अर्थालंकारों को प्रस्तावित किया जाता है। इन अर्थालंकारों के मूल में उपमा है। आचार्य वामन आगे जब भी अर्थालंकारों का विवेचन करते हैं, उपमा की यह प्रतिज्ञा नहीं भूलते-यथा—

प्रतिवस्तूपमा—उपमेय उक्त रहने पर समान वस्तु का वर्णन
सामसोक्ति—उपमेय के अनुक्त रहने पर समान वस्तु का वर्णन
अपह्नुति—उपमान से अन्य अर्थात् उपमेय का अपलाप (निषेध)
रूपक—उपमान के साथ उपमेय के गुण का सादृश्य (अभेद आरोप)
श्लेष—उपमेय-उपमान में निहित धर्म का तन्त्र प्रयोग
वक्रोक्ति—सादृश्य सम्बन्ध से सिद्ध लक्षणा
सन्देह—उपमान और उपमेय का संशय
क्रम—उपमान तथा उपमेय का क्रम प्रदर्शन
दीपक—उपमान तथा उपमेय वाक्यों में एक क्रिया का प्रदर्शन

यहाँ तक कि व्यांजोक्ति, आक्षेप जैसे अलंकारों को उपमागर्भित सिद्ध करने में वे संकोच नहीं करते। इस विवेचन का सम्बन्ध उनके ज्ञान प्रदर्शन से न होकर शास्त्र में निहित मूलार्थ के तत्त्वा वेषण की दृष्टिगत सजगता से है, जो भारतीय शास्त्र विवेचन की एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि रही है। प्रतिपादित विषय के तत्त्वार्थ पर पहुँचने की यही दृष्टि रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य आदि के विवेचन में दिखाई पड़ती है।

भारतीय शास्त्रों की एक और भी महत्त्वपूर्ण विशेषता है, कृतिकार के अपने व्यक्तित्व का अपह्नवयन तथा किसी उच्च, दिव्य तत्त्व से उस शास्त्र विशेष को जोड़ने का प्रयास। भारतीय विद्याओं का जन्म मिथक एवं यथार्थ के द्वन्द्व के बीच होता है। यही स्थिति, काव्यशास्त्र के साथ घटित दिखाई पड़ती है। शास्त्रकार रचना को विश्वसनीय, प्रामाणिक तथा चिन्तन को ग्राह्य बनाने के लिए उसे मानवेतर से जोड़ता है। रस सिद्धांत के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनेक टिप्पणियाँ मिल जाती हैं—

उत्पत्तिस्तु रसनां या पुरा वासुकिनोदिता।
नारदस्योच्यते सैषा प्रकारान्तर कल्पिता॥

नाट्यशास्त्र में 'रसानर्थवणादपि' कहकर उसी विश्वनीय परम्परा से इसे जोड़ने का प्रयास करते हैं। ब्रह्मा, शिव, वृहस्पति, शिव के प्रधानगण नन्दिकेश्वर से इसे जोड़ने का बार-बार प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से राजशेखर कृत काव्यमीमांसा की प्रस्तावना नितान्त रोचक सामग्री प्रस्तुत करती है—उनके अनुसार भगवान् नीलकंठ शिव ने इस काव्यविद्या का उपदेश परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौंसठ शिष्यों को किया। उनमें से प्रथम शिष्य भगवान ब्रह्मदेव ने इस विद्या का द्वितीय बार उल्लेख अपने शिष्यों से किया। उनमें सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष भी था। इस काव्यपुरुष को ब्रह्मा ने आज्ञा दी कि वह इस विद्या का प्रचार करे। उस काव्यपुरुष ने इसे अट्ठारह भागों में विभक्त करके अपने शिष्य सहस्राक्ष आदि देवतास्वरूप स्नातकों को दिया—

शिव > ब्रह्मा > काव्यपुरुष > सहस्राक्ष आदि अट्ठारह शिष्यों से यह शास्त्र लोक में आया—

तत्र कवि रहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत् औक्तिक मुक्तिगर्भः रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः आनुप्राकिकं प्रचेताः यमो यमकानि चित्रं चित्राङ्गदः शब्दश्लेषः शेषः वास्तव्यं पुलस्त्यः औपम्यमौपकायनः अतिशयं पाराशरः अर्थश्लेषमुतथ्यः उभयालङ्कारिकं कुबेरः वैनोदिकं कामदेवः रूपक निरूपणीयं भरतः रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः दोषाधिकरणं धिषणः गुणोपादानिकमुपन्युः औपनिषदिकं कुचुमारः इति।

इसमें ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सम्प्रदायों का उल्लेख नहीं है। ध्वनिकार भी स्व-सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रबल तर्कों के बाद भी 'पूर्व-सुरिभिः' शब्द का प्रयोग और 'श्रूयमाणवर्णेषु' पर ध्वनि को आधारित करके विखर ध्वनि के अध्येता वैयाकरणों की विशाल परम्परा से अपने को जोड़ लेता है। आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति का विवेचन करते हुए पूर्वालङ्कारिकों में भामह के वक्रतावाद से अपने को जोड़कर आगे बढ़ते हैं।

कहने का तात्पर्य यह कि अन्य भारतीय विद्याओं तथा शास्त्रों की भाँति काव्यशास्त्र भी शास्त्रनिष्ठा से अपने को पूर्णरूपेण अनुप्राणित किये हुए हैं। शास्त्रपद्धति की भाँति विषयवस्तु के निरूपण का क्रम भी इन शास्त्रकारों का परम्परानुमोदित ही है। शास्त्रदृष्टि के अनुसार विवेच्य के मूल विधायक तत्त्वों को अन्वेषित एवं विवेचित करने का दृष्टिकोण यहाँ भी वर्तमान है। ये अपने विवेचन को 'काव्य' तक ही सीमित करते हैं। इनके अनुसार काव्यव्यापार कवि की वाणी से अभिन्न है और वाणी 'शब्द' तथा 'अर्थ' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र का समग्र चिन्तन इसी 'शब्द' तथा 'अर्थ' के

रचनादर्श पर आधारित है। इस 'शब्द' तथा 'अर्थ' की बहुविध पकड़ और उसकी गम्भीरतम मीमांसा इस शास्त्र की महत्तम उपलब्धि है। 'शब्द' तथा 'अर्थ' को लेकर प्रारम्भ मे दो सम्प्रदाय उठ खड़े हुए, जिसमें एक का प्रतिनिधित्व आचार्य दण्डिन् करते हैं और दूसरे का आचार्य भामह। काव्य रचना शब्द सौकर्य (शोभाकारक धर्म) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है क्योंकि काव्य की सर्वप्रथम प्रतीति भाषिक रचना ही है। भाषा का लावण्य, आकर्षित करने वाला रूप, चित्त में तरलता, माधुर्य, क्षोभ उत्पन्न करने वाला उसका श्रुत यह काव्य के लिए अनिवार्य उपादन है। भामह इस मत के विरोध में खड़े होते हैं। सुन्दर ललित शब्दों का चयन, सुन्दर समासयुक्त मनोहारी रूप एवं श्रुति—सुखदकान्त शरीर अलङ्कार (वक्रता) के अभाव में महत्त्वशून्य है। वे अर्थानुयायी शब्द सौकर्य को काव्य का आधार मानते हुए परम्परा के गुण, पाक, शैया, लक्षण, रीति को स्वीकार नहीं करते। पाक, रीति, गुण, लक्षण सिद्धांतों के अंतर्गत भी निर्विशेष काव्यत्व को परखने का ही दृष्टिकोण रखा गया था। कवि—'वाणी' में पद, पदसमुच्चय, वाक्य, वाक्य समुदाय और इन सबका ललिततम रूप काव्य के लिए सर्वोच्च मानदण्ड माना गया था। काव्यपाक का विवेचन करते हुए आचार्य वामन कहते हैं—

तत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुता।
तं शब्दन्यास निष्णाता शब्दपाकं प्रचक्षते॥

अर्थात्, काव्य रचना में 'भावानुकूल' उन सही शब्दों का प्रयोग जिनको उस स्थान से निकाल देने पर पुनः उनके समकक्ष शब्द न मिल सकें, काव्यपाक है। वह पुनः एक स्थल पर कहता है—

'गुणस्फुटत्व साकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते'

अर्थात्, सम्पूर्ण काव्यगुणों की स्पष्टता एवं परिपूर्णता काव्यपाक है—इस प्रकार काव्यपाक सिद्धांत भी कवि की 'मधुरा वाणी' की व्याख्या का ही एक मापदंड है।

आचार्य भामह तक पहुँचते-पहुँचते काव्यवाणी के बाह्य सौन्दर्य विधायक तत्त्व रीति, गुण, पाक आदि की वास्तविकता परीक्षित हो चुकी थी और शब्दानुयायी अर्थसिद्धांत को समाप्त करते हुए अर्थानुयायी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा भामह ने अर्थगत वक्रता को आधार बनाकर किया—

समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यभिधानतः।
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्रोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।

वक्रोक्ति में 'शब्द' तथा 'अर्थ' की इस प्रतिष्ठा के पश्चात् शब्दवादियों ने पुनः रीति की पुनर्प्रतिष्ठा करके उसे काव्य की आत्मा तथा वैदर्भीरीति को रीति की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधुः ।।

इनके अनुसार 'वाणी' में 'मधु' का परिस्रवण अर्थात् काव्य का आधार 'काव्य-भाषा' है, सिद्धांत को प्रकारांतर से प्रतिष्ठित किया गया। ठीक इसी प्रकार अर्थवादियों ने वक्रता को काव्यजीवित् मानकर पुनः वक्रोक्ति के रूप में अर्थानुयायी शब्दमत की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार काव्य के मूलतत्व 'काव्यभाषा' तथा 'अर्थरचना' इन दोनों सिद्धांतों का टकराव पर्याप्त समय तक चलता रहा। काव्य के विवेचन के मूल में स्थित इन शब्दों तथा अर्थों के बहुविध रूपविधानों की चर्चा और अन्वेषण भारतीय काव्यशास्त्र में किया गया। शब्द रचना के विविध रूप सुप्, तिप्, प्रत्यय, तद्धित, कृदन्त, समास, पर्याय आदि के विन्यासों की अनेक रूपों की चर्चा की गई। यह चर्चा प्रारम्भ से ही मिलती है। यद्यपि मार्ग-विवेचन करते हुए अनुप्रास प्रकरण में दण्डी इस सम्बन्ध में हल्का-सा संकेत देते हैं, किन्तु, यह संकेत शोभाकारिता से ही सम्बद्ध है। वे काव्यबन्ध (मृदु, स्फुट तथा भिन्न वर्ण वाले (१.४७), वर्णसंघात् (१.६१), शब्द सुगमता (१-७५), उदार विशेषण (१.७८), समासयुक्त पदावली (१.८०), लक्षणाशक्ति (१.८५) आदि का संकेत काव्यभाषा के विधायक तत्त्वों के सन्दर्भ में करते हैं।

काव्य रचना मुख्यतः भाषिक व्यापार है। सामान्य रूप से ये प्रारम्भिक आचार्य जब भी काव्य का विश्लेषण करते हैं, काव्य रचना की यह भाषिक प्रकृति अभिन्न रूप से उनकी दृष्टि में बनी रहती है। सजगता के दो कारण हैं। जैसा कि, अभी कहा जा चुका है, भारतीय काव्य शास्त्र के विवेचक ये आचार्य शास्त्र निरूपण करते समय काव्य के बीजभूत सन्दर्भ को पकड़ने के प्रति सचेष्ट दिखाई पड़ते हैं, यह बीजभूत तत्त्व चक्षु श्रुति गोचर 'शब्द' प्रथम है, अनुभूत होने वाला अर्थ इसके बाद का है। यही नहीं, दूसरा कारण और भी महत्त्वपूर्ण है। 'शब्द' विद्या का मूलाधार व्याकरणशास्त्र है। व्याकरण के अन्तर्गत सुप, तिङ्, समास, तद्धित, कृदन्त आदि द्वारा शब्द रचना की जाती है, काव्य में इन रचे हुए शब्दों का विशिष्ट प्रयोजन से प्रेरित व्यवहार किया जाता है। भाषा के दो रूप इस स्तर पर दृष्टिगत होते हैं—(क) व्यवहार की भाषा जिसका आधार व्याकरण है फिर भी वह मानव अनुभव के जुड़ी हुई अर्थज्ञान

के आदान-प्रदान का माध्यम बनती है। इस भाषा का सम्बन्ध मूलतः व्याकरण से है। 'कोशादि' इसके लिए आधार हैं।

(ख) भाषा का वह स्वरूप जो काव्य व्यवहार के विषय के रूप में है; इसमें भी व्याकरण की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु इस भाषा का कार्य अर्थ-बोध कराना न होकर कवि के अर्थ का सम्प्रेषण कराना है। इसका सम्बन्ध ज्ञान बोध के व्याकरणिक सन्दर्भों से न होकर वर्ण सौकर्य एवं पद लालित्य से है। इसमें भाषा के रचने का एक आग्रह वर्तमान है जो अर्थज्ञान या उसके आदान-प्रदान की भाषा में नहीं है। तात्पर्य यह कि मूलत एक व्याकरणिक आधार होते हुए भी दोनों भिन्न हैं। प्रारम्भिक आचार्य भाषा के इस अलगाव के प्रति सचेष्ट हैं। आचार्य दण्डी काव्यादर्श के प्रारम्भ में भाषा की इसी समस्या को उठाते हैं—

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वदा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥
इदमन्धंतमः कृत्सनं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥
गौर्गौः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव संशति।
तदल्पंमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैव दुर्भगम्॥
अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभि संधाय सूरयः।
वाचां विचित्र मार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्।

वस्तुतः सामान्य वाणी और काव्य वाणी के भेद को इंगितपूर्वक समझाते हुए आचार्य दण्डी दोषयुक्त, सुन्दरवपु वाली तथा परम्परा के विविध कवियों एवं आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट विविध काव्य मार्गों के रूप में प्रयुक्त होने वाली इस 'काव्य वाणी' को सामान्य लोक व्यवहार से पृथक् करते हैं। आचार्य वामन इस अलगाव को और भी स्पष्टतापूर्वक इंगित करते हैं—

काव्यम् ग्राह्यम् अलंकारात्।

काव्यं खलु ग्राह्यं उपादेयं भवति। अलंकारात्। काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्र वचनोऽत्र गृह्यते।

काव्य अलंकार (काव्य शोभाविधायक तत्त्व) से ही ग्राह्य होता है। यह काव्य शब्द 'गुण तथा अलंकार' के सुसंस्कृत शब्दों से ही शोभित होता है। लक्षणा से यह 'शब्दार्थ' का वाचक है।

आचार्य वामन इस भाषिक अलगाव को कितनी स्पष्टता से बताते हैं। काव्य की भाषा गुण तथा अलंकार से सुसंस्कृत है। यह काव्य सौन्दर्य विधायक तत्त्व एवं उस सौन्दर्य के रचयिता शब्दों, पदों, वाक्यों से युक्त होने के कारण व्याकरण की भाषा से पूर्णतः भिन्न है। परवर्ती आचार्य भी व्याकरणिक भाषा रचना एवं काव्य की भाषिक रचना के अलगाव को सूक्ष्मतापूर्वक व्यंजित करने के प्रति सचेष्ट दिखाई पड़ते हैं। सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र में यह सचेष्टता निरन्तर दिखाई पड़ती है। संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत यह स्वीकार किया जाता है कि मूलतः भाषा लोक की है, आधार व्याकरण का है, किन्तु उसके स्वरूप तथा अर्थ निवेष की रचना उसे अन्य शब्द रूप वाङ्मय से भिन्न करती है। ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सम्प्रदायों में वर्ण, पद, पूर्वपद, उत्तरपद और उसके अन्तर्गत प्राप्त संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, उपसर्ग, परसर्ग, तद्धित कृदन्त, स्त्री प्रत्यय, लिङ्ग, पुरुष, वचन उपग्रह (आत्मनेपद परस्मैपद), काल, संख्या, पर्याय जितनी भी शब्द की व्याकरणिक कोटियाँ हो सकती हैं, सबको काव्य रचना के स्तर पर प्रयुक्त करते हुए उनकी व्याकरणिक सम्पृक्तता से काव्य को दूर रखा। यही नहीं, वाक्य, प्रकरण तथा प्रसंग, साथ-ही-साथ सम्पूर्ण प्रबन्धरूप जो आलेख का चक्षुश्रुति गोचर आधार है, सभी को व्याकरगिक कोटि से भिन्न रूप में रखकर काव्य के अन्तर्गत उसके प्रयुक्त रचनात्मक वैशिष्ट्य को पृथक् विवेचित किया।

भाषा का एक दूसरा तत्त्व अर्थबोध है। काव्य में यह अर्थवोध शब्दबोध से महत्त्वपूर्ण है, या नहीं, यह एक विवादास्पद प्रश्न है और काव्य को भाषिक रचना के रूप में स्वीकार करने वाले ये आचार्य भी इस विवाद को निश्चित रूप से उठाते हैं। आचार्य दण्डी जब इष्ट अर्थ की बात करते हैं तो विशिष्ट पदावली प्रमुख हो जाती है, अर्थविधान गौण, वामन लक्षणा के माध्यम से उसे शब्दार्थ कहते हैं, मूलतः वह शब्द वैशिष्ट्य से ही सम्बद्ध है। परवर्ती आचार्यों के भाषिक अलगाव को सामान्यतया स्वीकार करते हुए वे अर्थ रचना पर विशेष बल देते हैं। भारतीय वाङ्मय में अर्थ के सम्बन्ध में शब्द रचना से कहीं अधिक विवाद है। उदाहरण कुछ इस प्रकार हैं।

१. भर्तृहरि का शब्दार्थ अभेदवाद
२. मीमांसकों का नित्यवाद
३. नैयायिकों का अनित्यवाद
४. वैयाकरणों का नित्यानित्यवाद

आचार्य भामह कृत 'काव्यालंकार' में इस तथ्य के अनेक संकेत मिलते हैं। यद्यपि आचार्य भामह 'शब्दवाद' को स्वीकार करने की बात करते हैं फिर भी, उनका झुकाव अर्थवाद की ही ओर है। इन अर्थवादियों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या सामान्य अर्थ से काव्यार्थ के अलगाव की रही है। भाषा से स्तर पर यह अलगाव सौशब्द अर्थात् भाषा के सौकर्य एवं लालित्य से पृथक् किया जा सकता है। सामान्य अर्थ और काव्यार्थ में प्राप्त भिन्नता की पहचान और विश्लेषण एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी, इसीलिए ये 'वक्रार्थ' की परिकल्पना करके सामान्य लोकार्थ से काव्यार्थ को भिन्न करते हैं—

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ।
न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ॥

अपुष्ट अर्थ से युक्त, अवक्रोक्तिपूर्ण, स्पष्ट, सरल, कोमल, गेय तथा ललित पदावली केवल 'श्रुतिमधुर' होगी—काव्य केवल श्रुतिमाधुर्य तक ही सीमित नहीं है। उसका महत्त्वपूर्ण पक्ष अर्थ विधान है, केवल सौन्दर्यवाचक शब्दों के प्रयोग मात्र से वाणी में चारुता नहीं आती। काव्य का मुख्य व्यापार 'वाणी में चारुता' उत्पन्न करना है—शब्द और अर्थ का वक्र प्रयोग ही वाणी का सौन्दर्य (अलंकार) है। शब्द और अर्थ की इस वक्रता के प्रयोग की ओर निर्देश करके आचार्य भामह लोकार्थ तथा काव्यार्थ के बीच विभाजक रेखा खींचते हैं। लोकार्थ के अन्तर्गत लोकयात्रा के प्रवर्तक समस्त अर्थ विधान हैं। काव्य सौन्दर्य के परिवाहक एवं उसमें चारुता की सृष्टि करने वाले इस वक्रता विधान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, यह—

१. नेयार्थ नहीं है = बलपूर्वक इस अर्थ को निकालना नहीं पड़ता
२. यह क्लिष्टार्थ नहीं = मूलार्थ में विघ्न कारक अर्थ नहीं है
३. यह अन्यार्थ नहीं है। = मूलार्थ की अनुपलब्धि नहीं है
४. यह अवाचक नहीं है। = वाच्यार्थ में साक्षात् रूढ़ नहीं है
५. यह अयुक्तिमत नहीं है = जो तर्क की कसौटी पर खरे न उतरें
६. यह गूढ़ शब्दाभिधान नहीं है। कोशादि के द्वारा बुद्धि व्यायाम से जिनकी अर्थग्रन्थि कठिनाई से नहीं खुलती

इस प्रकार के अर्थों को क्लिष्ट, गूढ़, नेयार्थ आदि कहा जा सकता है किन्तु 'वक्रोक्ति' नहीं। इन्होंने चेतावनी दी है कि इन शब्दों से सुधी कविजनों का यश विनष्ट होता है।

आचार्य भामह के समक्ष वस्तुतः इसके सन्दर्भ में दो कठिनाइयाँ थीं, प्रथम यह कि काव्य के अर्थ व्यापार को लोकार्थ से कैसे पृथक् किया जाए, इसके लिए उन्होंने 'वक्रता' का अन्वेषण किया, साथ ही, दूसरी कठिनाई उनके समक्ष 'शब्दार्थ' व्यवस्था की थी। ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है कि 'शब्दार्थ' सम्बन्ध को लेकर उस समय तक चार मतवाद विकसित हो चुके थे। भर्तृहरि शब्दार्थ को अभिन्न मानते हैं, उनके अनुसार दोनों अभिन्न हैं—

'एकस्येवात्मनो भेदो शब्दार्थावपृथक् स्थितौ'

यद्यपि 'शब्दार्थ' की अभिन्नता के सम्बन्ध में भी अनेक मत हैं किन्तु प्रतीत होने वाली अभिन्नता की व्याख्या कैसे की जाए, यह आज तक एक समस्या है। मीमांसक 'शब्द' को नित्य मानते हैं क्योंकि उन्हें शब्द की ही नित्यता के आधार पर वेद वाक्यों तथा आप्त पुरुषों द्वारा उच्चरित सूक्तियों को 'शब्द प्रमाण' की स्वीकृति देनी है। दूसरी ओर, न्याय सिद्धान्त के अन्तर्गत शब्द और उसके अर्थ के बीच नियत सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। 'नियत' शब्द से ही नियत अर्थ का बोध सम्भव है। पद तथा अर्थ के बीच निहित सम्बन्ध को 'संकेत' या शक्ति मानते हैं, और संकेत के निम्नलिखित साधन हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

इन साधनों से पद में निहित अर्थ की प्रकृति का बोध होता है। इस प्रकार न्याय दर्शन के अन्तर्गत शब्दार्थ के अनित्य दर्शन को स्थापित करते हुए उसे 'जात्याकृतिविशिष्टव्यक्ति' ही सीमित रखा। वैयाकरणों का सिद्धान्त निश्चित ही, इन दोनों से भिन्न है। उनके अनुसार श्रूयमाण ध्वनि ही विनष्ट होती है। स्फोटसिद्धान्त का आधार ग्रहण करते हुए उन्होंने श्रूयमाण तथा बुद्धिस्थ पद के सामान्य उच्चारण के विनष्ट तथा निहित अर्थशक्ति के नित्य होने की धारणा द्वारा अपने मत को स्पष्ट किया है। मुंह से निकली हुई तथा कानों से सुनी हुई ध्वनि के विनष्ट होने के बाद भी अर्थशक्ति नित्य रूप से वर्तमान रहती है।

भामह ने काव्य की वक्रता या सौन्दर्य की रचना के लिए व्याकरण के ज्ञान को अनिवार्य माना है। काव्य पथिक को व्याकरण का दुर्गम कान्तारपथ प्रयत्न-पूर्वक पार करना पड़ता है। आचार्य भामह शब्द को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

अन्य मत	भामह मत
न्याय दर्शन (क) अग्नि के लिए 'धूम्र' और 'प्रकाश' को अग्नि कहकर शब्दायित करना अनौचित्य है, क्योंकि धूम्र और प्रकाश से अग्नि का बोध नहीं होता, अग्नि के अस्तित्व का बोध होता है । **व्याकरण दर्शन** (ख) अर्थ की प्रतीति के लिए उच्चरित अकारादि वर्णों का सार्थक समूह शब्द है। एक-एक अर्थहीन वर्णों का समुदाय अर्थवान नहीं हो सकता ।	इयन्त ईदृशा वर्णा ईदृगार्थाभिधायिनः । व्यवहाराय लोकश्च प्रागित्थं समयः कृतः ॥ स कूटस्थोऽनपायी च, नादादन्यश्च कथ्यते मन्दाः सांकेतिकानर्थान्मन्यते परमार्थिकान् ॥ इतने, ऐसे वर्ण, ऐसे अर्थ का बोध कराने वाला लोक व्यवहार के लिए इंगित किया गया है । वह (शब्द) नित्य, अनपायी (अविनाशी) तथा नाद (ध्वनि) से भिन्न है । मन्दबुद्धि वाले सांकेतिक अर्थों को पारमार्थिक मानते हैं ।

शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध

अन्य मत	भामह मत
बौद्धमत (क) अन्य वस्तुओं के अपोह (अभावात्मक सम्बन्ध) से अर्थ का बोध होता है— जैसे— कमल = पुष्प विशेष गाय = पशु विशेष	द्रव्य, क्रिया, जाति और गुण के भेद से शब्द चार प्रकार के होते हैं । दूसरे, डित्थादि यदृच्छा शब्दों को स्वीकार करते हैं ।
(ख) वर्णभेद के कारण शब्द भिन्न होता है और अपने अंशों के विकल्प के कारण स्वयं वर्ण भिन्न होते हैं । उसका अर्थ क्या होगा । यह मार्ग अत्यन्त दुष्कर है ।	विभिन्न भाषाओं और अनन्त अर्थों के बोधक इन शब्दों की विशेषता सहित सीमा कौन निर्धारित कर सकता है ?

शब्द व्यवहार

जो शब्द वक्रोक्ति प्रवण कवियों के प्रयोग के योग्य हैं, और जो प्रयोग के योग्य नहीं हैं, यहाँ उनका विवेचन किया जा रहा है ।

वक्रवाचा कवीनां ये प्रयोगं प्रतिसाधवः ।
प्रयोक्तुं ये न युक्ताश्च तद्विवेकोऽयमुच्यते ॥

आचार्य भामह शब्दार्थ के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए स्वीकार करते हैं कि काव्य का सम्बन्ध लोकार्थ से है। शास्त्रदि में निहित अर्थ काव्य के लिए उतना उपयोगी नहीं है—

तज्ज्ञैः काव्यप्रयोगेषु तत्प्रादुष्कृतमन्यथा ।
तत्र लोकाश्रयं काव्यमार्गमास्तत्त्वदर्शिनः ॥

उसके (न्यायशास्त्र के) जानने वाले ने काव्य प्रयोगों में उसका भिन्न प्रकार से उद्‌घाटन किया है। उनमें (शास्त्र तथा काव्य में अन्तर यह है कि) काव्य लोकाश्रित होता है और आगम तत्त्वदर्शी।

प्रतिज्ञा

शास्त्र की प्रतिज्ञा	काव्य की प्रतिज्ञा
विविधास्पद धर्मेण धर्मी कृत विशेषणः	इष्टकार्याम्युपगमं प्रतिज्ञां प्रतिजानते।
पक्षस्तस्य च निर्देशः प्रतिज्ञेत्यभिधीयते	धर्मार्थ कामकोपानां संश्रयात्सा चतुर्विधा ॥

इसी प्रकार हेतु दृष्टान्तादि की भी व्याख्या की गई है।

आचार्य भामह के इन प्रयासों का अर्थ यही है कि वे निरन्तर इस तथ्य की ओर सजगता प्रकट करते हैं कि शास्त्र एवं काव्य की अर्थचेतना का अन्तर स्पष्ट रहे। शब्दार्थ सम्बन्ध को वे नाद तथा ध्वनि का व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। वे दोनों की नित्य सत्ता मानते हैं, स्फोटवादियों की भाँति ध्वनि को अनित्य नहीं मानते—

शपथैरपि चादेयं वचो न स्फोटवादिनाम्।
नभः कुसुममस्तीति श्रद्दाध्यात्कःसचेतनः ॥

इसके बाद भी, वह पाणिनि एवं पतञ्जलि मतों को स्वीकार करते हैं—

विद्यानां सततमपाश्रयोऽपरासां,
ता सूक्तान्न च विरुणद्धि कांश्चिदर्थान्।
श्रद्धेयं जगति मतं हि पाणिनीयं,
माध्यस्थ्याद्भवति न कस्यचित्प्रमाणम् ॥

पाणिनी का मत इसलिए श्रद्धा का विषय है क्योंकि वह समस्त विद्याओं में प्रतिपादित विषयों का विरोध नहीं करता और इस मध्यस्थता के कारण वह सबके लिए प्रमाणभूत है। यही नहीं, भामह एक श्लोक के माध्यम से पातञ्जलि मत की ओर स्वीकृत भाव से भी संकेत करते हैं—

नानाभाषा विषयिणामपर्यन्तार्थवर्तिनाम्।
इयत्ता केन वाऽमीषा विशेषादवधार्यते ॥

विभिन्न भाषाओं तथा अनन्तों अर्थों के द्योतक इन (व्यवहार में प्रचलित) शब्दों की विशेषता सहित सीमा कौन निर्धारित कर सकता है ?

ऐसा प्रतीत होता है कि वैयाकरणों के अन्तर्गत स्फोटवादियों का मत इन्हें मान्य नहीं था, ये मध्यममार्गी लोकव्यवहार में प्रचलित शब्दार्थमत के स्वीकर्ता पणिनि-पातञ्जलि मत के समर्थक रहे हैं। इनके अनुसार काव्य के 'शब्द' तथा 'अर्थ' के वे रूप जो लोकव्यवहार के लिए इंगित किये हैं, साथ ही वे नित्य अविनाशी एवं उच्चरित ध्वनिरूप में प्रतीति के विषय भी बनते हैं, ग्राह्य है। 'शब्दार्थ' की यह नित्यता मीमांसको से पूर्णतया भिन्न है। लोक व्यवहार के अन्तर्गत शब्द के साथ अभिन्नतः जुड़े हुए, प्रतीतियोग्य तथा सामान्य व्यवहार संकेतों से पुष्टार्थ ही काव्यार्थ के विषय है। कवि अपनी प्रतिभा के बल पर व्याकरण के आधार पर उन्हें सौशब्द (grammatical purity) के रूप में वक्रता से संस्पर्शित करके काव्य का विषय बनाता है। इस प्रकार आचार्य भामह का भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत सबसे बड़ा योगदान यही है कि इन्होंने शब्दार्थ को शास्त्रीयता से भिन्न करते हुए काव्यार्थ की सीमा निर्धारित की।

प्रारम्भिक काव्यशास्त्रियों ने काव्य की जीवंतता की रक्षा के लिये शास्त्रदृष्टि से उसे बचाने की भरसक चेष्टा की थी। अलङ्कार प्रकरण के विकास क्रम में वह प्रश्न अनेक रूपों में उभर कर आता है। इसे उपमा प्रसंग से स्पष्ट किया जा सकता है। अलङ्कार के विकास क्रम में उपमा को सर्वाधिक महत्त्व मिला क्योंकि यह रचना के एक महत्त्वपूर्ण मानक के रूप में स्वीकार किया गया। यह उपमा जो काव्य का मानक माना गया, अन्य शास्त्रों में भी एक विशेष आधार के रूप में ग्रहण किया जाता रहा है। न्याय दर्शन के अंतर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द के साथ उपमान एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना गया है। गौतम के न्यायसूत्र में उपमान को परिभाषित करते हुए कहा गया है—

'प्रसिद्धसार्धम्यात् साध्यसाधनमुपमानम्'

अप्रसिद्ध पदार्थ में प्रसिद्ध पदार्थ के साधर्म्य ज्ञान को उपमान माना गया है। उपमान आचार्य यास्क के पूर्व भी प्रचलित मिलता है। मीमांसासूत्र के लेखक जैमिनी ने भी इसको परिभाषित किया है। यास्क ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य गर्ग की परिभाषा निरुक्ति के अन्तर्गत प्रस्तुत की है। व्याकरण के अन्तर्गत पाणिनि इसके अनेक भेदों का व्यावहारिक तथा तार्किक रूप प्रस्तुत करते हैं। सभी उपमान का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए 'गवय' 'गाय' के सदृश 'नील गाय' पद का प्रयोग करते हैं—

ग्रामीण: प्रथमत: पश्यतो गवयादिकम् ।
सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात्सा करणं मतम् ।।
वाक्यार्थस्याति देशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते ।
गवयादि पदानां तु शक्तिधीरुपमाफलम् ।।

शास्त्रों में निर्दिष्ट इस 'उपमा प्रसंग' को काव्योपमा प्रसंग से पृथक् कैसे किया जाए, यह इन प्रारम्भिक काव्यशास्त्रियों के समक्ष एक समस्या थी। इस दिशा में आचार्य मेधाविन् ने प्रथम प्रयास किया जिसका उल्लेख भामह काव्यालंकार के अन्तर्गत उपमा दोष के अन्तर्गत करते हैं—

हीनताऽसम्भवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः ।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतामपि ।।
त एत उपमा दोषाः सप्तमेधाविनोदिता ।।

अर्थात्—

हीनता, असंभव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमान का आधिक्य, उपमान का असादृश्य।

आचार्य दण्डी भी इस ओर संकेत करते हैं—

न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ।।

अर्थात्—

लिङ्गहीनता, वचनहीनता, उपमान के सादृश्य की न्यूनता या अधिकता आदि।

इदृशं वर्ज्यन्ते सद्भिः कारणं तत्र चिन्त्यताम् ।
गुण दोष विचाराय स्वयमेव मनीषिभिः ।।

इस प्रकार के प्रयोग काव्य में समादृत नहीं होते, अतः मनीषियों को इसके गुण-दोषों पर स्वतः विचार कर लेना चाहिये।

आचार्य वामन भी इस दिशा में सचेष्टता बरतते हुए कहते हैं—

हीनत्व, अधिकत्व, लिङ्गभेद, वचनभेद, असादृश्य एव असंभवता ये उपमा के छः दोष हैं।

इस उपमादोष के प्रति सचेष्टता का अर्थ यही है कि काव्योक्ति के अंतर्गत उपमान प्रयोग की दिशायें पूर्णतया भिन्न हैं और उनका सम्बन्ध वैचारिकता से न होकर काव्य सौन्दर्य के विधान से है।

इस प्रकार, यह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र के ये प्रारम्भिक चिन्तक काव्यमान्यताओं को विविध शास्त्रदृष्टियों से पृथक्

करते हुए विकसित करने के प्रयास में सचेष्ट थे और इनकी दृष्टि निरंतर इस तथ्य की जुड़ी रही है कि 'काव्यशास्त्र' का शब्दार्थमय सैद्धान्तिक स्वरूप किस प्रकार खड़ा हो ? इस परम्परा ने आगे चलकर 'रस' तत्त्व को भी काव्य की अनिवार्यताओं से अंगभूत किया। शब्द तथा अर्थ की ही भाँति रस को भी काव्य की मूलचेतना से जोड़ना उसकी प्राथमिक स्वरूप रचना से ही सम्बन्धित है।

'शब्द' तथा 'अर्थ' काव्य रचना के अपरिहार्य तत्त्व हैं, आरोपित नहीं। ये काव्य शरीर के आधार एवं चैतन्य हैं। 'शब्दार्थ' रचना ही काव्य का मूल व्यापार है। शब्दार्थ रचना को ध्यान में रखते हुए 'रस' काव्य से प्रत्यक्षतः नहीं जुड़ता। वह अवान्तर व्यापार है। काव्य में 'पाठक' की आवश्यकता को अनिवार्य बना देने पर 'रस व्यापार' को काव्य रचना की अभिन्नता के साथ जोड़ने का प्रयास किया गया। पाठक की समस्या के अतिरिक्त और भी तत्त्व हैं, जिन्हें काव्य का परिणाम कहा जा सकता है। शब्दार्थ के संयोग से लोक या शास्त्र के शब्दार्थ से भिन्न काव्य का अर्थबोध के स्थान पर 'आस्वादकर' परिणाम निकलता है। आचार्य भरत ने व्यंजन या पानक रस के उदाहरण के माध्यम से 'व्यंजन' एवं 'पानक रस' को रस न कहकर उससे निकलने वाले परिणाम 'अपूर्व आस्वाद' को रस की संज्ञा दी। काव्य के अन्तर्गत रस व्यापार को प्रारम्भ में इसीलिए उपेक्षित समझा गया क्योंकि इन प्रारम्भिक आचार्यों की दृष्टि में शब्दार्थ रचना ही प्रमुख व्यापार रहा है। इससे निकलने वाले आस्वाद के लिए भामह ने कहा है—

धर्मार्थ काम मोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्य निबन्धनम्॥

'प्रीति' शब्द काव्य से निष्पन्न होने वाले 'आस्वाद' के लिए कथित है। आचार्य दण्डी काव्य के आस्वादकर तत्त्व की ओर संकेत करते हैं—

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रस स्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता॥

वाक्य तथा वस्तु (शब्द एवं अर्थ) में रस की स्थिति वर्तमान है और मधुर भाव (गुण) रस युक्त होता है, जिसके द्वारा बुद्धिमान (पाठक) उसी प्रकार छकित और हर्षित होता है, जिस पर शहद से सम्पर्कित होकर मधुमक्खियाँ।

आचार्य दण्डी काव्य में माधुर्य के आस्वादन को 'रस' कहते हैं जिसका परिणाम 'छकित और आनन्दित' होना बताया है। आचार्य दण्डी रस दशा तक पाठक को पहुँचाने का प्रयास अवश्य करते हैं किन्तु आस्वाद को रस

प्रक्रिया से सम्बद्ध नहीं करते । आस्वाद के सम्बन्ध में यह एक कथन मात्र है, जिसमें वे आचार्य वामन भामह की धारणा को दुहराते हैं—

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थ प्रीति कीर्ति हेतुत्वात् ।

कीर्ति के सम्बन्ध में तीन श्लोकों को उद्धृत करता हुआ वह 'प्रीति' (आनन्द) को काव्य का परिणाम बताता है । आचार्य रुद्रट एक श्लोक के माध्यम से काव्य के परिणाम की ओर चर्चा करते हैं—

"कवि चिरस्थायी महान् निर्मल आह्लादिक समस्त जनों की प्रिय राजादि के यश का विस्तार करता है ।"

इस वाक्य में काव्य फल 'आह्लादिक' इसी अर्थ में प्रयुक्त है । आचार्य कुन्तक का वाक्य इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं—

"वह (रस) काव्यामृत को समझने वाले पुरुषों के अन्तःकरण में चतुर्थ वर्ग के फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करने वाला एक साधन है ।" आचार्य कुन्तक तक भट्टनायक के साधारणीकरण की व्याख्या प्रचलित हो चुकी थी, अतः वे रस की तीनों अनिवार्यताओं—सहृदय, सहृदय के अन्तःकरण में रसाभिव्यक्ति तथा विलक्षण आस्वाद्य रूप—को ओर संकेत करते हुए भी रस शब्द का उल्लेख नहीं करते । आचार्य भामह एवं वामन जिसे 'प्रीति' शब्द से स्पष्ट करते हैं उसके लिए कुन्तक 'अन्तश्चमत्कार' शब्द का प्रयोग करते हैं ।

रस मान्यता की व्याप्ति के पूर्व काव्य की निष्पत्ति एवं उसके आस्वाद के लिए रसेतर शब्दों के प्रयोग की यह सरणि स्पष्ट करती है कि प्रारंभिक काव्य-शास्त्रियों की दृष्टि 'शब्दार्थ रचना' के कौतुकपूर्ण व्यंजनाओं या 'पदावली लालित्य' तक ही सीमित थी । बाद में, अलंकारवादियों ने हठात् रस से अपना अलगाव सिद्ध करने के लिए आस्वाद के लिए—परिस्पन्द मनोहारिता, अन्त-श्चमत्कृति, आनन्द, चमत्कृति आदि शब्दों का प्रयोग किया ।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है, रस चेतना के दो पहलू हैं—प्रथम 'पाठक' या सहृदय है, दूसरा काव्य की अहैतुक फल निष्पत्ति । दोनों तत्व भिन्न नहीं हैं । अहैतुक फल निष्पत्ति का आधान सहृदय का हृदय है । प्रारम्भिक आचार्य इन दोनों तथ्यों पर अप्रत्यक्षतः विशेष बल देते थे । आचार्य, भामह, दण्डी, वामनादि जब लोक शब्दार्थ से काव्य-सम्मत शब्दार्थ के अलगाव की बात करते हैं तो अप्रत्यक्षतः काव्य से निष्पन्न होने वाले उसी 'अहैतुक निष्पन्न आनन्द' को ओर इंगित करते हैं किन्तु उस अहैतुक आनन्द के स्वरूप, स्वभाव, परिणाम आदि का सामान्य कथन करके उसे छोड़ देते हैं । ठीक, यही स्थिति

'पाठक' के विषय में भी हैं। आचार्य भरत ने रसभोक्ता के लिए 'सुमनस' शब्द का प्रयोग किया है—

'आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति'

यही 'सुमनस्' प्रेक्षक, सामाजिक भी है। काव्य व्याख्याता के लिए आचार्य भामह 'मनीषी, विद्वान्, सुजन' शब्दों का प्रयोग करते हैं। आचार्य दण्डी इनके लिए विदग्ध, सतां (सज्जन), धीमान्, सूरिन्, शास्त्रज्ञ, व्युत्पन्न (मति) आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। आचार्य वामन भी 'काव्य आस्वादयिता' के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं। शुद्ध वैदर्भी रीति के 'आस्वादयिता' के सम्बन्ध में बताते हैं—तस्यामर्थ गुण सम्पदा स्वाद्या। उस वैदर्भी रीति के माध्यम से अर्थगुण का लेश तत्व भी आस्वाद्य होता है।

"आनन्दयत्यथ च कर्ण पथं प्रयाता,
चेतः सतामृतवृष्टिरिव प्रविष्टा।"

"वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचक श्री—
वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भ रीतौ,
सहृदय हृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः॥

"सत्पुरुष (सज्जनः सहृदय) के कर्ण गोचर होकर वह वैदर्भी इस प्रकार चित्त को आनन्दित करती है, मानों अमृत वर्षा हो रही हो।"

काव्यरूप वाक्य में वैदर्भी रीति से सम्पर्कित होकर शब्द सौन्दर्य स्पन्दित होने लगता है और इससे नीरस भी विशिष्ट बनकर प्रकाशित होता है। सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाला इस प्रकार का विशिष्ट पाक वैदर्भी रीति से ही उत्पन्न होता है।"

इस प्रकार काव्यार्थ के आनन्द भोग के लिए 'आस्वाद', भोक्ता के लिए 'सहृदय' एवं उसके प्रभाव के लिए रंजक (आह्लादित करने वाला) शब्दों का प्रयोग मिलता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक लोचन के अन्तर्गत 'सहृदय शब्द' की प्रथमबार प्रतिष्ठा की। ध्वन्यालोक का अपर नाम सहृदयालोक ही है। यद्यपि विद्वानों के बीच मतभेद है कि ध्वन्यालोक में 'कारिकाभाग' 'सहृदय' नामक आचार्य द्वारा लिखित है और इसकी वृत्ति और व्याख्या 'आनन्दवर्धन ने की है, जो भी हो, 'सहृदय' शब्द को विश्रुत बनाने का श्रेय आचार्य-आनन्दवर्धन को ही है। ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में प्रयुक्त 'प्रसिद्ध' शब्द की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

'यत्तत्सहृदयहृदयसुप्रसिद्धं'

या

योऽर्थः हृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः

या

सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्य लक्षणम्

या

आचार्य अभिनवगुप्त 'सहृदय' को शब्दांकित करते हुए एक विशेष अर्थ में रूढ़ करते हैं—

"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूतेमनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी भवन-योग्यता ते हृदयसंवाद मात्रः सहृदयाः"

परवर्ती विवेचकों ने 'रसिक' शब्द का प्रयोग 'रसभोक्ता' के लिए किया जो 'कामशास्त्र' की परम्परा से सम्बन्धित शब्द है।

आचार्य अभिनवगुप्त भट्टनायक के जिस मत की ओर संकेत करते हैं, उसमें रसभोक्ता के लिए 'सहृदय' शब्द कथित है—

"·········भोक्तृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूता व्यापाराः।"

ऐसा प्रतीत होता है कि रसभोक्ता के लिए रसयिता, रसिक आदि शब्दों के स्थान पर आचार्य वामन से लेकर भट्टनायक तक सहृदय का प्रयोग होने लगा था। वैसे, रामायण अयोध्याकाण्ड में 'सहृदय' शब्द का प्रयोग 'आनन्द भोक्ता' के अर्थ में मिलता है।

इस सम्पूर्ण स्थितियों पर विचार करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि काव्यशास्त्र के विवेचक आचार्य काव्य तत्त्व के मूल को अपनी तीक्ष्ण मेधा शक्ति से पकड़ने—और उसको प्रतिष्ठित करने के प्रति सचेष्ट हैं। प्रारम्भिक समय में शब्द, तदनन्तर अर्थ और उसके पश्चात् काव्यार्थ से निष्पन्न आनन्द 'रस चर्वणा' को वे उसके मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

इस मूल व्याख्या के कारण निम्नलिखित सम्प्रदायों का विकास हुआ—

१. शब्द मत : काव्य पाक, गुण, रीति

२. शब्दार्थ मत : अलंकार, वक्रोक्ति

३. अर्थमत : ध्वनि, (व्यंजना), अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य

४. काव्यास्वाद मत : रस मत

शेष, 'औचित्य', और 'कवि शिक्षा' का सम्बन्ध शास्त्र के तत्त्वार्थ विवेचन से न होकर काव्य नीति (Ethics of Poety) से है। काव्य की मूलात्मा का विवेचन इन्हीं मतों पर आधारित है, जिसकी चर्चा अन्त में की जाएगी।

काव्यशास्त्र की रचना का हेतु—काव्यशास्त्र की रचना किसके लिए की गई है, इसके विषय में इतस्ततः सांकेतिक कथन मिलते हैं। सामान्यतया इसके लिए दो उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है—

१. काव्य मर्म की समझ तथा आस्वादन की सुगमता के मार्ग को प्रशस्त करने के निमित्त

२. काव्य रचना में संलग्न होने वाले व्यक्तियों को शिक्षा (अभ्यास) का मार्ग प्रशस्त करने के लिए

इन दोनों के दो मार्ग हैं—एक का सम्बन्ध पाठक के आस्वादन से है—जिसकी ओर रस के सन्दर्भ में संकेत किया जा चुका है और दूसरे का सम्बन्ध कवि से है। 'औचित्य' तथा 'कविशिक्षा' सम्बन्धी मान्यताओं का आगे चलकर पूर्ण विकास इन्हीं ग्रन्थों की मान्यताओं से हुआ।

१. पाठक में काव्य मर्म की समझ का विकास और आस्वादन के मार्ग को प्रशस्त करना—इस सम्बन्ध में उल्लेख अत्यल्प मिलते हैं। 'सहृदय' का स्पष्टीकरण करते हुए अभिनवगुप्त ने बताया है—'काव्य का निरन्तर अध्ययन, अनुशीलन एवं अभ्यास' सहृदय चरित्र का एक अभिन्न अंग है। आचार्य दण्डी ने अपने दो श्लोकों के माध्यम से इस तथ्य की ओर इंगित किया है—

न विद्यते यद्यपि पूर्व वासना,
गुणानुबन्धि प्रतिभातमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कथमप्यनुग्रहम्॥
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती,
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा,
विदग्ध गोष्ठीषु विहर्त्तुमीशते॥

यद्यपि यह 'कवि' तथा 'भावक' दोनों के लिए समान रूप से घटित होता है फिर भी, 'विदग्ध गोष्ठियों' में काव्य विहार करना सहृदयों की अपनी परिपाटी थी।

आचार्य राजशेखर इन 'सहृदयों' को भावक की संज्ञा देते हुए उन्हें भी कवि से अभिन्न मानते हैं—

"कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः" इत्याचार्याः प्राचीन आचार्य कहते हैं, भावक और कवि में भेद नहीं होता, कवि भावक है, और

भावक भी कवि है। भावक कवि अधम दशा को नहीं प्राप्त होते, इस सन्दर्भ में वे कहते हैं—

प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम्।

राजशेखर कालिदास-मत की ओर भी संकेत करते हैं—जहाँ कवि और भावक को भिन्न-भिन्न माना गया है—

'आपरितोषात् विदुषां न मन्ये साधु प्रयोग विज्ञानम्' 'विदुषां' का अर्थ यहाँ भावक ही है, जो नाट्यकर्ता एवं प्रयोक्ता के भिन्न है। राजशेखर के मत से ये भावक (आलोचक, सहृदय) चार प्रकार के होते हैं।

१. आरोचकी—जिन्हें किसी की अच्छी रचना कभी अच्छी नहीं लगती। (जिन्हें निरन्तर अरुचि रहती है।)

२. सतृणाभ्यवहारी—जो अच्छी-बुरी सभी रचनाओं की प्रशंसा करते हैं—जो क्षुधावशात् तृण्ण सहित खा जाते हैं।

३. मत्सरी—मात्सर्य रहित गुणज्ञ आलोचक

४. तत्त्वाभिनिवेशी—वह जो काव्य तत्व के मर्म में गहरी पैठ रखते हैं—राजशेखर के अनुसार ये हजारों में एकाध-विरले मिलते हैं—

शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः,
सान्द्रं लेढि् रसामृतं विचिनुते तात्पर्य मुद्रां च यः।
पुण्यैः सङ्घटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां,
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः।

सच्चे भावक के अभाव से हृदय में अत्यधिक दुख का अनुभव करते हुए किसी कवि को बड़े ही पुण्य प्रभाव से काव्य रचना के परिश्रम को जानने वाला विद्वान भावक प्राप्त होता है—जो शब्दों की रचना विधि का भलीभाँति विवेचन करता है, सूक्तियों से आह्लादित होता है, काव्य के सघन रसामृत का पान करता है और रचना के गूढ़ तात्पर्य को खोज निकालता है।

भावक के अनेक रूपों तथा लक्षणों की ओर संकेत करते हुए राजशेखर उसे कवि तुल्य ही मानते हैं। व्यक्ति कारयित्री प्रतिभा से रचना करता है और भावयित्री प्रतिभा से उसका विवेचन तथा रसास्वादन। 'रसास्वादन' की विशिष्ट योग्यता (तन्मयीभवन योग्यता) की ओर संकेत किया गया है। यदि कवि के लिए सम्पूर्ण वाङ्मय रचना के पूर्व अपेक्षित है तो भावक का दायित्व इससे भी कहीं गुरुतर है। सामाजिक, विदग्ध, रसिक, तत्त्वान्वेषी, सुमनस, सहृदय आदि रूपों में निर्दिष्ट सहृदय सापेक्ष्य ही रस की व्याख्या की गई है, किन्तु शास्त्रीय

प्रणाली का अनुगमन करने के कारण भारतीय काव्यशास्त्र के चिन्तकों ने इस पक्ष पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

२. काव्य रचना में संलग्न होने वाले व्यक्तियों के लिए काव्य शिक्षा—भारतीय काव्यशास्त्र रचना का मुख्य दृष्टिकोण काव्य मार्ग पर सन्नद्ध कवि के लिए काव्य के सदसद् का विवेक प्रदान करते हुए उसके पथ को प्रशस्त करना ही रहा है। आचार्य दण्डी, भामह, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तल आदि सभी आचार्य कवि मार्ग की व्यवस्था के लिए अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की रचना को आदर्श मानते हैं। कवि शिक्षा सम्प्रदाय के अन्तर्गत इस तथ्य की विशेष रूप से व्याख्या की गई है। परवर्ती काल में राजशेखर ने व्यवस्थित रूप से 'कवि-शिक्षा' पर ग्रंथ लिखकर इस आशय को स्पष्ट किया। इसकी सुदीर्घ परम्परा परवर्ती काल में अनेक शतियों तक दिखाई पड़ती है।

वस्तुनिष्ठ विवेचन—भारतीय काव्यशास्त्र मूलतः काव्य का वस्तुनिष्ठ विवेचन प्रस्तुत करता है। अधिक-से-अधिक 'सहृदय' को छूने का प्रयत्न मात्र इसमें वर्तमान है। शब्दार्थ और उसके परिणाम के रूप में आनन्द या रस का तटस्थ एवं गम्भीर विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र की उपलब्धि है। शब्द और अर्थरचना की गहनतम वृत्तियों को उद्घाटित करने का प्रयास इस शास्त्र में दिखाई पड़ता है। रस का विवेचन भी इसी रूप में हुआ है। विशेष रूप में, मानव मनोविज्ञान के आधार पर विभाव, अनुभाव, संचारि एवं स्थायी भाव की सूक्ष्म दशाओं का शास्त्रबद्ध निरूपण इस शास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है। 'रसभोक्ता' या सहृदय भावक के विषय में भी शास्त्रबद्ध विवेचन मिलता है। कुल मिलाकर, भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन की प्रकृति वस्तु-निष्ठता की ही है।

इस पद्धति में जहाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुनिष्ठ तत्त्वों के विवेचन की दृष्टि दिखाई पड़ती है, वहीं सबसे बड़ा घातक परिणाम काव्यशास्त्रीय चिन्तन को भोगना पड़ा है। रूढ़ तथा निबद्ध प्रतिमान की बार-बार निष्क्रिय आवृत्ति एवं व्यवहार रचनात्मक गतिशीलता के लिए अवरोध का कार्य करते रहे हैं। एक बंधे-बँधाये ढांचे के अन्तर्गत विवेचन काव्य की जीवन्तता तथा गतिशीलता के लिए मारक का कार्य करता रहा है। भारतीय काव्य रचना में सक्रिय सचेतनता के ह्रास का उत्तरदायी भी यही जड़ एवं रूढ़ विवेचन माना जाता है। सम्पूर्ण शास्त्रीय चिन्तन पूर्णरूपेण एक कालावधि में रूढ़ तथा साम्प्रदायिक होकर काव्य प्रतिभा को स्खलित करने का महत्त्वपूर्ण कारण बना है।

इस वस्तुनिष्ठ विवेचन पद्धति का दूसरा दोष 'कवि व्यक्तित्व के गतिशील

तथा काव्य में अभिव्यक्त सृजनशील वैयक्तिक उपलब्धि' को पूर्णतः उपेक्षित करना रहा है। कवि की वैयक्तिकता और उसकी कृति विशेष में अभिव्यक्त रचनात्मक मौलिकता के पनपने, विकसित होने एवं विश्लेषित करने के प्रति गहरी उपेक्षा से भारतीय काव्य को बड़ा आघात् पहुँचा है। इसके लिए भारतीय काव्य शास्त्र ही एक मात्र उत्तरदायी है। कवि प्रतिभा के विवेचन के अन्तर्गत इस तथ्य को बड़ी सरलता से स्वीकार किया जा सकता था किन्तु यह विवेचन शास्त्रीय प्रकृति के अनुकूल नहीं रहा। काव्य-रचना-व्यापार नितान्त वस्तुनिष्ठ प्रयास मात्र नहीं है। वह शब्द रचना नहीं है। शब्द रचना के माध्यम से वह कवि की रचनात्मकता आत्मिकता की पहचान है। संस्कृत काव्यशास्त्र के विवेचकों की दृष्टि इस दिशा में नहीं गई कि कवि के द्वारा रचे गए काव्य के 'वर्ण-वर्ण' उसकी अपनी प्रतिच्छवि है—वह वर्ण विन्यास से लेकर प्रबंध विन्यास तक की रचना नहीं है। इस वस्तुनिष्ठता के दो कारण बताये जाते हैं—

१. शास्त्रमुखापेक्षिता

२. सामन्तवाद का अतिशय प्रभाव

परवर्ती साहित्य में इन दोनों पर गहरा आघात् पहुँचाते हुए इनके विपरीत काव्य रचना की परिपाटी विकसित हुई। इस साहित्य-रचना की शुरुआत काव्यशास्त्रीय मुखापेक्षिता तथा सामन्तवादी अतिशयता के प्रभाव की प्रतिक्रिया से हुआ है भारतीय काव्यशास्त्र जिसे अस्वीकार करता है, उसी को ये कवि अपना प्रस्थान विन्दु मानते हैं। प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन हिन्दी और फिर हिन्दी साहित्य की आत्मानुभव एवं लोकचेतना से सम्पृक्त रचनाधारा ६ठीं शती से लेकर २० शती तक विकसित हुई, जिसका शास्त्रीय विवेचन 'हिन्दी काव्य-शास्त्र' के अन्तर्गत किया जाएगा।

भारतीय काव्य शास्त्र के विविध सिद्धान्त

काव्य हेतु

काव्य सृजन की मूल प्रक्रिया की चर्चा करते हुए संस्कृत आचार्यों ने काव्य हेतु की चर्चा प्रायः काव्य प्रयोजन के पश्चात् की है । इस समस्या पर आचार्य भामह ने सर्वप्रथम प्रकाश डाला । उनके एतद्विषयक वाक्य हैं—

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जड़धियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ।
शब्द छन्दोऽभिधानार्थां इतिहासाश्रया कथाः ।
लोकोयुक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्य गैह्य॑मी ।
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वतद्विदुपासनाम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धाश्च कृत्व कार्यः काव्यक्रियादरः ।[१]

गुरु के उपदेश से जड़बुद्धि भी शास्त्रों का अध्ययन कर लेते हैं किन्तु काव्य किसी प्रतिभाशाली हो ही कभी-कभी स्फुरित होता है ।

व्याकरण, छन्द, कोश अर्थ, इतिहासाश्रित कथायें, लोकव्यवहार, तर्कशास्त्र और कलाओं का काव्य रचना के लिए मनन करना चाहिये ।

शब्द और अर्थ का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर, काव्यज्ञों की उपासना करके तथा अन्य रचनाओं को देखकर काव्य प्रणयन में प्रवृत होना चाहिये ।

इस प्रकार आचार्य भामह के अनुसार काव्य सृजन के लिए कवि प्रतिभा बहुज्ञता (शास्त्रज्ञान, निपुणता) एवं अभ्यास आवश्यक है । इन्होंने प्रतिभा पर विशेष बल दिया है । बहुज्ञता तथा अभ्यास भी अपेक्षित तत्व हैं । बहुज्ञता के लिए वे एक अन्य स्थल पर कहते हैं कि—

अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेय सीमा भुवः स्थितेः ।
यत्नोविदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः ।

---

१. काव्यालंकार—भामह—सर्वत्र, डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा की व्याख्या की सहायता ली गई है ।

भूलोक की स्थिति पर्यन्त यश चाहने वाले को ज्ञातव्य (सभी विषयों को) जानकर काव्य निर्माण का प्रयास करना चाहिये। उनके अनुसार 'प्रतिभा' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य दण्डी काव्य हेतु की चर्चा करते हुए कहते हैं—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥

न विद्यते यद्यपि पूर्व वासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्
श्रुतेनयत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।

पूर्वजन्म के संस्कारों से सम्पन्न, ईश्वर प्रदत्त, स्वाभाविक प्रतिभा प्रज्ञा विविध विशुद्ध ज्ञान से युक्त अनेक शास्त्रविद् तथा अत्यन्त दृढ़ अभ्यास से सब एकत्र होकर काव्य सम्पदा के कारण बनते हैं।

यद्यपि वह अलौकिक पूर्व संस्कारों के गुणों से सम्बन्धित सहज प्रतिभा नहीं है, फिर भी काव्य आदि के अनुशीलन तथा अभ्यासादि से वाग्देवी सरस्वती निश्चय ही कोई अलभ्य अनुग्रह करती हैं।

इसलिये कवित्व जनित यश चाहने वाले के लिए आलस्य रहित होकर श्रमपूर्वक सरस्वती की उपासना करनी चाहिये।

आचार्य दण्डी प्रतिभा, बहुज्ञता एवं दृढ़ अभ्यास को कविता का हेतु बताते हैं। काव्य प्रतिभा के अभाव में भी बहुज्ञता एवं अभ्यास से काव्यसृजन सम्भव हैं। आलस्य रहित होकर श्रमपूर्वक अभ्यास नितान्त आवश्यक है। आचार्य दण्डी प्रतिभा और व्युत्पन्नता को स्वीकार करते हुए सबसे अधिक बल 'अभ्यास' पर देते हैं।

आचार्य वामन प्रतिभा, बहुज्ञता एवं अभ्यास तीनों की चर्चा करते हैं। बहुज्ञता की चर्चा करते हुए वे कहते हैं—

'शब्दस्मृत्यभिधानकोशाच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीति पूर्वोविद्या'

यही नहीं, कवि के लिए उपयोगी छः प्रकीर्णकों की चर्चा करते हुए कहते हैं—

लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्

१. लक्ष्यत्व—अन्यों के काव्य का पुनः पुनः अवलोकन या अभ्यास अभ्यास से व्युत्पत्ति आती है—

अन्येषां काव्येषु परिचयो लक्ष्यत्वम्। ततो हि काव्यबन्धस्य व्युत्पत्तिर्भवति।

२. **अभियोग**—तत्रोद्यमोऽभियोग:—काव्य रचना के लिए उद्यम ही अभियोग है।
३. वृद्धसेवा—काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा—काव्यात्मक उपदेश देने वाले गुरुओं की सेवा वृद्ध सेवा है।
४. **अवेक्षण**—पदन्यास के प्रति सर्तकता। पाकसिद्धि इसका मूल तत्त्व है।
५. प्रतिभा—कविता के लिए बीजभूत तत्त्व प्रतिभा है। वह इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

कवित्वस्य बीजं कवित्व बीजम्। जन्ममान्तरागत संस्कार विशेष: कश्चित्। यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते। निष्पन्नं वा हास्याऽऽयतनं स्यात्।

६. **अवधान**—चित्त की एकाग्रता ही अवधान है। एकचित्त (समाधि) ही अर्थों को देखता है। इस समाधि के लिए 'निर्जनता' तथा ब्राह्ममुहूर्त काल आवश्यक है।

सामान्यत: आचार्य वामन के अनुसार काव्य हेतु को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, १. बहुज्ञता, २. प्रकीर्ण

उसके अनुसार बहुज्ञता नितान्त आवश्यक है। इसके अन्तर्गत व्याकरण से शब्दशुद्धि (शब्दस्मृति), अभिधान कोश से पदार्थ निर्णय, छन्दशास्त्र से वृत्त संशयछेद, कलाशास्त्र से कलातत्त्वों का ज्ञान, कामशास्त्र से कामोचित् व्यवहार ज्ञान, दण्डनीति से नय-अपनय का ज्ञान काव्य रचना के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

आचार्य वामन के अनुसार—'बहुज्ञता' काव्य का मूल हेतु है। यही काव्य-शरीर के निर्माण का साधन भी है। इसके पश्चात् 'प्रतिभा' का स्थान आता है। वे प्रतिभा के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। प्रतिभा के बिना काव्य सम्भव नहीं है, यदि सम्भव भी हो तो वह हास्य का विषय बनता है। अन्य तत्त्वों में—लक्ष्यत्व, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण तथा अवधान हैं।

आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार 'बहुज्ञता तथा प्रतिभा' काव्य के मूल हेतु हैं—

प्रसन्नपद नव्यार्थयुक्त्युद्बोध विधायिनि।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धि: प्रतिभा सर्वतोमुखी॥

वे पुन: बहुज्ञता की चर्चा करते हुए कहते हैं—

"पदवाक्य प्रमाण साहित्यच्छन्दोऽलंकार श्रुतिस्मृति पुराणेतिहासागम नाट्यभिधान कोशकामार्थ योगादिरूपम्"

इनकी दृष्टि में 'प्रतिभा' काव्य हेतु का मूल कारण है।

आचार्य रुद्रट शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तीन तत्त्वों का उल्लेख करते हैं। शास्त्रज्ञान के लिए 'व्युत्पन्नता' शब्द का प्रयोग ये प्रथम बार करते हैं तथा प्रतिभा के लिए 'शक्ति' शब्द का। राजशेखर के अनुसार अभ्यास एवं समाधि का संयोग शक्ति है।

तस्यासारनिरासात् सारग्रहणाच्च चारुणः ग्रहणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्ति व्युत्पत्तिरभ्यास॥
मनसि सदा सुमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौशक्तिः

अर्थात्, जिसके होने पर अच्छी तरह एकाग्र किये हुए मन में, अनेक प्रकार के अर्थों की स्फूर्ति होती हैं तथा सरल एवं सुन्दर पद सूझ पड़ते हैं, उसका नाम शक्ति हैं।

प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुंसासह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन केवल प्रतिभा की चर्चा करते हैं—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तम् प्रतिभा विशेषम्॥[1]

न काव्यार्थ विरामोऽस्ति यदिस्यात् प्रतिभागुणम्॥

आस्वाद युक्त उस (ध्वनिरूप) अर्थ तत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी, अलौकिक, स्फुरणशील, प्रतिभा विशिष्ट को व्यक्त करती है। महान् कवियों की प्रतिभा विरल होती है।

प्रतिभागुण होने पर काव्यरचना कभी भी समाप्त नहीं होती।

[आचार्य कुन्तक भी व्यंग्यभाव से द्वितीय तथा तृतीय उन्मेष में काव्य हेतु पर प्रकाश डालते हैं]

काव्य-मीमांसा के अन्तर्गत 'काव्यहेतु' की समस्या पर विशद विवेचन मिलता है। बुद्धि के तीन भेदों स्मृति, मति, प्रज्ञा की चर्चा करते हुए प्रथम वह तीनों के समन्वय पर बल देता है किन्तु 'भविष्य या दीर्घदर्शिनी प्रज्ञा' को वह काव्य के हेतु के लिए आवश्यक मानता है। राजशेखर परम्परा के उन हेतुओं की चर्चा करता है, जिनकी इसके पूर्ववर्ती आचार्यों ने की है। इनमें जैन

---

१. ध्वन्यालोक, व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर

आचार्य मंगल तथा श्याम देव विशिष्ट हैं। उसने काव्य हेतु के लिए निम्नलिखित तत्त्वों की चर्चा की है—समाधि, अभ्यास और इन दोनों के संभोग से उत्पन्न 'शक्ति' प्रतिभा तथा व्युत्पन्नता।

समाधि—श्याम देव के अनुसार काव्य कर्म समाधि का ही परिणाम है।

अभ्यास—आचार्य मंगल के अनुसार 'अभ्यास' काव्य के लिए मूल हेतु है। ये व्युत्पत्ति एवं प्रतिभा को अभ्यास से हीन बताते हैं।

शक्ति—राजशेखर के मतानुसार दोनों तत्त्व आवश्यक हैं। दोनों मिलकर 'शक्ति' का कार्य करते हैं।

इस प्रकार राजेश्वर के अनुसार काव्य के तीन हेतु हैं—

१. शक्ति २. प्रतिभा ३. व्युत्पत्ति

काव्य हेतु के सन्दर्भ में शक्ति 'कर्तृ' रूप है और प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति कर्म-रूप।

आचार्य मम्मट काव्य हेतु की चर्चा करते हुए कहते हैं—

शक्ति, निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

शक्ति (प्रतिभा) और लोक व्यवहार तथा शास्त्रों और काव्यादिकों के विमर्श से उत्पन्न निपुणता अर्थात् व्युत्पति एवं काव्यज्ञ की शिक्षा का अभ्यास ये काव्य के तीन हेतु हैं।

जयदेव के अनुसार प्रतिभा, निपुणता तथा अभ्यास ये काव्य के हेतु हैं—

प्रतिभैवश्रुताभ्यास सहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धः बीजात्पत्तिर्लतामिव॥

पण्डितराज जगन्नाथ प्रतिभा, अभ्यास, व्युत्पन्नता की ओर संकेत अवश्य करते हैं किन्तु उनके अनुसार प्रतिभा काव्यसेतु है। व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के पोषक न होकर प्रतिभा के पोषक हैं—तस्य (काव्यस्य) च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। तस्याश्च हेतुः क्वचिद्दैवता महापुरुष प्रसादादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षण व्युत्पति, काव्य करणाभ्यासो।

अलंकार शेखर के अन्तर्गत केशव मिश्र बताते हैं—

तद् हेतुः प्रतिभादिकम्—

तदाह—

प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यासः काव्यस्त्रैषा व्यवस्थितिः॥

व्युत्पत्तिर्नानातन्त्रज्ञानम्—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

शक्ति पुण्य विशेष । स एव प्रतिभेत्युच्यते—

'व्युत्पत्तिः शक्तिरभ्यासस्त्रितयं काव्यसाधनम्'

इत्यपि श्रीपादस्तु—

परिशीलित काव्यवर्त्मनां कवि संसर्ग विशुद्धचेतसाम् ।
परिभावयतामनुक्षणं कविता पाणितले निषीदति ॥

वृद्धास्तु—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।
अनन्दाश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्य संपदः ॥
मनः प्रसत्तिः प्रतिभा प्रातकालेऽभियोगिता ।
अनेकशास्त्र दर्शित्वमित्यर्था लोकहेतवः ॥
द्विश्त्रिकोष परिज्ञानं द्विश्त्रि व्याकरणज्ञता ।
छन्दोविद्याप्रवीणत्वं काव्येऽवश्यमपेक्षते ॥

इन सम्पूर्ण कथनों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

१. प्रतिभा विशेष महत्त्वपूर्ण है, फिर भी, इसके साथ शास्त्र ज्ञान तथा अभ्यास भी आवश्यक है । आचार्य भामह, रुद्रट, मम्मट केशवमिश्र आदि परवर्ती आचार्यों के अनुसार प्रतिभा व्युत्पन्नता एवं अभ्यास के बीच क्रमशः उत्पाद्य-उत्पादक, एवं पोष्य-पोषक सम्बन्ध है । वाग्भट्ट एवं जयदेव यही स्वीकार करते हैं । वे उत्पत्ति के मूल हेतु प्रतिभा को ही स्वीकार करते हैं किन्तु व्युत्पन्नता एवं अभ्यास का तिरस्कार नहीं करते ।

२. दूसरा वर्ग प्रतिभा को स्वीकार करता है किन्तु यह भी स्वीकार करता है कि बिना प्रतिभा के भी काव्य हो सकता है । आचार्य दण्डी अभ्यास एवं वामन काव्य ज्ञान को आवश्यक मानते हैं ।

३. आचार्य मंगल अभ्यास को सर्वोच्च काव्य हेतु मानते हैं ।

४. आचार्य श्यामदेव समाधि को काव्य हेतु मानते हैं ।

५. राजशेखर के अनुसार अभ्यास और समाधि का समन्वित रूप एवं शक्ति, प्रतिभा एवं व्युत्पन्नता काव्य हेतु हैं । शक्ति कर्तृ स्वरूपा है और प्रतिभा

तथा व्युत्पन्नता कर्म स्वरूपा। शक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, इसी शक्ति सम्पन्न व्यक्ति में भी प्रतिभा उत्पन्न होती है।

६. कुछ केवल प्रतिभा को ही काव्य हेतु स्वीकार करते हैं। आनन्द वर्धन, अभिनव गुप्त आदि। पण्डितराज जगन्नाथ मानते तीनों तत्त्वों को हैं किन्तु अभ्यास एवं व्युत्पन्नता को प्रतिभा में पर्यवसित करते हुए 'केवला प्रतिभा' का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं।

प्रतिभा

प्रतिभा के स्वरूप के विषय में मतभेद है। आचार्यों ने इसके स्वरूप का भिन्न रूपों में प्रतिपादन किया है। आचार्य दण्डी ने प्रतिभा को नैसर्गिक, पूर्व-जन्म के संस्कारों से युक्त, ईश्वर प्रदत्त विशुद्ध ज्ञान से युक्त निर्मल प्रज्ञास्वरूपा स्वीकार किया है। भामह के अनुसार सभी प्रतिभाशाली काव्य रचना में समर्थ नहीं होते, विरला भाग्यशाली ही इस दिशा में प्रवृत्त हो सकते हैं।

आचार्य वामन इसे 'जन्मान्तरागतसंस्कारविशेष' यस्मात् बिना काव्यं न निष्पद्यते' अर्थात् ये जन्म जन्मान्तरगत काव्य रचना के संस्कार विशेष हैं, जिनके बिना रचना असम्भव है। आचार्य रुद्रट प्रतिभा के स्वरूप का निरूपण न करते हुए भी इसे संस्कारगत ही स्वीकृत करते हैं। सहजा एवं उत्पाद्या में 'सहजा' का तात्पर्य ही है; प्राक्तन संस्कारों से मण्डित स्वतः स्फूर्त होने वाली काव्य प्रतिभा। इस प्रकार प्रथम वर्ग स्वीकार करता है कि प्रतिभा का अर्थ काव्य रचना के प्राक्तन संस्कार जो किसी कवि में समय आने पर स्वतः फूट पड़ते हैं।

प्रतिभा का दूसरा स्वरूप वह है, जिसकी ओर आचार्य आनन्दवर्धन, भट्टतौत एवं अभिनवगुप्त संकेत करते हैं। आनन्दवर्धन प्रत्यक्षतः इसके स्वरूप का विवेचन नहीं करते। एक स्थल पर सांकेतिक ढंग से वे 'नवनिर्माण सक्षमा' प्रतिभा की ओर संकेत करते हैं—

> दृष्टापूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
> सर्वे नवा इवा भान्ति मधुमास इवा द्रुमा॥

प्रतिभा रूपी वसंत के संसर्ग से पुराने वृक्ष में नवीन पुष्प-फल मिलते हैं। आचार्य भट्टतौत प्रतिभा को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

> स्मृतिर्व्यतीत विषया मतरागाभिगोचरा।
> बुद्धिस्तात्कलि की प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता।
> प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः॥

'नवनवोन्मेषशालिनी' कहकर जिस प्रज्ञा के स्वरूप को आचार्य भट्टतौत

स्थापित करते हैं—उसका अर्थ है, सर्वथा नवीन स्फुरण से युक्त प्रज्ञा का वह स्वरूप जो सर्वथा मौलिक वर्णना को प्रस्तुत करे। आचार्य अभिनवगुप्त इसे दूसरा नाम देते हैं—

प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणसक्षमा

× × ×

'शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीय वस्तु विषय नूतनोल्लेखशालित्वम्'

अर्थात्, सर्वथा नूतन, सर्वथा मौलिक, सर्वथा अद्भुत को रचकर प्रस्तुत करने वाली प्रज्ञा शक्ति ही प्रतिभा है ।

प्रतिभा के सम्बन्ध में एक तीसरा मत और है, जो काव्य-रचना के अधिक समीप प्रतीत होता है । वाग्भट्टालंकार के अन्तर्गत कहा गया है—

"प्रसन्नपद नव्यार्थयुक्त्युद्बोध विधायिनी ।
स्फुरन्ती सत्कवेः बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ।"

अत्यन्त मधुर, नवीन अर्थों से संयुक्त, सम्प्रेषण की सामर्थ्य से परिपूर्ण सत्कवि की बुद्धि का रचनात्मक स्फुरण ही प्रतिभा है । आचार्य राजशेखर प्रतिभा को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

या शब्दग्राममर्थ सार्थमलंकार तन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथा विधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा । अप्रतिभस्य पदार्थ सार्थः परोक्ष इव प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपिप्रत्यक्ष इव ।

शब्दों, अर्थों, अलंकारों, सुन्दर उक्तियों तथा अन्यान्य काव्य सामग्रियों को हृदय के भीतर प्रतिभासित करती है, जिसमें प्रतिभा नहीं है, उसके लिए प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अनेक पदार्थ परोक्ष से प्रतीत होते हैं, और प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति के लिए अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं ।

राजशेखर के इस कथन में प्रतिभा के दो कार्य हैं, काव्य के मर्म का उद्घाटन एवं दूसरा गहरी अन्तर्दृष्टि । दोनों के संयोग से काव्याभिव्यक्ति के अन्तर्गत प्रतिभा स्फुरित होती है ।

पण्डितराज जगन्नाथ प्रतिभा को परिभाषित करते हुए बताते हैं—'सा च काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः' अर्थात् कवि की वह अन्तर्शक्ति जो काव्य-वर्णन के अनुकूल शब्दार्थ की तद्वत् प्रस्तुति करे ।

प्रतिभा के सम्बन्ध में ये मत काव्य के रचनात्मक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए रचे गये प्रतीत होते हैं । सामान्यतया आचार्य अभिनवगुप्त के द्वारा निर्दिष्ट प्रतिभा का स्वरूप ही निर्विवाद तथा सम्प्रति स्वीकार्य है ।

कुछ विद्वानों ने प्रतिभा का अर्थ शक्ति से लगाया है, किन्तु राजशेखर शक्ति का अर्थ समाधि और अभ्यास से लगाते हैं।

समाधि

आचार्य वामन समाधि तत्त्व की ओर सर्वप्रथम संकेत करते हैं। वे इसके लिए अवधान शब्द का प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार चित्त की एकाग्रता ही अवधान है। इसी अवधान प्रक्रिया से कवि शब्दार्थ का दर्शन करता है। यह अर्थदर्शन के लिए कवि का एक विशेष प्रकार का योगाभ्यास है। राजशेखर इस समाधि के सम्बन्ध में आचार्य श्यामदेव के मत को उद्धृत करते हुए बताते हैं कि उनके अनुसार समाधि ही काव्य-रचना का एकमात्र हेतु हैं। समाधि को परिभाषित करते हुए कहते हैं 'मनसि एकाग्रता समाधिः' अर्थात् मन की एकाग्रता ही समाधि है। इस सम्बन्ध में वे एक श्लोक भी प्रस्तुत करते हैं—

सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं,
यद् गोचरे च विदुषां निपुणैक सेव्यं।
तत्सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो,
यच्चेतसो विदितनेद्यविधे समाधिः।

सरस्वती का रहस्य महान् गम्भीर और अवर्णनीय है। वह अत्यन्त निपुण विद्वानों के ज्ञान का विषय है किन्तु उसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय है, मन की समाधि या एकाग्रता।

अभ्यास

आचर्य मंगल का उल्लेख राजशेखर कृत काव्यमीमांसा में है। सम्प्रति, उनका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। अन्य काव्य हेतुओं के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं का कोई उल्लेख नहीं है। आचार्य दण्डिन् और वामन प्रतिभा और व्युत्पन्नता को स्वीकार करते हुए अभ्यास के महत्त्व को स्थापित करते हैं। दोनों के अनुसार प्रतिभा आवश्यक है। काव्य रचना के लिए निरन्तर एकनिष्ठ (समाधिपूर्वक) अध्यवसाय ही अभ्यास है। आचार्य राजशेखर समाधिपूर्वक अभ्यास को ही काव्य का मूल हेतु स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार दोनों मिल कर 'शक्ति' के रूप में जाने जाते हैं और यह काव्य-रचना के लिए कर्तृस्वरूप हैं। यही कर्तृस्वरूपा हेतु ही कर्म के रूप में प्रतिभा तथा व्युत्पन्नता है। अभ्यास के लिए एकनिष्ठ श्रम की बात आचार्य दण्डी ने की है। भामह भी इसके लिए 'यत्न' शब्द का प्रयोग करते हैं।

व्युत्पत्ति

व्युत्पन्नता शब्द का अर्थ है, संस्कार मार्जन । कवि के लिए संस्कार मार्जन अनिवार्य है, कारण कि शास्त्रादि के ज्ञान के अभाव में प्रज्ञा मलिन रहती है । आचार्य दण्डी ने 'निर्मल प्रतिभा' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है । निरन्तर अभ्यास से, काव्य से सम्बद्ध विविध कलाओं के ज्ञानादि द्वारा जन्म-जन्मान्तर से प्राप्त प्रतिभा में निखार आती है । इस प्रकार व्युत्पन्नता अर्थात् संस्कार मार्जन का मूल हेतु शास्त्रज्ञान है । आचार्य वामन शास्त्र ज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं, इसकी तुलना में अन्य तत्त्वों को (यहाँ तक कि प्रतिभा को भी) 'प्रकीर्ण' में रख देते हैं । वे कहते हैं कि काव्य शरीर का निर्माण—'शब्द स्मृति' अभिधान, कोश, छन्दशास्त्र, चित्रकला, कामशास्त्र एवं दण्डनीति' से होता है । इनके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं है । शास्त्रज्ञानादि से लिए व्युत्पन्नता शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने किया । उनके अनुसार व्युत्पत्ति का अर्थ है, सर्वज्ञता । राजशेखर ने व्युत्पत्ति प्रकरण में इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा की है । उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की परिभाषा देते हुए बताया है—

'बहुज्ञता व्युत्पत्तिः इत्याचार्याः'

अर्थात्, आचार्यों के मतों से 'बहुज्ञता' ही व्युत्पत्ति है । राजशेखर ने व्युत्पत्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

'उचितानुचित विवेको व्युत्पत्तिः'

अर्थात्, शास्त्रज्ञान की सिद्धि से 'वर्णनीय-अवर्णनीय' विषयों के प्रति विवेक ही व्युत्पत्ति है । अव्युत्पत्तिजन्य अज्ञानता कवि के लिए हानिकारक है—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगति एवावभासते ॥

कवि अपनी शक्ति से अव्युत्पत्तिजन्य अज्ञानता को छिपा सकता है, परन्तु कवि की असमर्थता से होने वाले दोष नहीं छिप पाते । उन्होंने आचार्य मंगल के मत को उद्धृत किया है, जो व्युत्पत्ति को प्रतिभा से श्रेष्ठ मानते हैं ।

कवेः संव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि ।
वैदग्धचित्त चित्तानां हेया शब्दार्थ गुम्फना ॥

काव्य-रचना में व्युत्पत्ति के बल से कवि की असमर्थता छिप जाती है । श्रोता या आलोचक कवि की अलौकिक कल्पना या भाव की ओर आकृष्ट हो जाते हैं फलतः उस कवि की शब्द एवं अर्थयोजना पर ध्यान नहीं देते ।

आचार्य राजशेखर के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बहुज्ञता के दो रूप होते हैं; प्रथम, शास्त्र एवं लोक का विविध प्रकार से ज्ञान । कविसमय, देशकाल

विभाग की परिपाटियों का सम्यकरूपेण अध्ययन तथा अनुभव यह बहुज्ञता का प्रथम सोपान है। प्रयोग के स्तर पर निरन्तर सचेष्टता का बने रहना जिसका अर्थ है—ज्ञात तत्त्व सम्यकरूपेण ठीक-ठीक प्रयुक्त हो रहा है या नहीं, यह द्वितीय रूप है। शास्त्र ज्ञान तथा उस शास्त्र ज्ञान का सम्यकरूपेण प्रयोग एवं परीक्षण भी व्युत्पन्नता का अङ्ग है।

इस प्रकार काव्यहेतु के रूप में प्रतिभा, समाधि, अभ्यास एवं व्युत्पन्नता में चारों तत्त्व नितान्त आवश्यक हैं। ये समन्वित होकर काव्य की प्रभुत्व सम्पन्नता को व्यक्त करते हैं।

काव्य प्रयोजन

भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत जिस काव्य के स्वभाव का चित्रण किया गया है उसकी प्रकृति कलात्मक है। शब्दार्थ से सिद्ध एवं आनन्द धर्मी काव्य अन्ततया कलाजनित आनन्द के अतिरिक्त और क्या दे सकता है? जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, भारतीय काव्यशास्त्र परवर्ती काल में सामन्तवादी चेतना से अधिकाधिक प्रभावित होने के कारण विनोद एवं आनन्दधर्मिता की ओर उन्मुख हुआ। शास्त्र चेतना ने इसके इस स्वरूप को निर्धारित करने में और अधिक सहयोग दिया। संस्कृत काव्यशास्त्र में १०वीं शती से यत्किंचित् धार्मिक चेतना से प्रभावित होने के कारण आचार्य भट्नायक, अभिनवगुप्त, मम्मट कविराज विश्वनाथ आदि द्वारा काव्य से प्राप्त होने वाले कलात्मक आनन्द के स्वभाव का किंचित् संस्कार किया गया, अन्यथा इस काव्य के अन्तर्गत शुद्ध कला जनित आनन्द को प्रतिष्ठित करने का प्रयास मिलता है। यह सत्य है, कलाजनित आनन्द की अनुवर्तिनी सामाजिक हित की सामान्य छाया इन विवेचनों में अवश्य दिखाई पड़ती है, फिर भी, इनके विवेचन का मूल स्वर आभिजात्य एवं शास्त्रीय है। इन काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में निर्दिष्ट काव्य रचना के प्रयोजनों की चर्चा के निर्देश की दिशा भी यही रही है।

'काव्य-प्रयोजन' का निर्देश काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना का अनिवार्य अंग माना जाता रहा है—

'यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते'

प्रायः सभी आलंकारिकों ने प्रयोजन की चर्चा अपने शास्त्रीय ग्रन्थों में की है।

नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत उसके प्रयोजनों का अनेक रूपों में उल्लेख मिलता है। 'नाट्य' को उन्होंने पंचम वेद के रूप में मान्यता प्रदान की और इसका एक उद्देश्य यह भी बताया गया कि यह नाट्य विशेष उनके लिए है, जिन्हें अन्य वेद वर्जित हैं। यही नहीं, एक अन्य स्थल पर यह भी बताया गया है कि 'श्रम

और शोकार्त्त तपस्वियों के क्लेद् के निवारणार्थ भी इसकी रचना हुई है।[1] यद्यपि धर्मशास्त्र में तपस्वियों के लिए अभिनय वर्जित है, फिर भी आचार्य भरत इस प्रकार का भी एक प्रयोजन निर्दिष्ट करते हैं। यही नहीं, नाट्य शास्त्र में एक अन्य स्थल पर बताया गया है—

इस (नाट्य) के अन्तर्गत धर्म प्रवृत्त के लिए धर्म, कामोपसेवी के लिए काम, दुर्विनीत के लिए विग्रह, विनीत के लिए शालीनता, क्लीवों के लिए धृष्ठता, शूर और मानियों के लिए उत्साह, अबुधों के बिबोध, विदुषों के लिए वैदुष्य, ऐश्वर्यशालियों के लिए विलास, दुःखार्त्तों के लिए धैर्य, अर्थोपजीवियों के लिए अर्थ एवं उद्विग्न चेतसों के लिए धृति सभी कुछ प्राप्य हैं। एक अन्य स्थल पर आचार्य भरत नाट्य प्रयोजन का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

यह नाट्यवेद उत्तम, मध्यम एवं अधम श्रेणी के कर्म का आश्रय रूप, हितोपदेश का नियन्ता तथा सुख, क्रीड़ा और धृति का उद्भावक है। यह तपस्वियों के दुःख, श्रम, शोक का विनाशक और लोक के लिए विश्रान्तिदायक है। देवता असुर, राजपरिवार एवं कुटुम्बियों के लिए यह सहज ग्राप्य भी है और अन्त में नाट्यशास्त्र का निष्कर्ष निकालते हुए वे बताते हैं—

धर्म यशस्यामायुष्यं हित बुद्धि विवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति॥

आचार्य भरत नाट्य शास्त्र के अन्तर्गत नाट्य रचना के माध्यम से होने वाले लोकहित, प्रकारान्तर से, उसकी सामाजिक उपयोगिता का निर्देश करते हैं, फिर भी, कलात्मक विनोद एवं आनन्द का पक्ष भी उनके द्वारा प्रमुखता के साथ इंगित किया गया है—

वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥

आचार्य अभिनवगुप्त इसकी व्याख्या करते हुए बताते हैं कि—

'प्रीतिरेव प्राधान्यं······प्राधान्येनानन्द एवोक्तः'

अर्थात्, प्रीति दूसरे शब्दों में कलात्मक आनन्द का भोग नाट्य का प्रमुख प्रयोजन है।

काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के विकास क्रम में 'विनोदजननं' अर्थात् प्रीति

---

१. दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥

दूसरे शब्दों में कलात्मक आनन्द को विशेष प्राथमिकता के साथ ग्रहण किया गया। भामह इस सम्बन्ध में निर्देश करते हुए बताते हैं—

१. उत्तम काव्य की रचना करने वाले कवियों की कीर्ति 'यावच्चन्द्र दिवाकरौ' स्थिर रहती है।
२. प्रलय पर्यन्त कीर्ति की इच्छा रखने वाले कवि को उसके समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त कर उत्तम काव्य रचना के लिए प्रवृत्त होना चाहिए।
३. बुरे काव्य की रचना से कवि की उसी प्रकार निन्दा होती है, जैसे कुपुत्र से पिता की।
४. कुकवि होने की अपेक्षा अकवि होना अच्छा है क्योंकि अकवित्व से धर्म प्रचार, व्याधि रक्षा एवं दण्ड रक्षा भी हो सकती है किन्तु कुकवित्व को विद्वान् साक्षात् मृत्यु ही कहते हैं।

वे काव्य प्रयोजनों का निष्कर्ष निकालते हुए कहते हैं—

धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति प्रीतिं कीर्तिं च साधु काव्य निबन्धनम्॥

उनके अनुसार काव्य कवि के लिए कीर्ति विधायक है। कुकवित्व साक्षात् मृत्यु की भाँति कुकीर्तिकर है। यही नहीं, पाठक काव्य के द्वारा धर्मार्थ काम मोक्ष व पुरुषार्थ चतुष्ट्यों की प्राप्ति कर सकता है और अन्त में साधु काव्य का यह निबन्धन पाठक में प्रीति अर्थात् कलाजनित आनन्द की सृष्टि करता है। आचार्य भामह प्रयोजन की चर्चा करते हुए कवि तथा पाठक काव्य की दोनों धुरियों को केन्द्र में रखकर निर्देश करते हैं।

काव्यालंकार के पांचवें अध्याय के अन्तर्गत आचार्य भामह काव्य रचना के एक अन्य प्रयोजन की ओर भी निर्देश करते हैं—

प्रायेणदुर्बोधतया शास्त्रद्भिभ्यत्यमेधसः।
तदुपच्छन्दनायैष हेतुन्यायलवोच्चयः॥
स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिवन्ति कटुभेषजम्॥

दुर्बोधता के कारण बुद्धिहीन प्रायः शास्त्रों से डरते हैं। उनके अनुरंजन के लिए अनुमान-पद्धति के कुछ अंश का यह संग्रह है।

काव्य के मधुर रस में मिलाकर शास्त्र का भी उपयोग होता है। पहले मधु को चखने वाले कड़वी दवा भी पीते हैं। दूसरे शब्दों में, शास्त्र को मधुर बनाकर उसे दुर्बोध्य होने से बचाना भी काव्य का एक हेतु है। राजपुत्रों को शास्त्र ज्ञान

प्रदान करने की अनेक कथाएँ परम्परा में कही जाती हैं। आचार्य रुद्रट ने तो स्पष्ट रूप से बताया है कि "रसिक जन नीरस भाष्यों से भय खाते हैं, अतः उनको शीघ्र-सहज काव्य से चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति हो जाती है।" आचार्य कुन्तक भी काव्य के इस प्रयोजन की ओर संकेत करते हैं—

काव्य का उद्देश्य उच्च कुल में उत्पन्न मन्दबुद्धि राजकुमारों के हृदय को आह्लादित करके धर्मादि चतुर्थ परम पुरुषार्थों का ज्ञान कराना है।"

कटुकौषध वच्छास्त्रमविद्याव्याधि नाशनम्।
आह्लाद्यमृतवत् काव्यमविवेकगदापहम्॥

इस प्रकार 'प्रीति' तथा 'कीर्ति' से भिन्न उसके विशिष्ट व्यावहारिक प्रयोजन की परम्परा देखी जा सकती है।

काव्य प्रयोजन की चर्चा करते हुए वामन बताते हैं, 'काव्यं सद् दृष्टाऽदृष्टार्थ प्रीति कीर्ति हेतुत्वात्'

इस वाक्य के अन्तर्गत दृष्ट (प्रतीत एवं गोचर) प्रयोजन प्रीति एवं अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति की चर्चा की गई है। यशः प्राप्ति के विषय में आचार्य वामन परम्परा में कथित तीन श्लोकों को उद्धृत करते हैं—

"प्रतिष्ठां काव्यबन्धश्च यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेनं कुकवित्वविडम्बनाम्॥
कीर्तिस्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्॥
तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिं च निर्बर्हितुम्।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः॥"

आचार्य वामन काव्य के दो ही हेतुओं की चर्चा करते हैं, वे हैं, प्रीति तथा कीर्ति।

आचार्य दण्डी काव्य-प्रयोजन चर्चा करते हुए कहते हैं—

इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्त नायकम्॥

महाकाव्य की रचना के सम्बन्ध में उन्होंने बताया है कि वह धर्मार्थ काम-मोक्ष चतुर्थपुरुषार्थों के लिए फलदायक है। यही नहीं, वे बताते हैं कि काव्य प्राचीन राजाओं की यश : प्रशस्ति की रक्षा करता है—

आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्।
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति॥

यही नहीं, गुण प्रकरण में वे अनेक स्थलों पर काव्य के कलात्मक आनन्द

प्रयोजन को इंगित करते हैं। काव्यादर्श की समाप्ति के पश्चात् वे निष्कर्ष निकालते हुए बताते हैं—

> व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन,
> मार्गेण दोषगुणयार्वशवर्तिनीभिः।
> वाग्भिः कृताभिरणो मदिरेक्षणाभि,
> र्धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम् ।।

गुण तथा दोष की वशवर्तिनी निर्दोष वाण के द्वारा इस प्रकार के प्रदर्शित मार्ग से व्युत्पन्न मति वाला (मनुष्य) काव्य से मदमत्त नेत्रों वाली रमणियों से अभिसार करते हुए भाग्यशाली युवक के समान रमण करता है, साथ ही, कीर्ति (यश) को भी प्राप्त करता है।

इस प्रकार आचार्य दण्डी काव्य के कलाजनित आनन्द एवं कीर्ति इन द उद्देश्यों को स्वीकार करते हैं।

प्रीति तथा कीर्ति में प्रीति मुख्यतः पाठक के लिए है। वैसे, इस प्रकार के निर्देश हैं कि स्वयं कवि भी कलाजनित आनन्द का भोग करता है, और प्रकारान्तर भाव से वह 'प्रीति' धर्म का अंग भी बनता है किन्तु यह उद्देश्य मुख्यरूपेण पाठक से सम्बन्धित है। कवि के लिए उसका निजी प्रयोजन 'यश' आचार्य वामन द्वारा स्वीकृत मिलता है।

परवर्ती आचार्यों ने काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध में विशेष विस्तारपूर्वक चर्चा की है। आचार्य उद्भट ने प्रत्यक्षतः काव्य हेतु पर विचार नहीं किया है। आचार्य रुद्रट ने १० श्लोकों में काव्य प्रयोजन की चर्चा की है। उनके अनुसार काव्य प्रयोजन इस प्रकार हैं—

१. कवि चिरस्थायी महान निर्मल, आह्लादिक, समस्त जनों को प्रिय राजादि के यश का विस्तार करता है।
२. रुचिर देवस्तुति की रचना करने वाला कवि धन, विपत्तियों का विनाश असाधारण आनन्द, तथा मनोवांछित फल का भोक्ता होता है।
३. राजाओं का विनाश हो जाता है किन्तु उत्तम कवियों का विनाश नहीं होता।
४. कवियों को चतुर्थ पुरुषार्थ सिद्धि की कामना रखनी चाहिये क्योंकि नीरस जन भाष्यों से भय खाते हैं, अतः उनको शीघ्र सहज उपाय के द्वारा काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है।

आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' के अन्तर्गत चार श्लोकों में निम्नलिखित काव्य प्रयोजनों की ओर संकेत किया है—

१. काव्य का उद्देश्य उच्चकुल में उत्पन्न मन्दबुद्धि राजकुमारों के हृदय को आह्लादित करके धर्मादि चतुर्थ परम पुरुषार्थों का ज्ञात कराना है।
२. नित्य प्रति लौकिक पुरुषों के लिए नूतन व्यवहार का बोध कराने वाले साधन के रूप मे काव्य प्रयोग अभीष्ट है।
३. वह काव्यामृत को समझने वाले पुरुषों के अन्तःकरण में चतुर्थ वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करने वाला एक साधन है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' के अन्तर्गत संकेत किया है कि सहृदय काव्य के आनन्द का आस्वादन ग्रहण करता है। काव्य में अभिव्यक्त रस के साथ 'तन्मयीभवन योग्यता' एक महत्तम तत्त्व है। इस तन्मयीभवन योग्यता में काव्य के आस्वाद अर्थात् आनन्द का भोग प्रकारान्तर से कलात्मक आनन्द भोग का ही इतर रूप है। आचार्य अभिनवगुप्त इसी आनन्द को काव्य की मूलात्मा स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि चतुर्वर्ग फलों की प्राप्ति में आनन्द ही सर्वतोत्कृष्ट है—

'चतुर्वर्गव्यूत्पत्तेरपि आनन्द एवं पार्यन्तिकम् मुख्यम् फलम्' इसको स्पष्ट करते वे पुनः बताते हैं—

'आनन्द इति रसचर्वणात्मनः प्राधान्यदर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्वं दर्शयति।'

आचार्य राजशेखर एक स्थल पर बताते हैं—

पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः आभिधाभिर्धर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम्।

साहित्य सम्पूर्ण विद्याओं की भाँति धर्म एवं अर्थ की प्राप्ति मुख्य साधन है। एक अन्य स्थल पर अनेक भाषाओं में रचना करने वाले कवि की प्रशंसा करते हुए वे बतलाते हैं—

'यस्येत्थं धीः प्रगल्भा स्नपयति सुकवेस्तस्य कीर्तिजगन्ति'

"जिस कवि की प्रगल्भ प्रतिभा का विस्तार अधिक होता है, उसकी कीर्ति संसार को स्नान कराती है।" यही नहीं, कवि की कीर्ति के विषय में वह टिप्पणी देता हुआ एक स्थान पर कहता है—

गीतसूक्तिरतिक्रान्ते स्तोता देशान्तरस्थिते।
प्रत्यक्षे तु कवौ लोकः सावज्ञः सुमहत्यपि॥
प्रत्यक्ष कवि काव्यं च रूपं च कुलयोषितः।
गृहवैद्यस्य विद्या च कस्मैचिद्यदि रोचते।

अर्थात्, उत्तम कवियों की कीर्ति उनकी अनुपस्थिति एवं मृत्यु के बाद विकसित होती है।

आचार्य राजशेखर[1] ने अपने युग के उन अनेक मतवादों की चर्चा की है, जिनमें काव्य की उपयोगिता पर किंचित् संशय उठाये गये हैं—

१. काव्य में असत्य आलंकारिक बातों का उल्लेख रहता है, अतः प्रयोज्य नहीं है।

२. अनेक लोगों के मत हैं कि काव्य असत् मार्ग का उपदेश देते हैं, इसलिए अग्राह्य हैं।

३. अनेक व्यक्तियों के मत हैं कि काव्य में अश्लील अर्थ रहता है, इसलिए प्रयोज्य नहीं है।

आचार्य राजशेखर इन तीनों आक्षेपों का खण्डन करते हुए बताते हैं कि काव्य सर्वथा प्रयोज्य एवं काम्य होते है।

राजशेखर एक अन्य स्थल पर काव्य के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए बताते हैं कि प्राचीन राजाओं के प्रभावशाली चरित्र, देवताओं की प्रभुत्व लीला, ऋषियों और तपस्वियों के अलौकिक प्रभाव से सभी कुछ कवियों की वेद वाणी में प्रसूत और प्रसिद्ध हैं। कवि और राजा के सम्बन्धों की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं—

ख्याता नराधिपतयः कवि संश्रयेण,
राजाश्रयेण च गताः कवयः प्रसिद्धि।
राज्ञा समोऽस्ति न कवे परमोपकारी,
राज्ञा न चास्ति कविना सदृशः सहायः॥

इस प्रकार, काव्य कवि की कीर्ति, लोकोपयोगी विविध विषयों, विविध शास्त्रों, विविध विद्याओं से संस्कारित होने के कारण वह सर्वथा सभी के लिए उपयोगी और राजा, ऋषि देवताओं के यश का विस्तारक होता है। काव्य से निष्पन्न आनन्द की ओर वे बार-बार संकेत करते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य पाक की भाँति 'नौ' प्रकार से आस्वाद्य होता हैं—

१. आदि-अन्त सरस, २. आदि अन्त नीरस, ३. आदि नीरस, अन्त सरस, ४. आदि में मध्यम मधुर और अन्त में नीरस और इस प्रकार वे नारिकेल पाक को सर्वोपरि बताते हैं जो आद्यन्त मधुर एवं आस्वाद्य है। उनके अनुसार आद्यन्त स्वाद्य काव्य ही उपास्य हैं।

---

१. राजशेखर काव्यमीमांसा, व्याख्याकार, स्वर्गीय पंडित केदारनाथ शर्मा

एक अन्य स्थल पर बतलाते हैं कि काव्य का सत्समालोचक काव्य में वर्णित अनोखी सूझों से आह्लादित होता है, काव्य के सघन रसामृत का पान करता है और रचना के गूढ़ तात्पर्य को खोज निकालता है ।

इस प्रकार राजशेखर काव्य के बहुपक्षीय प्रयोजनों की व्यावहारिक निष्प-त्तियों पर प्रकाश डालते हुए उन्हें प्रतिष्ठित करते हैं ।

आचार्य मम्मट ने काव्य प्रयोजनों को सबसे अधिक विस्तार दिया है । वे समस्त प्रयोजनों को संकलित करके बताते हैं—

काव्यं यशसेर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परिनिवृत्तये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे ।।

कीर्ति, धन, लोक व्यवहार के ज्ञान, अमांगलिक तत्त्वों से रक्षा, सद्यःपरि-निवृत्ति एवं कान्तासम्मितवाणी में उपदेश प्रदान—ये काव्य के छः प्रयोजन हैं ।

साहित्यदर्पण के अन्तर्गत कविराज विश्वनाथ काव्य प्रयोजन की चर्चा करते हुए बताते हैं—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पप्रियमपि ।
काव्यादेवयतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।

आचार्य केशवमिश्र कृत 'अलंकार शेखर' के अन्तर्गत 'काव्य प्रयोजनों' पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है—

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकार भूषितम् ।
स्फुट रीति रसोपेतं काव्यं कुर्वीत च विन्दति ।।

परम्परा में भी कहा गया है—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् प्रीतिं कीर्तिं च विन्दति ।।

वे पुनः कहते हैं—'हिताय सुकविः कुर्यात्'

अर्थैः कृतार्थयन्त्येके घटना पटवः परे ।
उभयत्र प्रवीणा ये तु एव कवयो मताः

अपने गुरुवचन से हित को चर्चा करते हुए केशव मिश्र बताते हैं—

लाभः पूजा ख्यातिर्धर्मः कामश्च मोक्षश्च ।
इष्टानिष्टप्राप्ति त्यागो ज्ञानं फलानि काव्यस्य ।।

वृद्धजन बताते हैं—

श्रोतृणां द्राङ् महानन्दः स स्वस्मिन्न भिमानिकः ।
तत्कालफलमेतावत् क्रमात्कीर्ति धनादिकम् ।।

आचार्य भरत से लेकर केशव मिश्र तक निर्दिष्ट काव्य प्रयोजनों की तालिका बनाई जाये तो वह इस प्रकार होगी।

१. काव्य की मूलात्मा 'आनन्द' या प्रीति की सृष्टि काव्य का प्रथम लक्ष्य है। इसे 'पाठक' तथा 'कवि' की दृष्टि से दोनों ओर ग्रहण किया जा सकता है।

२. कवि की कीर्ति का विस्तार

३. लोक हितों की रक्षा एवं समाज के विविध वर्गों के संकटों को दूर करने का साधन

४. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति एवं कलाओं के ज्ञान में वैदुष्य-प्राप्ति

५. कान्तासम्मित उपदेश तथा शास्त्र ज्ञान का सरस माध्यम के रूप में काव्य प्रयोग विशेषकर मन्दबुद्धि वाले व्यक्ति के सन्दर्भ में

६. राजाओं कौ कृपापात्रता, धनादि की प्राप्ति, ज्ञान, इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्टों से मुक्ति तथा अमांगलिक तत्त्वों से रक्षा

७. सद्यः परिनिवृत्ति

यही नहीं, सामान्य काव्य सन्दर्भ में धर्म प्रचार, व्याधि तथा दण्ड से रक्षा, जैसे प्रयोजनों को स्वीकार किया गया है।

संक्षेप में इन प्रयोजनों को तीन भागों में विभक्त करके देखा जा सकता है—

१. प्रीति—अमरकोश में प्रीति के सम्बन्ध में बताया गया है—

"मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षो प्रमोदामोद संमदाः" २।२४

यहाँ, सामान्यतया कलाजनित आनन्द के लिए प्रीति शब्द का प्रयोग किया गया है। काव्य कलाधर्मी होने के कारण अन्ततया पाठकों के मन को विश्रमित (आनन्दित) करता है। आचार्य भरत ने इसी के लिए विनोदजन्य आनन्द का नाम दिया है। प्रीति काव्य का निरवकाश हेतु हैं। वर्णना के सम्पर्क में आते ही यह प्रक्रिया शुरू हो जाती है। यही प्रक्रिया, पाठक को 'स्व-पर' के ज्ञान से मुक्त करती है। 'स्व-पर' के ज्ञान से मुक्त काव्य के आस्वादन का ही इतर नाम 'प्रीति' है। काव्य के शास्त्रीय विवेचकों में ज्यों-ज्यों गम्भीरता आती गई, इस शब्द को भी उसी क्रम में अर्थ व्याप्ति मिलती गई। भरत इसका अर्थ 'काव्य-विनोद' करते हैं। दण्डी इसका अर्थ काव्यास्वादन तथा विदग्ध गोष्ठियों में काव्य-विहार करते हैं। भामह ने 'कलात्मक उन्मेष एवं आनन्द' दोनों को पर्यायवाची बताया है। आचार्य कुन्तक बताते हैं कि यह प्रीति काव्य के मूल तत्त्व अन्तश्चम-

त्कृति का फल है। मम्मट सद्यः परिनिवृत्ति को प्रकारान्तरभाव से काव्यजनित आनन्द या प्रीति कहते हैं।

काव्य का रस से सीधा सम्बन्ध जुड़ जाने के कारण सहृदय की वासनाओं के रूप में जागृत स्थायिभाव के इस आस्वाद रूप रसानन्द की प्रकृति आध्यात्मिकता से जुड़ती गई। वह आनन्द जो अब तक कलाधर्मी था, वह आस्वादन के रूप में जन्म-जन्मान्तर की संचित् वासनाओं का आस्वादन बन गया। यद्यपि भट्टनायक के पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्धन प्रीति के लिए आनन्द शब्द का प्रयोग करते हैं। वे आनन्द की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि—चतुर्वर्गव्यूत्पत्तेरपि आनन्द एवं पार्यन्तिकम् मुख्यं फलम्'। उनका यह वाक्य काव्य के कलाजनित आनन्द की ओर स्पष्टता के साथ इंगित करता है। वे 'केचित् वाचामस्थितम विषया' कहकर भट्टनायक की परम्परा के आचार्यों को ध्वनि विरोधी बताते हैं, जो रसरूप ध्वनि को अनुभव का विषय मानते थे, किन्तु विवेचन का नहीं। आचार्य अभिनव गुप्त इस कलात्मक आनन्द को सम्भवतया सर्वाधिक उच्चता प्रदान करते हैं। अभिनव भारती के अन्तर्गत वे कहते हैं—

'अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते'

यही नहीं, ध्वन्यालोकलोचन में इस आनन्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

"......किं तु शब्द समर्प्यमाण हृदयसंवादसुन्दर विभावानुभावसमुदित प्राङ्निविष्टरत्यादिवासनानुराग सुकुमार स्वसंविदानन्द चर्वणव्यापाररसनीय रूपो रसः"

आगे चलकर, आचार्य मम्मट काव्यप्रकाश में इस अंश को और अधिक आध्यात्मिक बना देते हैं—

सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिकः......चर्वमाणैकता-प्राणो विभावादि जीवितावधिः पुर इव परिस्फुटन्......अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिक शृंगारादिको रसः।

साहित्यदर्पण में इस आस्वादन को और अधिक आध्यात्मिक बनाया गया।

पण्डितराज जगन्नाथ ने मिथ्या के विनाश के अनन्तर उत्पन्न होने वाले अद्वैतानन्द की कोटि तक इस कलात्मक आनन्द को पहुँचा दिया—

भावनाविशेष रूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मनि अज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पाद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्य शकुन्तलादि विषयक इत्यादिरेव रसः।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त के परवर्ती ये विवेचक उनसे प्रभाव ग्रहण करते हुए उत्तरोत्तर पाठक द्वारा आस्वादित काव्य के कलाजनित आनन्द को निविड़ से निविड़तम आध्यात्मिक अर्थनिवेष से संयुक्त करते गये।

आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट 'सत्यः परिनिवृत्ति' को महामहोपाध्याय पी० वी० कणे ने 'कवि के आनन्द' से जोड़ा है। उनके अनुसार पाठक के सन्दर्भ में प्रीति 'आनन्द' के पर्याय के रूप में है किन्तु कवि के सन्दर्भ में वह 'सद्यपरि-निवृत्ति' के रूप में है।

'The word प्रीति (among प्रयोजन s) mentioned by भामह, वामन, सर० क० (सरस्वती कंठाभरण) may be constructed with the poet also. The poet finds supreme delight in creating on artistic poem. The words of सद्यः परिनिवृत्तये of मम्मट (immediate higher and delightful experince) are more definite and appropriate''[1] वस्तुतः 'सद्यपरिनिवृत्तये' शब्द का सम्बन्ध केवल कलाजनित आनन्द 'प्रीति' से जुड़ा न होकर रचनाकार की रचना में प्रवृत्त होने वाली मनः दशा से भी सम्बन्धित है। यह कवि की समाधि दशा है। आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने उसी दशा में पहुँचने की स्थिति को 'भावयोग' कहा है। 'सद्यपरिनिवृत्ति' कवि के कलात्मक आनन्द का आस्वाद न होकर रचना में एकाग्र मन की समाधि है। आचार्य राजशेखर इस समाधि की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं,
यद्गोचरे च विदुषां निपुणैकसेव्यं।
तत्सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो,
तच्चेतसो विदित वेद्यविधेः समाधिः।

सरस्वती का रहस्य (काव्य निर्माण) महान, गम्भीर और अवर्णनीय है। वह अत्यन्त निपुण विद्वानों के ज्ञान का विषय है किन्तु उसकी प्राप्ति का एक-मात्र उपाय है, मन की समाधि। इस समाधि के द्वारा कवि क्षण में ही लोकवासनाओं से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि 'प्रीति' ही काव्य की मूलात्मा है। इसी मूलात्मा को रस, अलंकार, गुण, रीति, वक्रोति, ध्वनि आदि सिद्धान्त मोहवशात् स्वमत से जोड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं।

२. हित—काव्य को लोकहित का एक सशक्त माध्यम माना गया है।

---

१. हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ ३४८

लोकहित काव्य में अर्थ और अभिप्राय बोध के साथ व्यंजित होता है। रचनाकार कृति के अन्तर्गत ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है, जो अभिप्राय मुख से उसको व्यंजित करती हैं। आचार्य मम्मट बताते हैं कि—

'कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखी कृत्य रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं······करोति'

मानवीय हित की यह अभिव्यक्ति कथन से नहीं, ध्वनि से होती है। ध्वनि मुख से, अनेक रूपों में, जहाँ प्रयोजनों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, वहाँ काव्यत्व का पक्ष किंचित् कमजोर पड़ जाता है। उदाहरणार्थ, मन्दबुद्धि के राजकुमारों को काव्य द्वारा शिक्षा प्रदान करना; मधु मिश्रित करके शिक्षा का वातावरण उत्पन्न करना ताकि शिक्षार्थी निष्कर्ष से व्यंग्यमुखेन अवगत हो सके, यही काव्य की उत्कृष्टता है, किन्तु वाच्यमुख से दी गई शिक्षा काव्यत्व के लिए आघातकारी है। समाज को आसन्न सांस्कृतिक संकटों से मुक्त एवं धर्मार्थ, काम मोक्ष आदि की प्राप्ति में सहायक होने का सम्पूर्ण सन्दर्भ काव्यमूलक ही है। काव्य सर्वप्रथम अपनी काव्य प्रकृति की रक्षा करता है, तदन्तर अन्य मूल्य व्यंग्य भाव से प्रगट होते हैं। काव्य का विविध कलाओं से दो रूपों में सम्बन्ध है, प्रथम प्रकृतया द्वितीय अर्जित। राजशेखर के अनुसार काव्य शरीर का निर्माण विविध कलाओं के योग से ही होता है। आचार्य भामह ने बताया है—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यासो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान्कवे॥

नाट्य के सम्बन्ध से इसी प्रकार की उक्ति आचार्य भरत की है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते॥

आचार्य वामन बताते हैं—'कलाशास्त्रेभ्यः कला तत्त्वस्य संवित्'

कवि को काव्य रचना में प्रवृत्त होने के लिए विविध कलाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस सन्दर्भ में अपने भाष्य के अन्तर्गत वह भामह निर्दिष्ट गीत नृत्यादि चौंसठ कलाओं की सूची प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार इन कलाओं के अतिरिक्त चार सौ उपकलाओं का भी सम्यक् परिज्ञान कवि के लिए आवश्यक है। वैसे, भामह द्वारा निर्दिष्ट इस चौंसठ कलाओं की सूची में 'काव्य लक्षण' का परिज्ञान भी है। इस प्रकार काव्य अपने रूप विन्यास में कलाओं का सम्पूर्णतया उपयोग करता है। यही नहीं, व्यंग्यमुख से भी विविध कलाओं का परिज्ञान काव्य से हो सकता है।

अतः पाठक एवं समाज की दृष्टि से 'प्रीति' एवं 'हित' काव्य के विशिष्ट प्रयोजन हैं।

शास्त्रकारों ने रचनाकार को भी दृष्टि में रखते हुए इन प्रयोजनों की विस्तार से चर्चा की है। 'धर्मार्थ काम मोक्ष' इनके सन्दर्भ में भी आ सकते हैं। यही नहीं, नितान्त वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रयोजन जैसे अर्थार्जन, राजाश्रय तथा सम्मान, पुरस्कार, अनिष्ट निवारण एवं इष्ट की प्राप्ति आदि इसके अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। ये कवि के जीवन काल तक रहते हैं किन्तु रचनाकारों के लिए 'कीर्ति' प्रयोजन का उद्देश्य अधिक श्रेयस्कर है। कालिदास जैसे कवि अपनी विनयोक्ति में यश (मन्दकवि यशप्रार्थी) की ही कामना करते हैं। श्रेष्ठ कवियों के यश को अनेक रूपों में चित्रित किया गया है। दण्डी 'यावच्चन्द्र-दिवाकरौ' यश की चर्चा करते हैं। आचार्य भामह कहते हैं—

> आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः।
> रूणद्भि रोदसी चास्य यावत्कीर्त्तिरनश्वरी,
> तावत्किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ॥

स्वर्ग जाने पर भी सत्काव्यों के प्रणेताओं का रमणीय काव्य शरीर निर्भय वर्तमान रहता है। जब तक उस कवि की स्थायी कीर्ति पृथ्वी तथा आकाश में व्याप्त है, तब तक वह भाग्यवान देव पद को अलंकृत करता है।

इस प्रकार कवि की दृष्टि में कीर्ति एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है। सामान्यता यश की आकांक्षा रचनाकर की एक ग्रन्थि विशेष है। विनीत-से—विनीत कवि भी यश की आकांक्षा से प्रभावित दिखाई पड़ता है। यह 'रचनाकार' के लिए प्रेरणा सूत्र है। इससे प्रेरित होकर वह रचनाकर्म में कौशल का अर्जन करता है। सृजन शक्ति में परिपूर्णता तथा अभिव्यक्ति में कौशल इसी यशेच्छा की ग्रन्थि के प्रतिफल हैं।

प्रकारान्तर से सम्पूर्ण प्रयोजनों को दो भागों में स्वीकार किया जा सकता है—

१. पाठक की दृष्टि से—प्रीति तथा लोकहित
२, कवि की दृष्टि से—कीर्ति

मुख्यतः 'कीर्ति' काव्य का प्रयोजन न होकर कवि के लिए प्रेरणा सूत्र है, काव्य के दो ही मूल प्रयोजन माने जाने चाहिये—'प्रीति' तथा 'लोकहित'।

आज काव्य की विविध समस्याओं में रचनादर्श या काव्य के उद्देश्य पर विशेष विस्तारपूर्वक चर्चा की जाती है। इन शास्त्रकारों ने अपनी शास्त्र शैली में सूत्र-विधि से प्रयोजनों की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए उन्हें काव्यशास्त्र का आवश्यक अंग माना है।

काव्य लक्षण

सामान्यतया लक्षण के अन्तर्गत काव्य की परिभाषा की चर्चा की जाती है, फिर भी, लक्षण शब्द का अर्थ परिभाषा नहीं है। 'लक्षण' का अर्थ है, लक्षित विग्रहों, चिह्नों, तत्त्वों का उल्लेख। दूसरे शब्दों में काव्य के विशिष्ट तत्त्वों की ओर इंगित करना ही काव्य लक्षण है।

काव्य क्या है ? संस्कृत काव्यशास्त्र में इसे दो प्रकार से समझाया गया है। प्रथम—कवि व्यापार की दृष्टि से, द्वितीय—लक्षण निर्देश के माध्यम से। कवि-व्यापार की दृष्टि से समझाते हुए आचार्य राजशेखर इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार देते हैं—

कवि शब्दस्य 'कवृ' वर्णे इत्यस्य धातोः। काव्य कर्मणो रूपम्। अर्थात्, कवि शब्द की व्युत्पत्ति 'कवृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है, काव्य कर्म।

अभिनवगुप्त बताते हैं, 'कवनीयम् इति काव्यम्' अर्थात् रचना-व्यापार ही काव्य है।

काव्यप्रकाश में बताया गया है—लोकोत्तर वर्णनानिपुण कवि कर्म काव्यम् अर्थात् लोकत्तर आनन्द की प्राप्ति कराने वाली कवि की भाषिक अभिव्यक्ति ही काव्य है।

विद्याधर बताते हैं—

'कवयतीति इति कविः, तस्य कर्म काव्यम्'

काव्य रचना करने वाला कवि कहलाता है। कवि कर्म ही काव्य है। काव्य प्रकाश के टीकाकार भट्टगोपाल काव्य की व्युत्पत्ति बताते हुए कहते हैं—

कौति शब्दायते विमृशति रसभावानिति कविः। तस्य कर्म काव्यम्। रस-भाव-व्यापार आदि को शब्दादि के माध्यम से जो व्यक्त करता है, उस कवि कर्म को काव्य कहते हैं।

काव्य लक्षण के सन्दर्भ में यद्यपि सर्वथा प्राचीन अभिमत आचार्य भामह का है, लेकिन इनके पूर्व भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत उसके लक्षण की समग्र परिस्थितियां निर्धारित कर दी हैं—

मृदु ललित पदाढ्यं गूढ़ शब्दार्थहीनम्,
जनसुख पदबोध्यं युक्तिमन्नृत्य योज्यम्।
बहुरस कृतमार्गं सन्धि सन्धानयुक्तम्,
स भवति शुभ काव्यं नाटक प्रेक्षकाणाम् ॥

काव्य रचना के 'मृदु, ललित पद संयोग, क्लिष्ट शब्दों के अभाव, हृदय के लिए सुखात्मक अर्थप्रतीति एवं रसान्विति' आदि तत्त्वों की ओर आचार्य भरत ने प्रकारान्तर भाव से व्यंजना दी है।

भामह द्वारा निर्दिष्ट काव्य लक्षण सर्वथा प्राचीन है। उनका सुप्रसिद्ध काव्य लक्षण है—'शब्दार्थौ सहितो काव्यम् अर्थात् शब्द और अर्थ का सौहित्य ही काव्य है।

'शब्दार्थ' सम्पूर्ण वाङ्मय का आधार है, अतः इस लक्षण की अतिव्याप्ति से 'काव्य व्यापार' के दूषित होने की पूरी सम्भावना है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य वामन ने बताया है—'भक्त्या तु शब्दार्थ मात्र वचनोऽत्र गृह्यते' अर्थात् 'शब्दार्थ' का प्रयोग यहाँ लाक्षणिक अर्थ में लेना चाहिये। 'शब्द' एवं, 'अर्थ' के सौहित्य का तात्पर्य केवल 'शब्द एवं अर्थ' तक ही सीमित न होकर कुछ और भी है। परवर्ती आचार्यों ने तो 'शब्दार्थ' को केवल काव्य शरीर' माना है, सम्पूर्ण जीवित काव्य नहीं। इसीलिए समुद्रबन्ध ने बताया कि—'इह विशिष्ट शब्दार्थौ काव्यम्' अर्थात् कतिपय विशिष्टताओं से युक्त शब्दार्थ ही काव्य है।

आचार्य भामह जब 'शब्दार्थ' की चर्चा करते हैं तो उनके मन में भी ये सम्पूर्ण दृष्टियाँ वर्तमान थीं। वे अनेक स्थलों पर शब्द तथा अर्थ के काव्यात्मक वैशिष्ट्य की चर्चा करते हैं। काव्य परिभाषा के पूर्व वे अपने पूर्ववर्ती, 'शब्द सौन्दर्य' एवं 'अर्थ सौन्दर्य' में विश्वास रखने वाले दोनों प्रकार के कवियों की चर्चा करते हुए कहते हैं—

रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभातिवनितानननम्।
रूपकादिमलंकारं वाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङा च व्युत्पत्ति वाचां वांछन्त्यलङ्कृतिम्।
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थं व्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकार भेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥

आलंकारिकों का एक वर्ग आलंकारिक सौन्दर्य (अर्थ) को काव्य मानता है, दूसरे क्रिया तथा संज्ञा के सौन्दर्य (काव्यपाक, गुणादि) सौशब्द को काव्य मानते हैं, किन्तु मेरी दृष्टि में अर्थचारुता (वक्रता) तथा रमणीक शब्द निधान दोनों काव्य हैं। आचार्य भामह जब शब्दार्थ की बात करते हैं तो इसका अर्थ यही है कि वह शब्दार्थ सामान्य न होकर अर्थचारुता (वक्रता) तथा सौ शब्द से संयुक्त है। इस प्रकार भामह के शब्दों में 'सौ' शब्द एवं वक्रार्थ के 'सौहित्य' का नाम ही काव्य है।[1]

आचार्य भामह के मन्तव्य पर भलीभाँति विचार न करने के कारण परवर्ती अनेक आचार्यों ने 'शब्दार्थ' के विशेषणों को देते हुए काव्य का लक्षण निर्धारित करने का प्रयास किया है। आचार्य रुद्रट भामह की परम्परा में ही काव्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

'ननु शब्दार्थौ काव्यम्'

प्रकारान्तर से आचार्य रुद्रट भामह के मन्तव्य का समर्थन करते हैं—

आचार्य दण्डी काव्य को भिन्न प्रकार से परिभाषित करते हैं—

तैः शरीरं च काव्यानाम् अलंकाराश्च दर्शिता।
शरीरंतावदिष्टार्थमवच्छिन्न पदावली।

प्राचीन आचार्यों ने अलंकारों तथा शब्दों को काव्य का शरीर बताया है। इष्ट अर्थ से विभूषित पदावली ही काव्य शरीर है। इष्टार्थ को स्पष्ट करते हुए दण्डी के टीकाकारों ने कहा है—'अलौकिक चमत्कारित्वेन हृदय मनोरमाऽर्थाः अर्थात् अभूतपूर्व चमत्कार गर्भिता से युक्त हृदय को विगुग्ध कर देने वाला मनोरम अर्थ अर्थ, यह पदावली का विशेषण है।[2] आचार्य दण्डी तथा भामह ने प्रायः दो मान्यताओं को उदघटित किया है—प्रथम के अनुसार पदावली रचना काव्य है, और दूसरे के अनुसार शब्दार्थ रचना।

संस्कृत काव्यशास्त्र में शब्दार्थ तथा पदावली, पद (शब्द) तथा वाक्य के रूप में प्रायः दो वर्गों में विभक्त करके परिभाषाएँ रखी जा सकती हैं।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, रुद्रट, मम्मट, क्षेमेन्द्र, जयदेव, राजशेखर, अलंकार सर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध आदि आते हैं। ये काव्य को शब्दार्थ के साथ में कतिपय विशेषण देकर परिभाषित करते हैं।

द्वितीय वर्ग में अग्निपुराणकार, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ, केशव

---

1. काव्यालंकार : भामह : प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा
2. काव्यादर्शः दण्डीः व्याख्याकार, रणवीर सिंह

मिश्र, चण्डीदास, शौद्धोदनि (अलंकार शेखर के सूत्रकार) आदि आते हैं।

दोनों वर्ग एक दूसरे की मान्यताओं को अस्वीकार करते हैं।

आचार्य वामन प्रकारान्तर भाव से काव्य को परिभाषित करते हैं—

काव्यं ग्राह्यम् अलंकारात्'

सौन्दर्यमलंकारः

सदोषगुणालंकार हानादानाभ्याम्

काव्य अलंकार से ग्राह्य होता है। सौन्दर्य ही अलंकार है। वह 'काव्य' गुणालंकार के ग्रहण तथा दोष के परित्याग से युक्त होता है।

इसकी वृत्ति करते हुए वे समझाते हैं—

'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते' अर्थात् काव्यशब्द गुणालंकार से युक्त 'संस्कृत' शब्दार्थ योजना है। आचार्य भामह के 'सौहित्य' शब्द के स्थान पर वामन 'संस्कृतः संस्कारित' शब्द का प्रयोग करते हैं।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन कहते हैं—

'सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थ मयत्वमेव काव्यलक्षणम्' अर्थात् सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाली 'शब्दार्थमयता' ही काव्य है। आचार्य आन्दवर्धन काव्यत्व के लिए दो तत्त्वों की ओर संकेत करते हैं—

१. सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाली ध्वनि

२. शब्दार्थमयता अर्थात् शब्दार्थ का विशिष्ट सौहित्य

प्रकारान्तर से वे प्रथम पक्ष को काव्य तथा दूसरे पक्ष को उसका परिणाम बताते हुए काव्य लक्षण पक्ष को प्रतिष्ठित करते हैं।

आचार्य कुन्तक काव्य को परिभाषित हुए कहते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापारशालिनि।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्—

वे आचार्य भमाह के मत को प्रकारान्तर से और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

१. केषांचिन्मतं कवि कौशलकल्पित कमनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यम्,

२. केषांचिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारि काव्यम्,

आचार्य मम्मट सर्वप्रथम शब्दार्थ के विशेषणों की विस्तारपूर्वक चर्चा करते हैं—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'

अलंकार सर्वस्व के टीकाकार-समुद्रबन्ध ने बताया है—

'इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्'

आचार्य वाग्भट्ट ने भी शब्दार्थ के विशेषणों की ओर संकेत किया है—

'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः अलंकारौ काव्यम्'

इसी परम्परा के अन्तर्गत आचार्य क्षेमेन्द्र भी कहते हैं—

गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ ।
.............काव्यं काव्यविदो विदुः ।। प्रतापरुद्रीय

हेमचन्द्र काव्यानुशासन के अन्तर्गत कहते हैं—

अदोषौसगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।।

जयदेव बताते हैं—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थवनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णामनलंकृती ।

आचार्य मम्मट जयदेव के 'अलंनकृती' का उत्तर अपनी परिभाषा में देते हैं। काव्यप्रकाशवृत्ति में आचार्य मम्मट ने अपनी अलंकार सम्बन्धी इस मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए बताया है—

'क्वचित्तु स्फुटालंकार विरहेऽपि न काव्यत्व हानिः'

आचार्य राजशेखर साहित्य को परिभाषित करते हुए 'शब्दार्थ-सौहित्य' का ही स्मरण करते हैं—

'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेनविद्या साहित्यविद्या'

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट शब्दार्थ रूप काव्य का ही स्मरण करते है—

रसानुगुण शब्दार्थ चिन्तास्तमित चेतसः
क्षणंस्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञेव प्रतिभा मता ।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ।
ये साक्षात्कारोत्येष भावास्त्रैकाल्यवर्तिनः ।।

आचार्य केशव मिश्र ने 'अलंकार शेखर 'में' शब्दार्थ' के सन्दर्भ में एक विशिष्ट मत उद्धृत किया है।

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकार विभूषितम् ।
स्फुटरीति रसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ।

जैसा कि निर्दिष्ट हैं, काव्य परिभाषाकारों का एक दूसरा वर्ग हैं, जो शब्द, काव्य, पदावली वैशिष्ट्य से काव्य के लक्षण को स्पष्ट करने की चेष्टा करता हैं। आचार्य दण्डी इस मत के प्रथम व्याख्याता हैं। आचार्य दण्डी की ही भांति अग्निपुराणकार बताते हैं—

इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यं स्फुटदलंकारं गुणवद्दोष वर्जितम् ।

गुणयुक्त' तथा 'दोषवर्जित' पदावली पर 'शब्दार्थ' परम्परा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित है।

आचार्य विश्वनाथ काव्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'

यहाँ 'वाक्य', प्रकारान्तर से 'पदावली' के साथ रसात्मकता का विशेषण दण्डी की ही परम्परा से सम्बद्ध है। पण्डितराज जगन्नाथ इसी गुणवादी या शब्दवादी परम्परा के प्रकाश में काव्य को परिभषित करते हैं—

रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्

यहाँ 'रमणीयार्थ' शब्द का विशेषण है, सौहित्य व्यंजक नहीं।

शौद्धोदनि बताते हैं—

'काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतंसुखविशेषकृत'

काव्यप्रकाशदीपिका के लेखक चण्डीदास काव्य को परिभाषित करते हुए बताते हैं—

आस्वादजीवातुः पदसन्दर्भ काव्यम्'—

शब्दार्थगत

भाषिक दृष्टि से काव्य रचना शब्दार्थ व्यापार है। काव्य मूलतः अपनी प्रकृति के कारण कला है। चित्रादि की भाँति वाच्य एवं व्यंग्य इसके दो रूप अखण्ड भाव से दृष्टिगत होते हैं। आचार्य कुन्तक ने अलंकार और अलंकार्य के नाम से इसको और परिष्कृत करके रखा है। मूर्ति के लिए-जिस प्रकार प्रस्तरादि अनिवार्य हैं, चित्र के लिए रेखांकन, ठीक उसी प्रकार काव्य व्यापार के लिए 'शब्द' और 'अर्थ' अनिवार्य हैं। प्रस्तर मुद्रा और रेखांकन की भाँति 'शब्द एवं अर्थ' का गढ़ना (रचना) काव्य व्यापार का मूलधर्म है। जिस प्रकार मूर्तिकार पत्थर को गढ़कर उसमें एक अर्थ प्रदान करता है, अर्थभंगिमा (व्यंग्य) उत्पन्न करता है, ठीक उसी प्रकार रचनाकार काव्य की सार्थकता के लिए, 'शब्द एवं अर्थ' दोनों को गढ़ता (रचता) है। कभी-कभी केवल 'शब्द' गढ़-कर अर्थ 'व्यंजित करता है और या शब्दार्थ को गढ़कर करके' 'सन्दर्भ भंगिमा' को रचता है। उसका रचना व्यापार 'वाच्य' है। व्यंग्य' रचना का धर्म है जो सम्पर्क में आने वाले मन को चमत्कृत करके आनन्दित करता है।

शब्दार्थ की इस रचना के वे भाषिक आधार क्या हैं जो काव्य की कलात्मक प्रकृति को प्रखर बनाने में अपना सहयोग देते हैं, इसके विषय इन आचार्यों में वैमत्य रहा है।

आचार्य भामह 'शब्दार्थ की कलात्मक रचना का आधार 'रमणीक शब्द' तथा 'वक्रार्थ' मानते हैं। आचार्य 'वामन' 'गुण' तथा' अलंकार को शब्दार्थ को कलात्मक रचना का मूलधार स्वीकार करते हैं, ध्वन्यालोककार' शब्दार्थ की उस शक्ति की ओर संकेत करते हैं जो सहृदयों के हृदय को आनन्दित करती है, अर्थात् वाच्य का इस रूप में प्रयोग कि वह अपने अर्थ का परित्याग कर उस विशिष्ट हृदयावर्जक अर्थ को व्यंजित करे आदि-आदि।

'शब्द' तथा 'अर्थ' काव्य की कलात्मक रचना के मूलाधार हैं। इनके अभाव में काव्य के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। 'शब्द' एवं 'अर्थ' का इस रूप में गढ़ा जाना ताकि वह शब्दार्थ में कतिपय ऐसे यिशिष्ट तत्त्वों के साथ मन को आनन्दित कर सके काव्य रचना की नैसर्गिक उपलब्धि है। इस प्रकार आचाय भामह की शब्दार्थ मूलक परिभाषा आज के लिए भी जीवन्त है। 'शाब्दार्थ रचना' काव्य की अनिवार्यता है।

प्रारम्भिक आचार्य 'शब्द' रचना पर विशेष बल देते रहे हैं। उनके अनुसार 'शब्द' वाच्य है और लालित्य काव्य का व्यंग्य है। सुन्दर, रमणीक, रस प्रतिपादक, रमणीयार्थ बोधक शब्द या समूह (पदावली) रचना ही काव्य का लक्ष्य है। इस लक्ष्य से अलौकिक चमत्कार संयुक्त एवं हृदय रंजक अर्थ की व्यंजना भी लालित्य के साथ स्वतः हो जाती है। वस्तुतः ठीक इसी के विपरीत 'शुष्कवृक्षवादी' कवियों द्वारा निर्दिष्ट अर्थ रचना काव्य का वाच्य एवं उससे सिद्ध चमत्कार को व्यंग्य माना गया। भारवि, माघ, श्रीहर्ष, आदि इसी के समर्थक हैं। ये श्लेषादि के माध्यम से क्लिष्ट्यार्थ रचना तक काव्य को सीमित रखते हैं। आचार्य कुन्तक ने उनकी ओर संकेत करते हुए बताया है—

'केषांचिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्य चमत्कारि काव्यम्'

दूसरे शब्दों में, केवल शब्द रचना (पद, पदावली आदि) या अर्थ रचना (श्लेष, वक्रोक्ति गूढ़ार्थ, प्रहेलिका आदि) काव्य के होने के लिए आवश्यक नहीं है। कवि 'दोनों' की समानान्तर भाव से रचना करता है। 'शब्द' तथा अर्थ की संयुक्त रचना से ही काव्य परिपूर्णता प्राप्त करता है। अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा रस सिद्धान्त शब्दार्थ की संयुक्त रचना के प्रतिफल हैं। दूसरी ओर गुण रीति, पाक जैसे सामान्य सिद्धान्त 'पद रचना' के प्रतिफल हैं। 'गुण' भी शब्द रचना का प्रतिनिधित्व करता है। वामन ने 'अर्थगुण' की परिकल्पना करके 'गुण' को 'शब्दवाद' से पृथक् करने की चेष्टा की है किन्तु सफल नहीं हो सके। कुल मिलाकर, आचार्य भामह का 'काव्य लक्षण' सर्वथा उपयुक्त है।

काव्यात्मा

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यात्मा का प्रश्न भी अन्य समस्याओं के साथ-साथ नितान्त प्राचीन है। काव्य-शरीर के रूपक के पश्चात् यह प्रश्न अनिवार्यतः उठाया जाने लगा कि इस शरीर के लिए आत्मा के रूप में किस तत्त्व को स्वीकृति दी जाये। प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार भारतीय चिन्तन में शरीर के सन्दर्भ में आत्मा की समस्या वैदिक साहित्य से प्राप्त होने लगती है। विशेष रूप से, उपनिषद् काल में परा विद्या की अर्थवत्ता के साथ आत्मचिन्तन का विकास अधिक हुआ और गीता, ब्रह्मसूत्र, विविध भाष्यों के माध्यम से भिन्न-भिन्न रूपों में आत्मा के सन्दर्भ में सूक्ष्म विवेचन किया गया। चार्वाक, शैव दर्शन, न्याय, मीमांसा और विशेषतः अद्वैत वेदान्त, आदि दर्शनों में आत्मा के लक्षणों एवं प्रकृति को भिन्न-भिन्न रूपों में विवेचित किया गया।

भारतीय काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग आचार्य वामन ने किया—

'रीतिरात्मा काव्यस्य'

काव्य की आत्मा रीति है। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

"रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य। शरीरस्यतेति वाक्यशेषः" शरीर रूपी काव्य की आत्मा का नाम रीति है।

इसको स्पष्ट करते हुए वे बृत्तिभाग में कहते गया हैं—

'अशरीरभूतस्यात्मावच्छेकत्वासम्भवादित्याशङ्कम् शब्दार्थ युगलं शरीरं, तस्याधिष्ठाता रीतिर्नामात्मेत्युपपत्तिमुन्मीलमितुमाकाङ्क्षितपदमापूरयति।"

शब्दार्थ युगल शरीर हैं और रीति आत्मा है।

आचार्य वामन का 'रीतिमत' आत्मभूतता के लिए जिन तर्कों को प्रस्तुत करता है, वे ये हैं—

> रीति का निर्माण गुण तत्त्वों से होता है और गुण तत्त्व में समग्र काव्य का समाहार होता है, इसलिए गुण से निर्मित 'रीति' काव्य के मूल में है।

समाहार के सन्दर्भ में दस शब्द गुणों एवं दस अर्थ गुणों की चर्चा आचार्य वामन करते हैं। उनके शब्द गुण में शब्द पाक, अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों का समाहार होता है। यही नहीं, १० अर्थ गुणों में समग्र अलंकार एवं लक्षणादि अन्तर्भुक्त हैं। इसके अतिरिक्त भी, कान्ति गुण के अन्तर्गत सम्पूर्ण 'रस सिद्धान्त' एवं अर्थपाक सम्मिलित हैं। गुण विवेचन प्रकरण में 'गुण' को वे काव्य शोभा विधायक तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं तथा

अलंकार को उत्कर्ष-विधायक। यह उत्कर्ष-विधान अपना कार्य समाप्त करके अन्ततया गुण में ही अन्तर्भूत हो जाता है और इस प्रकार गुण काव्य के नित्य धर्म हैं—

पूर्वे (गुणाः) नित्या

पूर्वे गुणाः (ओज प्रसादादि) नित्याः। तैं विना काव्यशोभानुपपत्तेः

इस प्रकार गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और इनके बिना काव्य के सौंदर्य अर्थात् उसके सचेतन अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

फिर क्या, इस नित्य धर्म से निर्मित रीति तत्त्व अनित्य हो सकती है, प्रकारान्तर से रीति काव्य की आत्मा है।

आचार्य वामन ने 'रीति' की आत्मसिद्धि के लिए जो तर्क दिया है, वह ग्राह्य नहीं हो सकता।

'रीति' में समग्र काव्य सिद्धांतों के समाहरण की स्थिति मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि—

१. कान्ति गुण में समग्र रस सिद्धांत समाहित नहीं किया जा सकता।
२. समग्रतया उत्कर्ष विधायक तत्त्व के रूप में अलंकार गुण का पोषण करते हैं और परवर्ती काल में अनेक काव्यशास्त्रियों ने यह स्थापित किया है कि अलंकार गुण का पोषण भी करते हैं, किन्तु अलंकार का कार्य मात्र इतना ही नहीं है।
३. रीति काव्य के नित्य तत्त्व के रूप में भी नहीं है। पदरचनाशैली रचना का वहिर्वर्ती तत्त्व है, वह अन्य तत्त्वों की भाँति काव्य का आभ्यान्तर तत्त्व नहीं हो सकता। वस्तुतः आचार्य वामन ने गुण से जोड़कर रीति को नित्य तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित होने का तर्क दिया है।

मूलतः गुण रस का धर्म है और जो प्रकारान्तर भाव से भाषिक तत्त्व के रूप में काव्य शैली से भी जुड़ जाता है।

'काव्यात्मा' के प्रश्न को प्रमुखतः काव्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व से यदि जोड़ दिया जाए तो यह प्रश्न आचार्य भामह एवं दण्डिन् में भी मिल जाता है। दण्डी अलंकार को परिभाषित तथा उसे 'काव्यशोभा विधायक तत्त्व' के रूप में स्वीकार करते हुए उसके अन्तर्गत स्वभावोक्ति, गुण, भाव सभी को अन्तर्भूत करते हैं तो इसका तात्पर्य यही है, अलंकार तत्त्व अन्य काव्य तत्त्वों से प्रमुख है। आचार्य भामह, अलंकार सिद्धान्त' के प्रबल सयर्थक थे। उन्होंने अपने किसी पूर्ववर्ती आचार्य की उक्ति इस समर्थन में प्रस्तुत की है—

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैबहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ।।

अग्निपुराणकार ने अलंकार के इस महत्त्व को स्वीकार करते हुए बताया है—'अलंकाररहिताविधवैव सरस्वती' । महिमभट्ट 'चारुत्व' को काव्य का प्रमुख तत्त्व मानते हैं । इस 'चारुत्व' के प्रकाशक तत्त्व का नाम अलंकार है—

चारुत्वं हि वैचित्र्यापर पर्यायं प्रकाशमानमलङ्कारः ।
चारुत्वं अलंकारः

इसलिए अलंकार काव्य के समग्र चारुत्व का पर्याय बना ।

नमिसाधु ने अलंकार की व्याप्ति की ओर संकेत करते हुए बताया है कि—

'यावन्तो हृदयावर्जका अर्थ प्रकाराः तावन्तोऽलङ्काराः'

जितने प्रकार के 'हृदयावर्जक' वाक्य प्रकार हो सकते हैं, वे सभी अलंकार हैं ।

'अलंकार सिद्धान्त' की पुनर्प्रतिष्ठा वक्रोक्ति सिद्धांत के रूप में मिलती है । वक्रोक्तिकार कुन्तक ने अलंकार में निहित 'वक्रता' को विशिष्ट सैद्धांतिक आधार देकर काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया । आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य का चैतन्य (चैतन्यात्मा) स्वीकार करते हुए कहते हैं—

'विचित्रो यत्र वक्रोक्ति वैचित्र्यं जीवितायते'[1]

वक्रोक्ति की वक्रता काव्य में व्यक्त होकर उसे चैतन्य प्रदान करती है । कुन्तक ने इस वक्रोक्ति को कविव्यापारस्वरूपा माना है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ।।

वे प्रकरण, प्रबन्धादि वक्रताभेदों के सन्दर्भ में इसके जिस स्वरूप का उद्-घाटन करते हैं; वह काव्य में निश्चित ही श्लाघ्य है—

क्वचित्प्रकरणस्यान्तः स्मृतं प्रकरणान्तरम् ।
'सर्वप्रबन्ध सर्वस्य कलां पुष्णाति वक्रता'

यही नहीं, प्रबन्धवक्रता का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं—

नूतनोपायनिष्पन्नमवर्त्मोपदेशिनम् ।
महाकवि प्रबन्धानां सर्वेषामस्तिवक्रता ।

आचार्य कुन्तक वक्रता सिद्धांत की आत्मान्भूतता का समाहार तर्क द्वारा

---

१. वक्रोक्ति जीवित—१:४२

सिद्ध करते हैं। प्रायः काव्य के सर्वाङ्ग गुण, अलंकार, रीति एवं रस सभी के समाहार से यह सिद्धांत बनता है, फिर भी, उक्ति प्राधान्य से सिद्ध चमत्कृति (उत्पाद्य लावण्य) रूप यह वक्रता अलंकार का ही रूप पर्याय है।

१. वे शब्द और अर्थ के समाहार द्वारा गुण, रीति अलंकारों को वक्रोति में अन्तर्भुक्त करते हैं।

२. अलंकार एवं अलंकार्य का प्रश्न उठाकर वे अलंकारेतर सभी तत्त्वों को 'वक्रताभिधान' का विषय मानते हैं।

३. इनके द्वारा वक्रोक्ति के छः भेद हैं—वर्ण विन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता एवं प्रबन्धवक्रता।

वर्ण विन्यास के अन्तर्गत गुण, पद पूर्वार्ध एवं परार्ध के अन्तर्गत—वाक्य रचना के व्याकरणिक आधारों से उत्पन्न चमत्कृति, पर्याय, वृत्ति, संवृत्ति, उपचार आदि लाक्षणिक स्थितियों को अन्तर्भुक्त किया है। वाक्य वक्रता के अन्तर्गत उन्होंने वस्तु व्यापार एवं प्रकृति के रमणीक वर्णनों से उत्पन्न वक्रताओं का विवेचन किया है। रसादि के सन्दर्भ इसमें समाहित हैं। प्रकरण वक्रता के अन्तर्गत उत्पाद्य-लावण्य, अतिरंजित तत्त्व, उत्सव, क्रीड़ाओं एवं प्रबन्ध वक्रता के अन्तर्गत उसके प्रमुख तत्त्वों अङ्गिरस, चरित्र, कार्य सिद्धि एवं फलप्राप्ति आदि अनेक समस्याओं पर उन्होंने अपने विचारों को प्रस्तुत किया है।

उनके अनुसार यह वक्रता ही काव्य का सर्वोपरि तत्त्व है।

आचार्य कुन्तक का यह सिद्धान्त सम्पूर्णतः मान्य नहीं हो सकता और न वक्रता को काव्य की मूलात्मा के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है—

१. अलंकार को काव्य का प्रधानभूत तत्त्व नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उसका मुख्य कार्य अर्थ वैशिष्ट्य के माध्यम से रस को प्रकाशित करना है। यहाँ प्रकाशित करने का अर्थ है, उत्कर्षविधान। यही नहीं, अलंकार वक्रताधर्म से भिन्न हटकर काव्य का सौन्दर्यविधान भी करते हैं, क्योंकि इनके द्वारा काव्य को अलंकृत भी किया जाता है। इस सौन्दर्यविधान को वक्रोक्ति जैसा नाम देना अतिव्याप्ति है। इस प्रकार अलंकार काव्य के सौन्दर्य एवं उत्कर्ष विधान के लिए साधन मात्र हैं। अतः इसे काव्य का प्रमुख तत्त्व नहीं कहा जा सकता।

२. वक्रोक्ति काव्यत्मा नहीं है। वक्रोक्ति का निरूपण दो रूपों में किया गया है—१. अलंकार्य अर्थात् रूप-गुण, वस्तुसौन्दर्यादि २. अलंकृति—इनको व्यक्तकरने के माध्यम। इन दोनों में अभिन्नता है। यह अभिन्नता ही काव्य का समग्र लावण्य है, जिसका नाम कुन्तक ने वक्रोक्ति रखा है। क्या यह

वक्रोक्ति आत्मा है। वाक्य की वाह्य प्रक्रिया शब्दार्थ-विधान सौन्दर्यादि की रचना के अतिरिक्त और भी कई प्रमुख संघटक हैं, जो उसे जीवन्त बनाते हैं। उदाहरण के लिए रस तत्त्व। मूलतः कृति इन्हें अभिव्यक्त करने के लिए एक माध्यम हैं और इनका कोई रूपात्मक सिद्धान्त नहीं हो सकता। वक्रोक्तिकार कुन्तक सिद्धान्तों के ढाँचे बनाकर सब को इसी में सन्निविष्ट करके वक्रोक्ति की व्याख्या करते हैं। इससे काव्य के वाह्य पक्ष का तो सुन्दर विवेचन हो जाता है किन्तु उसके विषयिपक्ष का विवेचन नहीं होता। अलंकृति एवं अलंकार्य के प्रश्न को वाच्य एवं व्यंग्य की अनुकृति पर दो रूपों में एक ही तत्त्व को अभिव्यक्ति के दो रखकर पक्षों को वह दोनों को दो पक्षों के रूप में स्वीकार करते हैं। इस स्वीकृति के पीछे उसकी अलंकार विषयक धारणा के प्रति अतिशय मोह है, इसीलिए वह अलंकार्य का विवेचन करते हुए भी अलंकृति को उसके ऊपर लाद देते हैं। काव्य का स्पन्दन अलंकार्य तत्त्व से है और इस मूल काव्यात्मक सौन्दर्य के स्पन्दन की यदि व्याख्या गहराई से करते तो शायद वक्रोक्ति सिद्धान्त का स्वरूप एवं महत्त्व कुछ दूसरा होता।

काव्य रचना केवल रूपात्मक प्रक्रिया मात्र नहीं है। वह रचनाकार के सबसे जीवन्त एवं संवेदनशशील अनुभवों का पुंज है, जिसकी उपेक्षा इस सिद्धांत में हुई है, अतः इसे काव्यात्मा का स्थान नहीं दिया जा सकता।

ध्वनिवादियों ने ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया है—

यथा—

(१) काव्यस्यात्माध्वनिरितिबुधैर्यः समम्नातपूर्व

(२) अर्थसहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्यभेदावुभौ स्मृतौ।

(३) काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

इसमें से प्रथम निषेध-सिद्धिरूप एवं द्वितीय चैतन्य रूप तथा तृतीय रस रूप है। निषेध रूप का अर्थ है, जो अभाव रूप नहीं है, जो भक्ति रूप नहीं है, और जो अलक्षणीय नहीं है, वह ध्वनि काव्यात्मा है, इस निषेध-सिद्धि से वह प्रतीयमान एवं सादृश्य व्यापार से 'अंगना लावण्य' की भाँति है।

द्वितीय 'सहृदय श्लाघ्य अर्थ' के माध्यम से ध्वनि की सम्पूर्णता जो वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक तथा वस्तु से लेकर रस तक सर्वत्र व्याप्त एवं अनुभूत है, ध्वनि के रूप में काव्यात्मा है। ध्वनि से आवेशित होने के कारण उसका आधाम या आधार (वाच्य) भी आत्म रूप है और आधृत तत्त्व भी आत्मरूप। महिमभट्ट इसे दो रूपों में होना स्वीकार नहीं करते किन्तु काव्य में शब्द एवं अर्थ, वाच्य

एवं व्यंग्य, अलंकृति एवं अलंकार्य' इस प्रकार आलिंगित हैं कि उन्हें भिन्न रूप में विश्लेषित नहीं किया जा सकता और उनका यह सम्यक् आलिंगन ही काव्य है।

तीसरे में, वही सहृदयश्लाघ्य अर्थ स्वतः रस ही है, जो सहचरी-हनन की वियोग पीड़ा की अनुभूति से आदि कवि वाल्मीकि के हृदय से 'शोक' बन कर सहसा फूट पड़ा था। काव्य में रस व्यापार स्वतः अर्थ है और उसको 'रस अर्थ' की संज्ञा दी गई है। बिना इस रस अर्थ की उत्पत्ति के काव्य सार्थकता नहीं प्राप्त करता। अभिनवगुप्त अभिनवभारती में रस को काव्यार्थ भी मानते हैं— "तत्काव्यार्थो रसः"।

इस प्रकार, आनन्दवर्धन जिस प्रतीयमान की स्थापना करते हैं इसमें आत्मा की स्थिति इन रूपों में दिखाई पड़ती है—

(१) प्रतीयमान रूप काव्यात्मा जिसके तीन भेद हैं—

(क) वस्तु रूप

(ख) अलंकार रूप

(ग) रस रूप

इनके रूप में व्यंजित प्रतीयमान ही काव्यात्मा है।

(२) रस रूप काव्यात्मा

आत्मा के प्रश्न पर प्रकारान्तर से विचार करते हुये आचार्य अभिनवगुप्त ने वस्तु एवं अलंकार' रूप ध्वनि को काव्य की अन्तिम सत्ता के रूप में स्वीकृति नहीं दी है। 'वस्तु एवं अलंकार' स्वतः साध्य नहीं हो सकते और उनकी सार्थकता इसी में है कि वे 'रस अर्थ' को व्यंजित करें। इन दोनों की सार्थकता साध्य होने में नहीं, साधन होते में है, अतः वस्तु एवं अलंकार रूप प्रतीयमान काव्य की आत्मा नहीं हो सकते। वे साधन रूप हैं, साध्य रूप रस है। यही स्थिति, 'वाच्य' की भी है। काव्य से लिए आधार होते हुए भी वाच्य स्वतः में साधन है, साध्य व्यंग्य है। इस प्रकार ध्वनिमत से काव्य की आत्मा रस ध्वनि है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इन्हें अर्थात् वाच्य, वस्तु एवं अलंकार ध्वनि को लौकिक माना है। ये कभी-कभी स्वशब्दवाच्यता से भी पुरस्कृत होते हैं और लोकात्मक होते भी हुए 'ब्राह्मण श्रमण' न्याय से व्यंग्य भी हैं किन्तु इनसे भिन्न एक व्यंग्य वह है जो न स्वशब्द वाच्यत्व से दूषित होता है, न भ्रमात्मक है, और न लौकिक व्यवहार रूप। काव्य के सभी तत्त्व मिलकर जिस परमास्वादन रूप तत्त्व का सहृदयों के हृदय में आस्वादन कराते हैं, वह रस है, और वही काव्यात्मा है—

"यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिक व्यवहारपतित: किन्तु शब्द समर्प्यमाण हृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारसंविदानन्द चर्वणाव्यापाररसनीयो रस: स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति स एव मुख्यतयात्मेति ।"

अभिनवगुप्त: ध्वन्यालोकलोचन

काव्य की आत्मा रस है, इसको प्रकारान्तर से अन्य सिद्धान्तकारों नेस्वीकार किया है—आचार्य क्षेमेन्द्र 'औचित्य' रूप काव्यात्मा की चर्चा रससिद्धि के ही प्रकाश में करते हैं—

"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"

इस प्रकार, औचित्य की दृष्टि से भी काव्य में रस ही सर्वोपरि है। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने उद्भट कृत 'काव्यालंकारसार संग्रह' की भूमिका में उनके नाम के प्रचलित एक श्लोक का उल्लेख किया है, जिसमें रस को ही 'काव्य-जीवित' की संज्ञा दी गई है—

रसाधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतयामत: ।
तथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम् ।।

अग्निपुराणकार ने रस को साक्षात् ब्रह्म का ही अवतरण माना है—

आनन्द: सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन् ।
व्यक्ति: सा तस्य चैतन्य चमत्कार रसाह्वया ।।

अलंकारशेखर में सभी सिद्धान्तों के तुलनात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए शास्त्रकार ने रस को ही काव्यात्मा बताया है—

त्रिविधस्यापि दोषास्तु त्याज्या: श्लाघ्या द्वये गुणा: ।
अलंकारस्तु शोभायै रस आत्मा परे मन: ।।

भिन्न-भिन्न रूप से भी काव्यशास्त्रियों ने विविध सिद्धान्तों के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए 'शरीर-रचना रूपक' के अन्तर्गत काव्य की परिपूर्णता को व्यक्त करने का प्रयास किया है। रीति अंग संस्थान की भाँति, गुण गुण की भाँति, वक्रोति-विलास वक्रता की भाँति, अलंकार आक्षिप्त अलंकारों की भाँति, औचित्य--आभूषणादि सज्जा के औचित्य की भाँति और रस आत्मा की भाँति शरीर-रूपक में निहित हैं।

'रस' मूलत: काव्यात्मा है। परवर्ती आचार्यों में मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ इसके स्वरूप को जो प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं, उससे वह 'ब्रह्मानन्द सहोदर' के रूप में दिखाई पड़ता है। आचार्य भरत, दण्डी, भामह, वामन, रुद्रट, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, आनन्दवर्धन रस के स्वरूप एवं उसकी

महत्ता का प्रतिपादन करते हैं। अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य मतों में रस का महत्त्व अपरिहार्य है, और सभी रस विरोधी आचार्य प्रकारान्तर भाव से उसके महत्त्व को स्वीकृति प्रदान करते हैं। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट ध्वनि का समर्थन करते हुए उसके बहाने से रस की ही पुनप्रतिष्ठा करते हैं। इस प्रकार, रस ही काव्य की मूलात्मा है, क्योंकि लोकोत्तर रचनात्मक फल की निष्पत्ति व्यापार का वह अपर पर्याय है।

गुण सिद्धान्त

आचार्य भारत के पूर्व काव्यभाषा या व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली भाषा के गुणों की चर्चा किसी-न-किसी रूप में वर्तमान थी। जैनागम के राजप्रश्नीय सूत्रों में भाषा के पैंतीस विशेषणमूलक गुणों का उल्लेख मिलता है। जैन सहित्य के अनुयोगद्धार सूत्र में भाषा के निम्नखिखित आठ गुणों का उल्लेख है—

निर्दोष, सारवत्, हेतुमत, अलंकृत, उपनीत, सोपचार, मित एवं मधुर।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के अन्तर्गत बताते हैं कि शासकीय लेखन की भाषा में छः विशेषताएँ होनी चाहिये—

'क्रमबद्धता, सम्बन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य एवं स्पष्टता'

रामायण के बालकांड के प्रारम्भ में वाणी के उदार तथा मधुर गुण का उल्लेख मिलता है। किष्किधाकांड में हनुमान की वाणी को असंदिग्ध, अविस्तर तथा संस्कारक्रमसम्बद्ध कहा गया है। महाभारत में परुष, मधुर, विचित्र पद-पूर्ण विशेषण का उल्लेख मिलता है।[1] कालिदास साहित्य में श्लेष, प्रसाद, मधुर, ओज आदि वाणी विशेषणों का कथन है। दूसरी शती के रुद्रदामन के शिलालेख में काव्यवाणी सौंदर्य की ओर संकेत करते हुये बताया गया है कि—

'स्फुटलघुमधुरचित्रकांतशब्द समयोदाराऽलंकृत गद्यपद्यस्व'

इसमें स्फुट, लघु भाषा के प्रसाद, समता, माधुर्य, पद सौकुमार्य आदि गुणों में प्रयुक्त होने वाले शब्द समूह हैं। 'मधुर' तथा 'चित्रकान्त' शब्द भाषा के रसात्मक तथा कल्पनामंडित चित्रात्मक स्वरूप के द्योतक हैं। निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है, कि प्रारम्भिक काल में काव्य की भाषिक प्रतीति को उसके विशेषण वैशिष्ट्य से जाना समझा जाता रहा है।

गुण सिद्धान्त की ओर सर्वप्रथम संकेत आचार्य भरत ने किया—

---

१. देखिये—भरत और भारतीय नाट्य कला, सुरेन्द्र नाथ दीक्षित, पृ० २६५-२६२

अलंकारैर्गुणश्चैव बहुभिः समलंकृतम् ।
भूषणैरिव चित्रार्थैस्तत् भूषणमिति स्मृतम् ॥

अलंकार, गुण भूषण से काव्यभाषा समलंकृत होती है। उन्होंने ४ अलंकारों, १० गुणों एवं ३६ लक्षणों के माध्यम से काव्य की रचनात्मक भाषा के बाह्य-स्वरूप की समस्याओं को स्पष्ट किया है।

दोष का विवेचन करते हुये वे कहते हैं —'एत एव विपर्यस्ता गुणा' अर्थात् दोष गुण के विपर्यय हैं दूसरे शब्दों में दोषों का विपर्यय ही गुण हैं। आचार्य भरत के अनुसार दोषो की संख्या १० है—

दोष	गुण
१. गूढार्थ	सुगमार्थ
२. अर्थान्तर	अनर्थान्तर
३. अर्थविहीन	अर्थयुक्त
४. भिन्नार्थ	उचितार्थ
५. एकार्थ	एकार्थ भिन्न
६. अभिलुप्तार्थ	मूलार्थ प्राप्ति
७. न्यायादपेत्	अन्यायादपेत्
८. विषम	सरल
९. विसन्धि	अविसन्धि
१०. शब्दहीन	अशब्दहीन

आचार्य भरत 'विपर्यय' शब्द रखकर गुण के सम्बन्ध में क्या निर्देश करना चाहते हैं, यह स्पष्ट नहीं है किन्तु यह सत्य है कि उनके दस दोषों से दस गुण नहीं बनते। शायद वे 'विपर्यय' शब्द का प्रयोग करके यह कहना चाहते थे कि 'गूढ़ार्थ' का विपर्यय' 'सुगमार्थ' गुण हो सकता है किन्तु 'गुण' का विपर्यय दोष तभी होगा, जब वह १० गुणों से कोई इतर भिन्न तत्त्व हो। यही नहीं, 'अदोष' और 'अगुण' की स्थिति के कारण क्रमशः गुण एवं दोष के रूप में स्वीकार करने का निरन्तर भ्रम इस विपर्यस्तता में दिखाई पड़ती है। फिर भी, इस विपरीत भाव में गुणों की भावात्मक सत्ता कहीं-कहीं अवश्य प्रतीत होती है—

(१) गूढ़ार्थ	सुगमार्थ	समता गुण
(२) विषम	अविषम	माधुर्य तथा सुकुमार गुण
गूढ़ार्थ		
अर्थान्तर		

भिन्नार्थ
एकार्थ — अर्थव्यक्ति गुण
अभिलुप्तार्थ
अर्थविहीन

आचार्य भरत के 'विपर्यय' की असंगति को ही देखते हुए शायद अग्निपुराण ने बताया है—

न वाच्यम् गुणो दोषाभाव एव भविष्यति।
गुणाः श्लेषादयो दोषाः गूढ़ार्थाद्याः पृथक्कृता ॥

गुणों को दोषाभाव रूप स्वीकार करना तर्क संगत नहीं है। श्लेषादि गुण तथा गूढार्थ दोष परस्पर (वैपरीत्य भाव से) सम्बद्ध नहीं हैं।

आचार्य दण्डी की गुण विषयक धारणा अधिक विकसित एवं परिपक्व है। विद्वानों ने दण्डी को गुण सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक माना है। आचार्य दण्डी ने अलंकार, रस, रीति का विवेचन करते हुए उनकी मूलात्मा के रूप में 'गुण' को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। काव्यादर्श गुण सिद्धान्त का मानक ग्रन्थ है।

अलंकार को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं—

'काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते'

मार्ग को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते काव्यवर्त्मनि ॥

रस के सम्बन्ध में वे कहते हैं—

मधुरं रसवत् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः

काव्य के शोभाकारक धर्म (अर्थ, रस, मार्गादि, अन्यान्य वृत्ति, वृत्त्यंग, संधि, संध्यंग आदि) अलंकार के रूप में व्यक्त होते हैं। आचार्य दण्डी प्रकारांतर से 'शोभाकर धर्म' में काव्य के भाषिक गुणों का ही संकेत करते हैं जो 'स्वभावोक्ति' से जुड़े हुए उसी के साथ निरन्तर भाव से व्यक्त होते हैं। मार्ग (रीति) गुणाश्रित हैं। उनकी प्रतीति एवं स्वभाव गुण के परिणाम हैं। यही नहीं, 'रसवत्' आदि का विवेचन करते हुए वे कहते हैं कि गुण भाव में परिणत होते हैं और यही भाव रसवत् बन जाते हैं। कुल मिला कर, समग्रतया 'गुण व्यापार' ही काव्य धर्म के रूप में व्यक्त होते हैं। वही काव्य का सर्वस्व है।

आचार्य दण्डी गुण सम्बन्धी धारणा का सर्वप्रथम बार बिकास करते हुए प्रतीत होते हैं। आचार्य भरत के पश्चात् इस धारणा में निश्चित रूप से विकास

ुआ होगा, और दण्डी कृत काव्यादर्श के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन्होंने इस मान्यता को उसके शीर्ष पर पहुँचाने की चेष्टा की। आचार्य वामन दण्डी की ही धारणाओं का स्पष्टीकरण करते हुए प्रतीत होते हैं। श्री पी० वी० कणे महोदय दण्डी को किसी संप्रदाय से सम्बद्ध नहीं मानते,

"He gives howevcr, such an exhaustive treatment of गुणs and अलंकार sthat it is not possible to identitify him with any particular school."

गम्भीरतापूर्वफ विचार करने पर दण्डी को कणे की मान्यताओं से भिन्न 'गुण-सिद्धान्त' के समीप देखा जा सकता है।

आचार्य भामह ने दण्डी का विरोध सैद्धान्तिक स्तर पर किया है। उनके अनुसार दण्डी कृत स्वाभावोक्ति एवं उससे प्रभावित अलंकार यथा, वार्ता, सूक्ष्म, हेतु, लेश आदि उन्हें मान्य नहीं हैं। वे रसवत्, प्रेयस, ऊर्जस्वित् आदि को भी केवल उल्लेख के स्तर पर ग्रहण करते हैं। स्वाभावोक्ति के स्थान पर उन्होंने वक्रोक्ति को अलंकारत्व का मूल आधार माना है। वक्रोक्तिवादी आचार्य भामह के अनुसार 'नितांतादि' के समर्थन प्रयोगवादी हैं जो भाषिक सौंदर्य प्रकारान्तर से गुण को काव्य का सर्वस्व मानते हैं। इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा अलंकार सिद्धान्त के अन्तर्गत की जायेगी। भामह का यह विरोध दण्डी को गुण के समीप रखता है।

आचार्य दण्डी गुण का सम्बन्ध मात्र भाषिक समृद्धि से ही नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार काव्य की अर्थ तथा भाव समृद्धि गुण से प्रभावित होती है। काव्यभाषा के माधुर्य एवं समाधि गुणों की चर्चा करते हुए वे इस तथ्य की ओर स्पष्ट उल्लेख करते हैं। यही नहीं, अलंकार की धारणा भी आचार्य दण्डी के अनुसार गुण सापेक्ष्य है। आचार्य दण्डी की अलंकार विषयक परिभाषाओं को देखने से स्पष्ट है कि अलंकारों में सार्थकता उनके मूल स्वभाव सेआती है।

यथा—

उपमा—यथाकथंचित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।

दीपक—जातिक्रिया गुणद्रव्य वाचिनैकत्रवर्तिना।

आक्षेप—प्रतिषेधोक्तिराक्षेप

व्यतिरेक—शब्दोपात्ते प्रतीते वा दृश्यते वस्तुनोर्द्वयोः।

यत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते।

इसी तरह उनके समस्त अलंकारों के विवेचन से स्पष्ट है कि वे उनके सम्बन्ध में भामह आदि की भाँति अर्थगत तात्विक संगति न देकर अलंकारों को

उनके सामान्य स्वभाव के अनुरूप परिचित कराते हैं। उनकी अलंकार विवेचन की यह शैली भामह की वक्रतागर्भित एवं वामन की सादृश्यर्मित शैली से पूर्णतया भिन्न है। वे 'गुण' तथा 'स्वभावोक्ति' के प्रकाश में, जिन अलंकारों का जो गुण एवं स्वभाव है, उसी का विवेचन करते हैं।

आचार्य भामह 'गुण सिद्धान्त' पर अधिक विस्तारपूर्वक प्रकाश नहीं डालते। वे काव्यभाषा के सौशब्दवादी विशेषण समर्थक कवियों का विरोध करते हैं। वे गुणों की संख्या तीन ही स्वीकार करते हैं; ओज, प्रसाद तथा माधुर्य। आचार्य उद्भट ने भामह विवरण नामक इनके ग्रंथ का संदर्भ देते हुए इनकी गुण सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट किया है—

'समवायवृत्या शौर्यादयः, संयोगवृत्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः'

अर्थात् 'गुण' काव्य के लिये आवश्यक है, इसका काव्य से अनिवार्य सम्बन्ध है, हारादि अलंकार की भाँति देह से उसका संयोगवशात् सम्बन्ध नहीं है। ये काव्यालंकार के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में मात्र इतना ही बताते हैं—

माधुर्यमभिवादन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते।
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।
यया मन्दार कुसुमरेणुपिंजरितालका।
श्रव्यं नाति समस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते।
आविद्वदङ्गनावाल प्रतीतार्थं प्रसादवत्।

माधुर्य एवं प्रसाद की इच्छा रखने वाले कविजन काव्य में समस्त पदों का प्रयोग नहीं करते। कुछ लोग, ओज गुण की इच्छा रखने वाले अनेक समास पदों का प्रयोग करते हैं।

जो श्रवण सुखद हो, अधिक समस्त पदों से युक्त न हो, जिसका अर्थ विद्वान से लेकर शिशु एवं स्त्रियों तक की समझ में आ जाय, वह प्रसाद है।

आचार्य दण्डी अपने गुण सिद्धान्त को मार्ग विवेचन के रूप में अधिक स्पष्टतापूर्वक रखते हैं। उनके अनुसार मार्ग अर्थात् काव्य की प्रचलित विविध शैलियों के मूल में गुण उनके चैतन्य (प्राण) के रूप में वर्तमान है। वे बताते हैं—

श्लेष प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता,
अर्थ व्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्ति समाधयः।
इति वैदर्भ मार्गस्य प्राणा दश गुणा स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड वर्त्मनि॥

ये क्रमशः गुणों के अनुक्रम में शैली तथा वर्ण पद विन्यास योजना की विशिष्टताओं पर प्रकाश डालते हैं।

१. श्लेष	शैथिल्यविहीन पद रचना	अनुप्रास प्रिय होने के कारण गौडों को अधिक प्रिय है।
२. प्रसाद	प्रसिद्ध तथा सुपरिचित अर्थयुक्त सरलता	व्युत्पत्तियुक्त प्रसाद अर्थ गौडों को अधिक प्रिय है।
३. माधुर्य	सानुप्रास रसवाही भाषा गुण	श्रुत्यानुप्रास का गौडियों ने आदर किया है।
४. सुकुमारता	कर्ण कटुरहित कोमलाक्षर	गौडों के लिये असाध्य
५. समता	विषमता रहित पद रचना	गौड कवि विषमता रहित पद पर विचार न करके अर्थ तथा अलंकार के उत्कर्ष पर ध्यान देते हैं।
६. अर्थ व्यक्ति	अर्थ में कष्ट साध्य कल्पना का अभाव	यह विदर्भों तथा गौडों दोनों को प्रिय है।
७. उदारता	मनोहर विशेषणों से युक्त उत्कर्ष प्रतिपादक भाषा का लोकोत्तर चमत्कारी अर्थ	यह गौडों में नहीं है।
८. ओज	समास बहुलता	गौडों को नितान्त प्रिय
९. कान्ति	लोक प्रसिद्धि के अनुरूप रसात्मक वर्णन	गौड अतिशयोक्ति के रूप में ही इसे स्वीकार करते हैं।
१०. समाधि	अतिशय चमत्कार बाहुल्य से युक्त अर्थ	गौडीय एवं वैदर्भ दोनों के द्वारा स्वीकृत

इनके इस विवेचन से स्पष्ट है कि गुण न केवल काव्य रचना की भाषिक प्रकृति को स्पष्ट करता है, अपितु वह अर्थस्वभाव की प्रतीति का भी माध्यम है।

आचार्य दण्डी तथा भामह की धारणाओं को देखकर अनेक विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि चौथी शती से लेकर १०वीं शती तक काव्य के दो विशेष मतवाद प्रचलित थे। एक का सम्बन्ध भाषा के माधुर्य गुण से था और उसके अन्तर्गत 'वैदर्भी गुण' को काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया गया। आचार्य दण्डी, वामन, राजशेखर आदि काव्य भाषा के वैदर्भ पद के समर्थक रहे हैं—

दण्डी—

इति वैदर्भ मार्गस्य प्राणा दश गुणाःस्मृताः ।
एषां विपयर्यो प्रायो दृश्यते गौड वर्त्मनि ।

वामन—

अस्पृष्टपटादोषमात्राभिः समग्रगुण गुम्फिता ।
विपंची स्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ।
सतिवक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ।

राजशेखर—साहित्यविद्यावधू एवं काव्य पुरुष के प्रसंग में सांकेतिक ढङ्ग से उसने विदर्भ प्रदेश के महत्त्व एवं वैदर्भी रीति की सर्वोत्तमता का निर्देश किया है—

वाग्देवता वसति यत्र रसप्रसूतिः
लीलापदं भगवतो मदनस्य यत् च,

यह वह प्रदेश है, जहाँ साहित्य विद्यावधू और काव्य पुरुष का गान्धर्व परिणय हुआ था—

तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्मनाम नगरम् । तत्र सारस्वतेयस्तामौयेयीं गन्धर्ववत् परिणिनाय ।

इन विदर्भवादियों का विरोध अर्थवादी विशेष रूप से वक्रोक्तिवादियों से रहा है और भामह, उदभट, कुन्तक, रुय्यक आदिअर्थवादियों की इस परम्परा से जुड़े हुए थे ।

आचार्य दण्डी के गुण विषयक चिन्तन को आचार्य वामन ने विकसित किया । वामन ने ने दो तथ्यों पर विशेष बल दिया—

१. गुण क्या है ?

२. अलंकार एवं रीति में विषमता तथा सम्बन्ध क्या हैं ?

(१) गुण की परिभाषा (गुण क्या है)—वामन के पूर्व रीति का लक्षण निर्धारित नहीं किया गया था । दण्डी ने 'काव्य शोभाकारक' धर्म का उल्लेख अवश्य किया था, किन्तु उसका सम्बन्ध उन्होंने अलंकार से लगाया । वामन गुण को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्मागुणाः

वे 'काव्य के शोभा उत्पादक धर्म को गुण' मानते हैं । उनके अनुसार उपमा, रूपक आदि काव्य की शोभा उत्पन्न नहीं कर सकते । काव्यरूप शब्द एवं अर्थ के नैसर्गिक सौन्दर्य का विधान गुण के बिना संभव नहीं है । शब्द तथा अर्थ

स्वभाव का ज्ञान उपमादि नहीं करा सकते। उपमादि काव्य गुण को दीप्त करने के साधन हैं, काव्यभाषा के नैसर्गिक धर्म नहीं।

(२) **गुण की अलंकार तथा रीति से भिन्नता**—जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट है, आचार्य वामन अलंकार को गुण का साधन मानते हैं, गुण साध्य हैं। वे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

तदतिशयहेतवस्तेऽलंकाराः

अलंकार गुण अर्थात् काव्य शोभा को अतिशयता (तीव्रता आदि) प्रदान करने के हेतु (साधन) हैं। यही नहीं, वे अपने ग्रन्थ के एक सूत्र में बताते हैं कि—

'पूर्वे गुणा नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः'

गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, उनके बिना काव्य में सौंदर्य सृष्टि असंभव है। वे कहते हैं—

यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्काराणि संश्रयन्ते॥

यदि काव्य गुण च्युत है तो स्त्री के यौवनशून्य देह के समान वह सुन्दर नहीं है और लोक विश्रुत अलंकारधारण भी उसे शोभन नहीं बना पाते।

रीति तथा गुण के सम्बन्ध पर उन्होंने विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। वे बताते हैं कि यदि काव्य की आत्मा रीति है, तो रीति की आत्मा गुण है। गुणों का आश्रय ग्रहण करके रीति प्राणवती होती है। इस प्रकार, उनके अनुसार रीति एवं गुण के बीच न केवल अनिवार्य सम्बन्ध है, अपितु वे उनकी भिन्नता की ओर भी निर्देश करते हैं।

आचार्य दण्डी ने जिस गुण सिद्धान्त की व्यस्थित ढंग से व्याख्या करने की चेष्टा की, आचार्य वामन ने यथोचित् रूप से उसका विवेचन करके रीति सिद्धांत के लिए आधार स्तम्भ बनाया। गुण तथा रस के सम्बन्ध का विवेचन प्रायः दण्डी की ही भाँति है। अन्तर केवल इतना है कि आचार्य दण्डी माधुर्य गुण को रसाभिव्यक्ति का साधन मानते थे, किन्तु वामन कान्ति नामक अर्थगुण को रस दीप्ति का कारण बताते है—

'दीप्ति रसत्वं कान्तिः'

दीप्ता रसाः श्रृंगारादयो यस्य स दीप्त रसः
तस्य भावो दीप्त रसत्वं कान्तिः।

आचार्य दण्डी ने गुण तथा काव्यपाक के सम्बन्ध की ओर कोई निर्देश नहीं

दिया था। वामन ने उन दोनों के बीच निहित अर्न्तसम्बन्ध को स्पष्ट किया। उन्होंने गुणों की स्पष्टता तथा परिपूर्णता को ही काव्यपाक माना है—

गुणस्फुटत्व साकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते
चूतस्य परिणामेन स चाऽयमुपमीयते ।

गुणों का संपूर्ण भाव में स्फुट होना एवं परिपूर्णता काव्यपाक है और इसकी उपमा आम्र के पूर्ण परिपक्व होने से दी जाती है।

आचार्य वामन के गुण विवेचग की पद्धति दण्डी से कहीं अधिक मौलिक है। उन्होंने काव्यभाषा एवं अर्थ के नैसर्गिक स्वभाव का ध्यान रखते हुए गुणों को दो भागों में विभक्त किया; शब्द गुण तथा अर्थ गुण। आचार्य भरत, दण्डी एवं वामन द्वारा निर्दिष्ट गुणों एवं उनके स्वरूप निर्धारण का तुलनात्मक क्रम इस प्रकार है :—

गुण	आचार्य भरत	दण्डी	वामन	
			(शब्द गुण)	(अर्थ गुण)
१. श्लेष	सार्थक पदों का आश्लेष	अशिथिल पद रचना	मसृणता	क्रम और कुटिलता का अभाव
२. प्रसाद	अर्थ का सुखपूर्वक बोध	अर्थ की नितांत स्पष्टता तथा सरलता	ओज मिश्रित शिथिलता	अर्थ की विमलता
३. समता	पदों की अन्योऽन्य समता	विषमता रहित पद रचना	प्रारम्भ से अन्त तक एक ही पद्धति	अविषम बन्ध
४. माधुर्य	अनुद्वेजक पदावली	अनुप्रास युक्त रसवाही भाषा	लम्बे समासों का अभाव	उक्ति वैचित्र्य
५. सुकुमारता	सुख से बोले जाने वाले शब्दों का प्रयोग	कर्ण कटु रहित कोमलाक्षर	अपरुष शब्द	अपरुषता
६. अर्थव्यक्ति	अर्थ का अविलम्ब बोध	अर्थ की कष्टसाध्य कल्पना का अभाव	अर्थ सम्पर्क में विलम्ब का अभाव	वस्तुभाव की स्फुटता

७. उदारता	अर्थ सौष्ठव युक्त सुंदर कथन	मनोहर विशेषणों से युक्त भाषा का लोकोत्तर चमत्कारी अर्थ	अग्राम्यता	पदों का नृत्य करता हुआ - सा प्रतीत होना
८. ओज	शब्दार्थ की उदात्तता	समास बहुलता	पदबन्ध की गाढ़ता	प्रौढ़ि
९. कान्ति	मनःश्रोतप्रसादी शब्द सम्बन्ध	लोक प्रसिद्धि के अनुरूप रसात्मक वर्णन	उज्ज्वलता	रसदीप्ति
१०. समाधि	अर्थ की विशेषता	अतिशय चमत्कार-बाहुल्य युक्त अर्थ	आरोह-अवरोह से युक्त अर्थ	अर्थ का दर्शन

आचार्य भरत, भामह एवं दण्डी की गुण विषयक धारणाओं के तुलनात्मक अध्ययन से इस निष्कर्ष पर सरलतापूर्व पहुँचा जा सकता है, कि वामन ने अधिक विस्तारपूर्वक गुणों के स्वरूप को समझकर उसकी काव्यात्मक-व्याप्ति पर प्रकाश डाला है।

वामन के पश्चात् गुण विवेचन की दिशा में विशेष विस्तार नहीं मिलता। आचार्य आनन्दवर्धन ने गुण के स्वरूप तथा स्वभाव को परिभाषित करते हुए बताया कि—

'तमर्थमवलम्बन्ते ये ऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृता'
अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्या कटकादिवत् ॥

अर्थात्, जो उस प्रधानभूत (रस) अङ्गिन् के आश्रित रहते हैं, वे गुण हैं। इसे पूर्ववर्ती परम्परा में गुण के रीति, अलंकार, काव्यपाक आदि सम्बन्ध से उसे पृथक् करके रसाश्रित सिद्ध किया गया। आचार्य दण्डी एवं वामन दोनों गुणों को 'रसदीप्ति' का साधन मानते हैं, किन्तु आनन्दवर्धन गुण को रसाश्रित मानते हैं—

१. श्रृंगार	माधुर्य	चित्त द्रुति
२. करुण	माधुर्य	चित्त द्रुति

३. रौद्र, वीभत्स, भय आदि शेष रस—ओज दीप्ति (उत्तेजन) विकास
प्रसाद व्यापकत्व (खिल जाना)

इस प्रकार, रसाश्रित होकर गुण पाठक के मन में द्रुति, दीप्ति एवं विकास का भाव उत्पन्न करते हैं। आचार्य मम्मट भी लगभग इसी मान्यता के क्रम में चित्तद्रुति (आह्लादित होना), दीप्ति एवं चित्त प्रासादिकता को गुण का रसाश्रित स्वभाव मानते हैं।

अग्निपुराण की गुण सम्बन्धी व्याख्या आचार्य दण्डी आदि विदर्भ परम्परा की है। इस सम्बन्ध में अग्निपुराणकार बताते हैं—

अलंकृतमपि प्रीत्येन काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्॥
न च वाच्यम् गुणो दोषाभावैव भविष्यति।
गुणाः श्लेषादयो दोषाः गूढ़ार्थाद्या पृथक्कृता॥
यः काव्येमहतीं छायां अनुग्रहणाति असौ गुणः।
सम्भवत्येष सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा॥

गुण विहीन काव्य अलंकृत होता हुआ भी प्रीतिकर नहीं होता। शरीर के अललित होने पर हार भी भार बन जाता है।

गुणों को दोषाभाव रूप स्वीकार करना युक्ति संगत नहीं है, श्लेष आदि गुण और गूढ़ार्थ आदि दोष परस्पर सम्बद्ध नहीं हैं।

जो साधन काव्य में महती शोभा लाता है, उन्हें गुण कहा जाता है, ये सामान्य तथा विशेष दो प्रकार के होते हैं। सामान्य का अर्थ है, सभी काव्यों में अभिव्यक्त गुण तथा विशेष का अर्थ है, रचना में आगत विशिष्ट गुण।[1]

आचार्य मम्मट गुण को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

ये रसस्याङ्गिनोधर्माः शौर्यादय इव आत्मनः।
उत्कर्षहेरवस्ते स्युश्चलस्थितयो गुणा।

जो अङ्गिन् रस के अंग (सहायक) धर्म (आत्म के शौर्यादि की भाँति अनिवार्य धर्म की तरह) निश्चल भाव से विद्यमान होकर रसोत्कर्ष के हेतु बनते हैं।

---

१. उद्‌भट कृत काव्यालंकारसार संग्रह की टीका में "अलंकाराणां गुणोपजनित शोभे काव्ये शोभातिशय विधायित्वाद्" कहा गया है।

गुणों की संख्या

आचार्य भरत के अनुसार गुणों की संख्या १० है।

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति तथा समाधि !

आचार्य दण्डी गुणों की इस संख्या को तद्वत् स्वीकार करते हैं। आचार्य भामह इसकी संख्या ३—'ओज, प्रसाद तथा माधुर्य' के रूप में स्वीकर करते हैं। इसकी स्वीकृति का मूल कारण क्या है, वे उसे स्पष्ट नहीं करते। आचार्य वामन गुणों की संख्या २० मानते हैं। १० शब्दगुणों के साथ १० अर्थगुणों की परिकल्पना करते हैं, जो नाम की दृष्टि से तद्वत् ही हैं। आनन्दवर्धन गुणों की संख्या तीन ही स्वीकार करते हैं, यह क्रम भामह का है। अग्निपुराणकार के अनुसार गुण के सामान्यतः ३ भेद हैं—

१. शब्द गुण, २. अर्थ गुण, ३. शब्दार्थ अर्थात् उभय गुण

शब्द गुण—श्लेष, लालित्य, गांभीर्य, सुकुमारता, उदारता, सत्य, यौगिकी

अर्थ गुण—माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि, सामयिकत्व

शब्दार्थ गुण—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्ति, पाक, राग

इस प्रकार अग्निपुराण का गुण वर्णन परम्परा से भिन्न है।

ओज, प्रसाद, माधुर्य के अन्तर्गत १० गुणों का अन्तर्भाव किस प्रकार किया गया, इस सम्बन्ध में बताया गया है कि—

१. ओज में श्लेष उदारता, प्रसाद, समाधि इन गुणों का अन्तर्भाव हो जाता है।

२. प्रसाद—कान्ति तथा सुकुमारता का अन्तर्भाव इसमें हो जाता है।

३. माधुर्य—माधुर्य गुण रूप यह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अर्थगुणों को काव्य का सहज धर्म बताया है, और उनका संकेत है कि काव्य के इस सहज धर्म को गुण के रूप में स्वीकार करने पर उसकी संख्या अनन्त हो सकती है; अतः शब्द गुण, 'ओज, 'प्रसाद' तथा 'माधुर्य' यही तीन उचित प्रतीत होते हैं।

ओज—भरत ओज के सन्दर्भ में बताते हैं—समास बहुल, विचित्र, उदार, अर्थयुक्त तथा परस्पर अर्थों से युक्त रचना ओज गुण युक्त होती है। भामह बताते हैं—

केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।

'यथा—मन्दाकुसुमरेणुपिंजरितलिका'

इनके अनुसार 'अनेक पदों के समास से ओज गुण' उत्पन्न होता है। दण्डी बताते हैं—

ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।
पद्येऽप्य दाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्॥
तद्गुरूणां लघूनां च बाहुल्याल्पत्वमिश्रणैः।
उच्चावच प्रकारं तद् दृश्यमाख्यायिकादिषु॥

समास की अत्यधिकता ओज गुण है और यह गद्य का प्राण है। दक्षिणात्यों के अतिरिक्त गौड आदि को यह पद्य में प्रिय है। यह ओज गुण गुरु और लघु अक्षरों की एकत्र रचना में अधिकता और न्यूनता के सम्मिश्रण से देखा जाता हुआ विविध प्रकार का होता है। आख्यायिका आदि में इसका प्रयोग श्लाघ्य है।

आचार्य वामन ओज के लक्षण को बताते हुए कहते हैं—'शब्दगुण के रूप में यह—'गाढ़बन्धत्वं ओजः' अर्थात् अक्षर विन्यास की संश्लिष्टता से उत्पन्न बन्ध की सघनता ही ओज है तथा अर्थगुण ओज के विषय में बताते हैं कि 'अर्थस्य प्रौढ़िरोजः' अर्थात् अर्थ की प्रौढ़ि ही ओज है। इस प्रौढ़ि को वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढ़िर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमेव च॥

पद के प्रतिपाद्य अर्थ के लिए वाक्य का प्रयोग, वाक्यार्थ के बोध के लिए पद का प्रयोग तथा प्रतिपादित अर्थ का व्यास एवं समास रूप से कथन प्रौढ़ि रूप ओजार्थ हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने मन को आवेशित (उत्तेजित) करने वाले रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स आदि के सहायक भाषिक एवं अर्थगत धर्म को ओज बताया है। पण्डितराज जगन्नाथ बताते हैं कि ह्रस्व स्वरों एवं व्यञ्जनों की संयोग की अधिकता से उत्पन्न गाढ़ता ही ओज है।

आनन्दवर्धन के पूर्व ओज के सम्बन्ध में दूसरी मान्यता थी। इस मान्यता का सम्बन्ध भाषा की सामासिक अधिकता से था। यह प्रसाद गुण के पूर्ण विपरीत समझा जाता रहा है। किन्तु, आनन्दवर्धन ने इसका सम्बन्ध रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स आदि के सहायक धर्म के रूप में प्रतिपादित किया—परिणामस्वरूप यह काव्य भाषा का नैसर्गिक धर्म से किंचित् हट कर रौद्र आदि भावाभिव्यक्ति का भाषिक साधन बन गया। प्रथम स्थिति में शृंगारादि में भी भाषा की समास बहुलता ओज हो सकती थी किन्तु द्वितीय स्थिति में चित्त में माधुर्य एवं प्रासादिकता उत्पन्न करने वाले किसी भी भाव से ओज का सम्बन्ध

नहीं है। आचार्य दण्डी ने श्रृंगार रस के उदाहरणों द्वारा ही 'ओज की पुष्टि की है—यथा—

पयोधर तटोत्संङ्गलग्नसन्ध्यातपांशुका।
कस्य कामातुरं चेतो वारुणी न करिष्यति॥

इसका समस्त पद 'भाषिक ओज' को तथा अर्थ मन में आह्लाद को उत्पन्न करता है।

हिन्दी में, द्वितीय मत ही प्रचलित है। समासबहुल, द्वित्व, रेफ ट वर्ग र, वर्णों के बाहुल्य से वीर, भयानक, वीभत्स आदि की आवेश उत्पन्न करने वाली भाषिक योजना 'ओज गुण' के नाम से जानी जाती है।

प्रसाद—भरत ने शब्दार्थ के सुखद संयोग को 'प्रसाद' गुण माना है। भामह के अनुसार प्रसाद का लक्षण इस प्रकार है—

श्रव्यं नाति समस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते।
आविद्वदङ्गना बाल प्रतीतार्थं प्रसादवत्॥

श्रवण करने योग्य, समासरहित तथा उस विशिष्ट माधुर्य से युक्त हो जिसे विद्वान, स्त्री बच्चे सभी सुगमतापूर्वक समझ जाएँ। दण्डी प्रसाद गुण को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

'प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति।'

प्रसिद्ध या सुपरिचित अर्थ से परिपूर्ण एवं सरलता से समझ में आने वाले वाक्य को प्रसाद गुण कहते हैं। प्रसाद शब्दगुण को परिभाषित करते हुए दण्डी कहते हैं—

'शैथिल्यं प्रसादः'

'शैथिल्य' शब्द ओज में निहित 'गाढ़ बन्धत्व' का विलोम है। प्रकारांतर से नितान्त स्फुट तथा स्पष्ट पद समूह प्रसाद के नाम से पुकारा जा सकता है। प्रसाद अर्थ गुण को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं—

'अर्थ वैमल्यं प्रसादः'

अर्थात्, अर्थ की विमलता ही प्रसाद गुण है।

आनन्दवर्धन ने रस को उत्कर्ष प्रदान करने वाले व्यापकत्व या विकास (प्रस्फुटित होना, खिलना) नामक भाषिक गुण को प्रसाद की संज्ञा दी है। पंडितराज जगन्नाथ बताते हैं कि हाथ में स्थित बेर आदि की भाँति सुनते ही जिसका अर्थ बिना प्रयास के ही समझ में आ जाये, वह प्रसाद गुण है।

माधुर्य—सामान्यतया माधुर्य गुणों सभी गुण में सर्वोपरि माना गया है। आचार्य भरत ने इसको स्पष्ट करते हुए बताया है—

वाक्य को पुनः पुनः पुनरावृत्ति होने पर भी मधुरता के न क्षीण होने से माधुर्य गुण होता है—

बहुशो यच्छ्रुतं काव्यमुक्तं वापि पुनः पुनः
नोद्वेजयति तस्माद्धि तन्माधुर्यमुदाहृतम् ॥

भामह ने इसके सम्बन्ध में बताया है—

माधुर्यमभिवाछन्तः प्रसादश्च सुमेधसः ।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुंजते ॥

माधुर्य तथा प्रसाद गुण की वांछा रखने वाले समस्त पदों का प्रयोग नहीं करते अर्थात् प्रसाद गुण की भाँति माधुर्य गुण समास विहीन पदों का धर्म है। आचार्य दण्डी माधुर्य के प्रबल समर्थकों में थे। वे उसे परिभाषित करते हुए कहते हैं—

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता ॥

शब्द तथा अर्थ में रस की स्थिति होती है, और माधुर्य रस युक्त है। इससे विद्वान उसी प्रकार हर्षित होते हैं, जैसे प्रकार शहद से मधुमक्खियाँ। अनुप्रास आदि के साथ उत्पन्न होने वाले इस माधुर्य गुण की विशेषताओं की उन्होंने विस्तारपूर्वक चर्चा की है। शब्द गुण के रूप में माधुर्य के लक्षण का निर्देश करते हुए वामन कहते हैं—

'पृथक् पदत्वं माधुर्यम्'

'पृथक् पदत्व' के माध्यम से उन्होंने भाषिक रचना के स्तर पर समास-विहीन पद रचना को माधुर्य का नाम दिया है। अर्थ गुण के रूप में माधुर्य को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं—

'उक्ति वैचित्र्यं माधुर्यम्'

भंगिमा के द्वारा प्रकर्षवान अर्थ को व्यञ्जित करने के कारण माधुर्य गुण विशेष आकर्षक होता है। वामन 'कान्ति' को माधुर्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व-पूर्ण स्वीकार करते हैं। आनन्दवर्धन ने बताया है कि रस को उत्कर्ष प्रदान करने वाले चित्तद्रुति (दीप्ति) नामक धर्म माधुर्य है। यह शृंगार एवं करुण में प्रमुखता से प्रयुक्त होता है। कविराज विश्वनाथ ने बताया है—

'चित्तद्रवी भावमयोह्लादो माधुर्यमुच्यते'

वह भावमयी आह्लाद जिससे चित्त द्रवित हो उठे, माधुर्य है।

गुण सिद्धान्त का मूल्यांकन

संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य भाषा के नैसर्गिक स्वभाव को इंगित करने के लिए गुण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। काव्यभाषा की सामान्य भाषा से अपनी भिन्न प्रकृति है। यह भाषा कवि द्वारा रची एक विशिष्ट प्रकार के भावात्मक वैशिष्ट्य से परिपूर्ण है। काव्यभाषा के सन्दर्भ में, प्रारम्भिक काव्यशास्त्रियों ने, दो प्रश्न उठाये थे—

१. काव्यभाषा की शुद्धि एवं सौष्ठव

२. काव्यभाषा का नैसर्गिक भावात्मक वैशिष्ट्य

शुद्धि तथा सौष्ठव की समस्या का समाधान काव्यपाक के माध्यम से दिया गया एवं उसके सहज, प्राकृतिक तथा स्वभावनानुकूल उत्पन्न भावात्मक वैशिष्ट्य को गुण की संज्ञा दी गई।

काव्यभाषा के इस बाह्य स्वभाव को १० भागों में विभक्त किया गया। काव्यभाषा के मात्र इतने ही गुण सम्भव नहीं है, फिर भी भाषा की प्रकृति एवं मन की उसके सम्पर्क में आने वाली सहज मनोदशा दोनों को मिलाकर यह सम्भावित आधार तैयार किया गया था। यथा अर्थव्यक्ति, श्लेष ये शुद्ध भाषिक गुण हैं। प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता उदारता, ओज, कान्ति तथा समाधि ये मनस्वृत्ति से सम्बद्ध हैं। इसीलिए आगे चलकर आनन्नवर्धन ने इस सिद्धान्त के मूल में निहित मनस् वृत्ति के स्वभाव को स्पष्ट किया। चित्तद्रुति, दीप्ति, विकास एवं विस्तार मानसिक वृत्तियों एवं भाषा के नैसर्गिक स्वभाव को और अधिक स्पष्ट करते हैं।

आचार्य वामन गुण को शब्द तथा अर्थपरक मानते हैं। अग्निपुराणकार शब्द, अर्थ एवं उभयपरक इन तीन रूपों में इन्हें प्रतिष्ठित करते हैं। अग्निपुराणकार की गुण तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है, कि भरत द्वारा निर्दिष्ट भाषिक गुण ही अन्तिम नहीं हैं। वामन भाषिक स्वभाव के साथ-साथ 'अर्थ स्वभाव' की चर्चा करते हैं। कवि अर्थ-स्वभाव की रचना करता है, जो भाषा गुण का परिणाम हैं,

शब्द गुण	अर्थ गुण
१. समस्तहीन पद प्रसाद गुण का वाह्य स्वभाव है	अर्थ की स्पष्टता या स्पष्ट प्रतीत इस शब्द गुण का परिणाम है।
२. आरोह-अवरोह का क्रम समाधि है	'एकाग्र चित्त से अर्थ का दर्शन' होना इसका परिणाम है।

३. अर्थ की विमलता ही कांति है। शृंगार आदि रस दीप्त होकर कांति
अर्थ गुण में प्रकट होते हैं।

ध्यानपूर्वक देखा जाए तो शब्द एवं अर्थ गुण के बीच कार्यकारण सम्बन्ध न होकर धर्मधर्मिन् सम्बन्ध निहित है।

गुण को काव्य के अन्य तत्त्वों यथा रीति, अलंकार आदि से महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसे काव्य का स्थिर या अचल धर्म बताया गया है, क्योंकि बिना इस गुणात्मक प्रकृति के काव्य की सत्ता संभव नहीं है। सामान्यतया गुण काव्यभाषा के नैसर्गिक ऐश्वर्य हैं। ये जितने ही अकृत्रिम और सहज रूप में काव्य में आविष्ट होकर अवतरित होंगे, काव्य प्रतीति उतनी ही सहज एवं सुगम होगी। यही नहीं, आचार्यों ने बाद में गुण को रीति, अलंकार आदि से भिन्न करके रस के अंग धर्म के रूप में मानव-आत्मा के निहित शौर्यादि की भाँति अनिवार्य तथा सनातन धर्म माना है। 'काव्य गुणों' के बिना काव्यभाषा की कल्पना करना संभव नहीं है।

आचार्यों ने भाषा के नैसर्गिक लयात्मक स्वरूप को गुण सिद्धान्त के माध्यम से विवेचित किया है। 'भाषिक लयात्मकता' काव्यभाषा के लिए बहुत बड़ा आधार है। यह लयात्मकता शब्द से लेकर पूरे वाक्य तक छाई रहती है। किसी काव्य में पद से लेकर सम्पूर्ण प्रबन्ध तक निहित भाषिक लयात्मकता को गुण का नाम दिया गया। दण्डी अपने विवेचन में इस दिशा में हल्का-सा संकेत करते हैं—

श्लेष—संश्लिष्ट पद योजना	शब्द गुण
प्रसाद—असंश्लिष्ट पद योजना	"
समता—असमस्त पद योजना	"
ओज—समस्त पद	"
माधुर्य—रससिक्त अनुद्वेजक शब्दावली	वाक्य गुण
अर्थ व्यक्ति—अर्थ को स्पष्ट करने वाली शब्दावली	"
सुकुमारता—बोलने में सुलभ	"
उदारता—कवियों का सुन्दर कथन	काव्य
कान्ति—शब्दार्थ रूप काव्य का सुन्दर कथन	"

समाधि—शब्द, वाक्य, अर्थ, भाव सभी का एकाकार हो जाना।

सामान्यतया पाश्चात्य समीक्षा में जिसे 'Sensory aspect of syllables' कहा गया है, काव्य गुण का प्रारम्भ वहीं से होता है। कवि भाषिक गुण की रचना करके पाठक को अन्ततया समाधि, कान्ति और माधुर्य तक पहुँचा देता है। मन को रस दशा तक पहुँचाने का भाषिक आधार ही गुण है।

रीति सिद्धान्त

रीति सिद्धान्त कितना प्राचीन है, अभी तक इस विषय में साहित्य शास्त्र के विद्वानों का एक निश्चित मत नहीं बन पाया है। वैसे, इस शब्द का सर्वप्रथम बार प्रयोग आचार्य वामन द्वारा किया गया। इस शब्द के लिये प्रयुक्त होने वाला दूसरा शब्द मार्ग है। इसके लिए प्रारम्भिक साक्ष्य सुबन्धु तथा वाणभट्ट हैं। सुबन्धु कहते हैं—

सरस्वतीदत्त कृत प्रसाद : चक्रे सुबन्धुः सुजनैक बन्धुः।
प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्ध विन्यासवैदग्ध्यनिधिनिबन्धम्।

लेखन की दो प्रवृत्तियाँ 'प्रत्यक्षर श्लेषमयता' तथा 'विशिष्ट पद विन्यास विदग्धता' ये विशेष रूप से समादृत हैं। श्लेषमयता का यहाँ अर्थ है, समस्त पदों का बाहुल्य, प्रकारान्तर से ओजगुण युक्त गद्य शैली, प्रकारान्तर से गौडीय परम्परा की ओर निर्देश है। सुबन्धु के ठीक पश्चात् वाणभट्ट समासयुक्त दुरूह गद्यविधान की दुर्लभता की सराहना करते हैं—

नवाऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्ट स्फुटोरसः।
विकटाक्षर बन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥

यही नहीं, वे प्रदेशाभिधान्य के क्रम में विविध प्रदेशों के नाम से विख्यात् लेखनगत विविध प्रवृत्तियों का इस प्रकार उल्लेख करते हैं—

श्लेषप्रायोदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थ मात्रकम्।
उत्प्रेक्षादाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षर डम्बरः॥

उत्तरवर्तियों की शैली श्लेषयुक्त, पश्चिम वासियों की मात्र अर्थबोधक, दक्षिणात्यों की उत्प्रेक्षायुक्त तथा गौडप्रदेशवासियों की अक्षराडम्बर से युक्त होती है। आचार्य दण्डी दाक्षिणात्य शब्द का प्रयोग विदर्भवासियों के लिए करते हैं। 'पौरस्त्य' शब्द का प्रयोग गौड़ों के लिए किया है। 'डम्बर' शब्द का प्रयोग उन्होंने वाणभट्ट के अनुक्रम में ही किया है—

इत्यनालोच्य वैषम्य अर्थालंकार डम्बरौ।
अवेक्षमाणा ववृधे पौरस्त्या काव्यपद्धतिः॥

यद्यपि बाणभट्ट ने चार काव्य शैलियों का उल्लेख किया है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मार्ग के रूप में आचार्य दण्डी तक दो ही शैलियाँ अधिक प्रचलित रही हैं। प्रदेशाभिधान्यवाद ही रीति सिद्धान्त की प्रारम्भिक मान्यताओं के मूल में रहा है। 'प्रवृत्ति' के सन्दर्भ में आचार्य भरत इसी क्रम का निर्देश करते हैं। उनके अनुसार वृत्ति तथा प्रवृत्ति में कोई भेद नहीं है—

अत्राह, प्रवृत्तिरिति कस्मादिति। उच्यते, पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारा: वार्ता: ख्यापयतीति वृत्ति:। प्रवृत्तिश्च निवेदने। ये प्रवृत्तियाँ चार प्रकार की बताई गई हैं—

१. दाक्षिणात्या, २. आवन्तिका, २. औड्रमागधी, ४. पांचाल मध्यमा

१. दाक्षिणात्या—यह एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है। राजशेखर आदि दाक्षिणात्य शब्द का प्रयोग विदर्भ के लिए करते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार इस दाक्षिणात्या प्रवृत्ति की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

तत्र दाक्षिणात्यास्तावद् बहुवृत्तगीतवाद्या: कैशिकी प्राया: चतुर मधुरललितां

कालिदास मालविकाग्निमित्र तथा अन्य नाटकों में इस दाक्षिणात्य को विदर्भ के नाम से पुकारते हैं। 'मालविका' का जन्म विदर्भ में हुआ था। साथ ही, विदर्भ की राजकुमारी इन्दुमती के परिणय के सम्बन्ध में इस प्रदेश की रमणीकता का मनोहारी दृश्य प्रस्तुत किया गया है। राजशेखर ने विदर्भ प्रदेश को कामदेव की जन्म तथा लीलाभूमि स्वीकार की है।

आवन्तिका—इसके लिए नाट्यशास्त्र में स्थान निर्दिष्ट हैं—अवन्ती, विदिशा, मालव, सिन्धु, सौराष्ट्र आदि प्रदेश की भाषाएँ एवं प्रचलन। भोज ने बाद में इसी के लिए 'अवन्तिका रीति' का उल्लेख किया।

औड्र-मागधी—बंग, कलिंग, उड़ीसा, मगध, मिथिला आदि प्रदेशों की भाषा एवं प्रचलन। परवर्ती काल में 'गौडीय रीति' से इसका सम्बन्ध जोड़ा गया।

पांचालमध्यमा—पांचाल, शूरसेन, कश्मीर, मद्र, आदि प्रदेश की भाषा एवं प्रचलन का सम्बन्ध इसी से माना जाता है। पांचाली रीति इसी से संबंधित मानी गयी।

आचार्य भरत का यह 'प्रदेशाभिधान्यवाद' एक ओर प्रादेशिक भाषाओं, रीति रिवाजों, प्रचलनों से सम्बन्धित रहा है तो दूसरी ओर इसका सम्बन्ध रस तथा नाट्य शास्त्र की अन्य सैद्धान्तिक मान्यताओं से जुड़ा हुआ था। यह क्रम इस प्रकार है—

नाट्य प्रवृत्तियाँ	नाट्य वृत्तियाँ	रस	सम्बन्ध
१. दाक्षिणात्या	कौशिकी वृत्ति	शृङ्गार एवं हास्य	सामवेद
२. आड्री मागधी	आरभटी	रौद्र, भय, बीभत्स, वीर	अथर्वण
३. पांचाली	भारती	करुण	ऋग्वेद
४. अवन्तिका	सात्वती	वीर अद्भुत	यजुर्वेद

आचार्य भरत ने, अन्त में, इन वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के मूलाधार तत्त्व (प्रदेशिकता नहीं) रस को स्वीकृति दी—

'भावो वाऽपि रसो वाऽपि प्रवृत्ति वृत्तिरेव वा'

इस प्रकार, आचार्य भरत के निर्देश से ही स्पष्ट है कि प्रवृत्ति का प्रादेशिक आधार विशेष महत्वपूर्ण नहीं है फिर भी, आचार्य भरत का यह विवेचन 'प्रादेशिकता तथा रस मान्यता' दोनों से सम्पुष्ट है।

आचार्य दण्डी 'प्रवृत्ति' के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग करते हैं। भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' में भारतीवृत्ति के सन्दर्भ में 'मार्ग' शब्द का प्राचीनतम प्रयोग मिलता है—

'एते मार्गा हि विज्ञेया वाक्यभिनययोजिका'

आचार्य दण्डी के पूर्व 'प्रवृत्ति' के लिए मार्ग शब्द का ही सम्भवतया प्रयोग होता था और काव्य की अनेकानेक प्रादेशिक शैलियाँ प्रचलित थीं, जिनमें वैदर्भी तथा गौडीय यही दो प्रमुख रही हैं*। आचार्य दण्डी का यह मार्ग विवेचन 'प्रादेशिकता तथा गुण सिद्धान्त' के समन्वय पर आधारित है। वे न प्रादेशिकता के संदर्भ को छोड़ते हैं और न उसकी गुण निरपेक्षता को ही अस्वीकार करते हैं। वे रीति प्रयोग से सक्षम कवि को 'सूरय' नाम से अभिहित करते हुए बताते हैं—

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः !
वाचां विचित्रमार्गाणां निबन्धुः क्रियाविधिम्।

वे काव्य रचना के माध्यम से प्रारम्भ में 'वाणी के विचित्रमार्गों' के वर्णन की ओर संकेत करते हैं। आगे वे स्पष्ट रूप से बताते हैं—

---

*ऋग्वेदाद् भारतीक्षिप्ता यजुर्वेदाच्च सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चार्थवर्णादपि ॥

अस्त्यनेको गिरामार्गः सूक्ष्मभेद परस्परम् ।
तत्रवैदर्भ गौडीयो वर्ण्यते प्रस्फुरान्तरौ ।

आचार्य दण्डी 'मार्ग' के पर्यायवाची शब्द के लिए 'वर्त्मनि' 'पन्थ' पथ शब्दों का प्रयोग करते हैं। यही नहीं, शब्द संगठन वृत्ति एवं शैली के लिये 'बन्ध' एवं 'पद्धति शब्दों के प्रयोग भी काव्यादर्श में हैं; जो मार्ग वैशिष्ट्य के रूप में ही हैं—

'अनेनैव पथान्यत्र समानन्यायमूह्यताम्'

या

'तद्दाराह्वयं तेन सनाथाकाव्यपद्धतिः'

प्रायः काव्यपद्धति, बन्ध आदि का प्रयोग मार्ग के समानान्तर अर्थ में ही किया गया है।

आचार्य दण्डी ने प्रादेशिकता से सम्बन्धित 'स्वभाव तथा रुचि' के क्रम में भी गुणतत्व को निर्दिष्ट करने का प्रयास किया है। गौडीय एवं विदर्भ पद्धतियों के काव्य स्वभाव की भिन्नता के कारण उनके गुण भी भिन्न हैं—गौड शैली में वर्णानुप्रास माधुर्य व्यञ्जक है तथा विदर्भ शैली में श्रुत्यानुप्रास, अत्युक्तिपूर्ण अलौकिक कल्पना मण्डित वर्णन गौडीय शैली में कान्तिगुण है किन्तु विदर्भ मार्ग के कवि अर्थ के इस अतिक्रमण को कान्तिगुण नहीं मानते। उनके अनुसार 'कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः' अर्थात् लोकव्यवहार के अनुरूप विषयवस्तु का वर्णन ही कान्तिगुण है आदि-आदि। दण्डी के गुण प्रादेशिक वैशिष्ट्य को लक्षित करते हुए उनमें निहित मतवैभिन्न्यों का भी निर्देश करते हैं। इस प्रकार वे प्रादेशिकता से सम्बन्धित काव्यपद्धति को प्रमुखता प्रदान करते हैं। आचार्य दण्डी यद्यपि मार्ग को परिभाषित नहीं करते हैं, फिर भी उनके वर्णन से उनकी मार्ग सम्बन्धी अवधारणा नितान्त स्पष्ट हो जाती है—"वर्ण समूह की सायास व्यवस्था, शब्द-पद समुच्चय का पूर्व निधारित एवं बँधा-बधाया अनुक्रम, जाति तथा प्रदेश वैशिष्ट्य के कारण विशिष्ट प्रकार की वर्ण योजनाओं के प्रति मोह और सम्बद्ध काव्यबन्धों एवं पद्धतियों के अनुरूप वर्णन काव्य मार्ग के नाम से जाने जाते हैं।

दण्डी प्रादेशिकता के अतिरिक्त मार्ग विवेचन के संदर्भ में रचना में गुण का विशेष योगदान मानते हैं। यद्यपि 'प्रादेशिकता' मार्ग का अभिन्न तत्व है किन्तु वह गुण सापेक्ष्य है, निरपेक्ष नहीं। वे 'मार्ग' तथा 'गुण' के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए बताते है—

१. अनुप्रास प्रिय स्वभाव के कारण यह गौड मार्ग के कवियों को प्रिय है ।

२. लोक व्यवहार में अप्रसिद्ध तथा व्युत्पत्तियुक्त शब्द गौडों को प्रसाद गुणवत् प्रिय है ।

३. विषमता रहित पद रचना ही समता गुण है, मृदु, स्फुट तथा भिन्न स्वभाव वाली पद रचना में प्रथम दो गौडीय रीति के कवियों को प्रिय है ।

४. एक स्थान से उच्चरित होने वाले शब्द साम्ययुक्त श्रुत्यानुप्रास का गौडीय कवि आदर करते हैं किन्तु वैदर्भी मार्ग के कवियों को श्रुत्यानुप्रास अधिक प्रिय है ।

५. छेक, वृत्ति, श्रुति के कारण पद विन्यास में शिथिलता आ जाती है, दाक्षिणात्य कवि इस प्रकार के सदोष अनुप्रास का प्रयोग नहीं करते ।

६. समास की बहुलता ही ओज गुण है, यह गद्य का प्राण है । दाक्षिणात्यों के अतिरिक्त गौडों को भी यह अत्यधिक प्रिय है ।

७. गौड मार्गानुयायी पद्य में भी ओज गुण विशिष्ट पद रचना को स्वीकार करते हैं ।

काव्यादर्श में प्रयुक्त इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि मार्ग विवेचन का प्रारम्भिक आधार प्रादेशिक शैलीगत भिन्नता, प्रचलन या अभिरुचि है । इस प्रादेशिकता के साथ-साथ वे मार्ग विवेचन के दूसरे आधार गुण को भी विशेष महत्त्व देते हैं । यद्यपि ये गुण-सिद्धान्त को भरत परम्परा में ही ग्रहण करते हैं, फिर भी, वे इसे मार्ग से अनिवार्यत: जोड़ते भी हैं । भरत का 'गुण निरूपण' अपने में निर्लिप्त है । फिर भी, भरत नाट्यशास्त्र के वाचिक अभिनय प्रसंग में 'शब्द-विधान के अनुरूप व्यवस्थित रचना' की ओर संकेत करते हैं । पद रचना अर्थात् 'बन्ध' की भरत निर्दिष्ट दो शैलियाँ थीं—

(१) चूर्ण बन्ध—पदों में अर्थ की तुलना में प्रचुर अक्षर विन्यास या अक्षर युक्त पद विन्यास

(२) निबद्ध बन्ध—पद में गुरु-लघु वर्णों तथा मात्राओं की निश्चित संख्या का प्रयोग

वे इसी क्रम में काव्य लक्षण, अलंकार निरूपण, गुण-दोष का विवेचन करते हैं । गुण अर्थात् शब्दों का विशिष्ट संगठन क्रम जो दस रूपों में दस प्रकार की परस्पर भिन्न वर्ण योजना के अन्दर शैली भेदों को उत्पन्न करता है, रीति विवेचन के लिए मूलाधार है । इस संदर्भ में वे विशिष्ट योजनाविधियों को मार्ग के नाम से पुकारते हुए नाट्यशास्त्र में कहते हैं—

एते मार्गस्तु निर्दिष्टा यथाभावरसानि च ।
काव्यबन्धास्तुनिर्दिष्टा द्वादशाभिनयात्मकः ।।

अभिनवगुप्त 'काव्य मार्ग' शब्द का प्रयोग भरत कृत लक्षण विवेचन में समस्त काव्य सिद्धान्तों के अनुक्रम में प्रयुक्त रचना परिपाटी के अर्थ में करते हैं—

'तत्र गुणालंकार रीतिवृत्तयश्चेति काव्येषु प्रसिद्धो मार्गः
लक्षणानि तु न प्रसिद्धानि ।'

'मार्ग' शब्द निश्चित रूप से काव्य शैली के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। काव्य शैली वैशिष्ट्य के अर्थ में यह शब्द दण्डी के पूर्व अवश्य वर्तमान था ।[1]

आचार्य भामह वैदर्भ तथा गौडीय पद्धति के काव्य की चर्चा करते हैं। वे प्रादेशिकता के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए इसे पूर्णतः रचना का शैलीगत वैशिष्ट्य मानते हैं। वक्रोक्ति तथा स्वाभावोक्ति से परिशासित काव्य शैलियों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं —

"एक विशिष्ट प्रकार का काव्य वह है, जिसमें न वक्रोक्ति है, न स्वाभावोक्ति अपितु यह उनसे भिन्न है--इस भिन्नता का आधार क्या है ? वे इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं करते हैं किन्तु वैदर्भ तथा गौडीय के लक्षणों को ध्यानपूर्वक देखा जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है--

वैदर्भ—'अर्थ गाम्भीर्य और वक्रोक्ति से रहित, स्पष्ट, सरल, कोमल तथा स्वाभावोक्ति से भिन्न संगीत के समान केवल श्रुति मधुर होता है।'

गौडीय –'दूसरी ओर गौडीय काव्य अच्छा हो सकता है, बशर्ते अलंकारयुक्त, ग्राम्यतारहित, अर्थवान्, न्याय संगत, अनाकुल (जटिलता आदि दोषों से रहित) आदि गुणों से युक्त हो। यदि इन गुणों से वंचित वैदर्भ काव्य भी हो तो वह ठीक नहीं है।

अलंकार वदग्राम्यमर्थ्यं न्यायमनाकुलम् ।
गौडीमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ।।

आचार्य भामह वक्रार्थ को प्रमुखता के स्तर पर स्वीकार करते हुए उसे ही काव्य का मूल धर्म मानते हैं। काव्य का वाह्य भाषिक संगठन उनके अनुसार गौण है।

दण्डी मार्ग को गुणाश्रित मानते हैं। गुणाश्रित शब्द का अर्थ यहाँ 'गुण निरवकाश' है अर्थात बिना गुण के मार्ग की कल्पना ही नहीं की जा सकती है :—

---

१. देखिए—भरत और भारतीय नाट्य शास्त्र, डॉ० सुरेन्द्र नाथ दीक्षित, पृ० २६५-२८५

इति वैदर्भ मार्गस्य प्राणादश गुणास्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड वर्त्मनि ।।

वे गुणों के अनुक्रम में वर्ण, पद, वाक्य एवं शैली आदि की विशिष्टताओं का उल्लेख करते हुए उसे वैदर्भ तथा गौड मार्गों से जोड़ते हैं—

गुण	वैदर्भ	गौड
१. श्लेष	शैथिल्यविहीन पद रचना	अनुप्रासप्रिय होने के कारण गौडों को प्रिय है।
२. प्रसाद	प्रसिद्ध एवं सुपरिचित अर्थ सरलता	लोक व्यवहार में अप्रसिद्ध किन्तु व्युत्पत्तियुक्त अर्थ से परिपूर्ण
३. समता	विषमतारहित पद रचना	मात्र अर्थ तथा अलंकार के उत्कर्ष का विधान
४. माधुर्य	रसयुक्त शब्द रचना	केवल श्रुत्यानुप्रास का उपयोग
५. सुकुमारता	कर्णकटु रहित कोमल अक्षरों से युक्त वाक्य	इन्हें भी स्वीकार है किन्तु कर्ण कटु होने के कारण सुकुमारता को व्यक्त नहीं कर पाती।
६. अर्थव्यक्ति	अर्थ में कष्टसाध्य कल्पना का अभाव	पूर्ववत्
७. उदारता	मनोहर विशेषणों या उत्कर्ष प्रतिपादक लोकोत्तर चमत्कारी गुण का विन्यास	गौडों में इसका अभाव है।
८. ओज	समास बहुलताप्राय गद्य का निबन्धन	यह शैली काव्य के रूप में गौडों को प्रिय है।
९. कान्ति	लोक प्रसिद्धि (कवि समय) के अनुरूप वर्णन	गौडीय कवि केवल अतिशयोक्ति वर्णन में ही इसे स्वीकार करते हैं।
१०. समाधि	अतिशय चमत्कार बाहुल्य से युक्त वर्णन	यह शैली गौडों को भी स्वीकार्य है।

वैदर्भ एवं गौड मार्गों का उल्लेख करते हुए आचार्य दण्डी इन दोनों में

निहित प्रतीतिमूलक भिन्नताओं को निर्दिष्ट कर सकने की असामर्थ्य की ओर संकेत करते हैं—

> इतिमार्ग द्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् ।
> तद् भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिता ।।
> इक्षु क्षीर गुणादीनां माधुर्यस्यान्तरम् महत् ।
> तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ।।

आचार्य दण्डी मार्ग को निश्चित ही 'काव्य पद्धति' के रूप में ग्रहण करते हैं। यद्यपि प्रादेशिकता का हल्का-सा आभास उनके विवेचन में निहित है, किन्तु इनके मार्ग सिद्धान्त का मूल निर्णायक तत्त्व गुण है। ये गुण मार्ग में 'प्राणवत्' (चैतन्यः आत्मा) स्थित है, और इसके अभाव में मार्ग की परिकल्पना असंभव है। दण्डी का काव्य से अभिप्राय 'काव्य पद्धति' से है और गुण काव्य पद्धति की आत्मा है। ये 'गुण' सभी कवियों में निरन्तर वर्तमान मिलते हैं, सूक्ष्मतापूर्वक देखने पर इनकी मार्गगत विशिष्टता पहचानी जा सकती है। मार्गगत विशिष्टताएँ उनके अनुसार अनेक हैं किन्तु प्रमुखता दो की है, इस प्रकार वैदर्भी तथा गौडीय मार्ग उनके अनुसार दो विशिष्ट काव्य पद्धतियाँ हैं।

आचार्य दण्डी जिसे मार्ग कहते हैं, आचार्य वामन ने सर्वप्रथम बार उसे 'रीति' के नाम से अभिहित किया। उन्होंने 'रीति' शब्द का न केवल व्यापक अर्थ में प्रयोग काव्य तथा काव्य मार्ग के अर्थ में किया किन्तु उसकी व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या भी दी—

१. रीणन्ति गच्छन्ति अस्यां गुणा इति अर्थात् जिसमें गुण प्रवेश करते हैं, आत्मविलयन करते हैं, वह रीति है।
२. 'रीयते क्षरति अस्यां वाङ्मधु धारेति' अर्थात् जिसमें काव्य वाणी अपनी मधुधारा का क्षरण—परिस्रवण करती है, वह रीति है। व्यापक अर्थ व्याप्ति के साथ वे इसे परिभाषित करते हुए बताते हैं—

> 'विशिष्ट पदरचना रीतिः'
> विशेषो गुणात्मकः।

विशिष्ट (सामान्य भाषिक व्यवहार से भिन्न, गुण सहित) पद रचना ही रीति है। यहाँ विशिष्ट शब्द का अर्थ 'गुण युक्त' होना है। दूसरे शब्दों में यदि वामन निर्दिष्ट रीति को परिभाषित किया जाये तो—

> 'गुण वैशिष्ट्य से युक्त पद रचना का नाम रीति है।'

आचार्य दण्डी गुण को रीति का प्राण मानते हैं, आचार्य वामन उनकी मान्यता को और अधिक विकसित करते हुए बताते हैं कि गुण के अभाव में

रीति की परिकल्पना' ही संभव नहीं है। गुण तथा रीति में वाच्य एवं व्यंग्य की भांति धर्मधर्मिन् सम्बन्ध है। रीति प्रकारान्तर से गुणाभिव्यक्ति है। गुणाभिव्यक्ति के वैशिष्ट्य से युक्त रीति ही काव्य की आत्मा है—

रीतिर्नामियनात्मा काव्यस्य। शरीरस्येवेति वाक्य विशेषः।

यदि वाक्य विशेष में इस गुणात्मक रीति का प्रवेश नहीं होता तो वह वाक्य मृत (काव्यत्व शून्य) है। रीति काव्य की आत्मा कैसे है, यह एक विचारणीय प्रश्न है—

'रीति' को काव्यात्मा कहने का अर्थ है, उसे काव्य का मूलभूत या प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकृति देना। आचार्य वामन ने इसे दो रूपों में सिद्ध करने का प्रयास किया है। प्रथम यह कि 'रीति' की अर्थ व्याप्ति कुछ इस प्रकार सिद्ध की कि वह काव्य का समग्र तत्त्व प्रतीत होने लगे। समग्र माधुर्य के आधार के रूप में प्राप्त होने वाली यह रीति काव्य के सम्पूर्ण सौंदर्य का आधार है। आचार्य वामन ने अपने युग के प्रचलित अलंकार तथा गुण सिद्धान्त को रीति की अर्थ-व्याप्ति से जोड़ने का प्रयास किया—

अलंकार अर्थात् 'सौन्दर्यमलंकारः' अर्थात् काव्य का समग्र सौन्दर्य व्यापार अलंकार है। इस सौन्दर्य व्यापार को अलंकार के रूप में परिभाषित करने का आशय ही यही है कि अलंकार को गुणवर्ती सिद्ध कर सकें। आचार्य दण्डी के काव्य शोभाकारक धर्म का यह परिष्कृत रूप है। काव्य के सौन्दर्य विधायक तत्त्व का नाम 'गुण' है। 'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः' गुण ही काव्य की समग्र शोभा (सौन्दर्य) की रचना करता है। यही गुण अन्ततया रीति के रूप में स्वतः को व्यक्त करता है। इस प्रकार गुण धर्म है और रीति उसका धर्मिन्। यह क्रम इस प्रकार हैं—

१. अलंकार ही काव्य सौन्दर्य है।
२. अलंकार (काव्य शोभा सौन्दर्य) का कारक गुण है। अतिशयता भी गुण में पर्यवसित होती है।
३. यही गुण रीति के रूप में अभिव्यक्त होता है।

इस प्रकार गुण पर्यवसायी रीति अलंकारादि से पुष्ट प्रधानभूत तत्त्व होने के कारण काव्यात्मा है।

रीति के काव्यात्मा होने के लिये दूसरा तर्क यह है कि समग्र काव्य सिद्धान्त रीति मुखापेक्षी हैं। वे रीति से उत्पन्न होते हैं, और उसी में विलीन होते हैं। यही नहीं, रीति अंगिन् के रूप में शेष अन्य सिद्धान्तों को अपने में सन्निविष्ट किये

रहती है। वामन रीति का विवेचन करने के पश्चात् 'काव्यात्मा' विषयक अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

'एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति'' अर्थात्, इन तीन रीतियों के अन्दर काव्य उसी तरह प्रतिष्ठित है, जिस तरह रेखाओं के बीच चित्र प्रतिष्ठित होता है।'

वामन ने गुणों को दो भागों में विभक्त किया है, शब्द गुण तथा अर्थ गुण। शब्द तथा अर्थ रचना के सम्पूर्ण चमत्कार को इस प्रकार वे रीति में सन्निविष्ट मानते हैं। वैदर्भी रीति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'साऽपीयमर्थगुणसंपद्-वैदर्भीत्युक्ता' अर्थात् संपूर्ण अर्थगुण-संपत्ति वैदर्भी में नैसर्गिक रूप में विद्यमान रहती है। गुण का विवेचन करते हुये वे रस को 'कान्तिगुण' का स्वभाव बताते हैं। शृंगारादि रस रचना में दीप्त होकर 'कान्ति' गुण को स्फुट करते हैं। इस प्रकार वे प्रकारान्तर से गुण एवं गुण के प्रकारांतर से वह रीति को प्रकट करते हैं। यही नहीं, युग विशेष में प्रचलित 'काव्यपाक' सिद्धांत को भी वे गुण से जोड़ते हैं। गुणों की 'स्पष्टता' एवं 'परिपूर्णता' ही काव्यपाक हैं—

'गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते'

प्रकारांतर से गुण अपने संपूर्ण भाव से प्रकट होकर रीति का काव्यपाक के माध्यम से पोषण करता है। यही नहीं, काव्यार्थ के विविध रूप यथा—अर्थ प्रौढ़ि, उक्ति वैचित्र्य, सूक्ष्म भाव्य एवं वासनीय अर्थ समाधि आदि प्रकारांतर से गुण के धर्म होने के कारण रीति का ही पोषण करते हैं।

आचार्य वामन ने इन दो तर्कों के आधार पर रीति को काव्यात्मा के रूप प्रतिष्ठित किया है। इस प्रतिष्ठा के अतिरिक्त भी रीति निरूपण के संदर्भ में आचार्य वामन का विश्लेषण परम्परा से भिन्न एवं सर्वाधिक प्रामाणिक है। उनके रीति-विवेचन में कतिपय आलोचक व्याप्ति दोष निर्दिष्ट करते हैं। आचार्य वामन के रीति विवेचन में सौशब्दवादी आचार्यों के मतों का पूर्ण विकास मिलता है। काव्य की प्रतीति और उसकी रचना का मूलाधार काव्यभाषा और उसका काव्यात्मक शैली विनियोजन है। काव्यभाषा रची जाकर शब्द तथा अर्थ को कलात्मक सार्थकता प्रदान करती है। काव्य में अर्थ, अलङ्कार, ध्वनि, वक्रता आदि रचे जाते हैं और इस रचना के लिए मूल सामग्री भाषिक है। इस भाषिक सामग्री की कलापरक अभिव्यक्ति ही काव्य है। सौशब्दवादी शब्दार्थ के रूप में स्थित कलात्मक भाषिक गुण विन्यास को काव्य का अनिवार्य धर्म मानते हैं। आचार्य वामन ने इसे स्पष्ट करते हुये बताया है कि जिस प्रकार चित्र रेखांकन

की अनिवार्यता से आबद्ध है, उसी प्रकार काव्य भी गुण एवं रीति से प्रतीति का विषय बनता है।

आचार्य वामन के रीति के स्वभाव तथा स्वरूप निरूपण में सर्वथा मौलिकता दिखाई पड़ती है। वे रीति को प्रदेशाभिधान्यवाद से पूर्णतः मुक्त करते हैं। वे इस सम्बन्ध में स्वयं प्रश्न उठाते हुए कहते हैं—क्या काव्य में द्रव्य गुणों की उत्पत्ति देश विशेष से होती है—

'किं पुनर्देशवशाद् द्रव्यगुणोत्पत्तिः येनाऽयं देश विशेषव्यपदेशः'

नैवं, यदाह—'विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या'

'विदर्भ गौड पाचांलेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या। न पुनर्देशैः किंचिदुपक्रियते काव्यानाम्'

क्या काव्यों के द्रव्य गुणों की उत्पत्ति देश विशेष के आधार पर होती है, जिससे विदर्भ, गौड तथा पांचाल का नाम निर्देश किया गया है। उस देश के कवि स्वदेशीय रीति में लिखकर काव्य का कोई उपकार नहीं करते। मूलतः 'काव्य पद्धति' या 'शैली' गुणसापेक्ष्य है, प्रदेश सापेक्ष्य नहीं।

वामन ने वैदर्भी तथा गौडीय के साथ एक तीसरी रीति का उल्लेख किया, वह है, पांचाली। वस्तुतः गुणभेद से रीतिभेद के सिद्धान्त प्रतिपादन का भी श्रेय वामन को ही है। आचार्य दण्डी गौडीय में भी प्रायः सभी गुणों के प्रकारान्तर भाव से विद्यमान होने की चर्चा करते हैं, किन्तु वामन उसका निषेध करते हैं। गौडीय रीति में 'ओज' एवं 'कान्ति' नामक गुण ही होते हैं और पांचाली में माधुर्य तथा सौकुमार्य नामक गुण। वैदर्भी ही एक ऐसी रीति है, जिसमें दसों गुणों का संपूर्णतः परिपाक देखा जाता है। वामन के अनुसार यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यदि काव्य की आत्मा रीति है तो रीति आत्मा वैदर्भी। इस रीति में सभी गुण, सभी पाक, सभी अर्थशैलियाँ स्वतः स्फुरित होती हैं। इसमें काव्यार्थ रूपी संपत्ति स्वतः आस्वाद्य होती है। इसकी प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं—

आनन्दयति अथ कर्णपथं प्रयाता,
चेतः सतामृतवृद्धिरिव प्रविष्टा।
वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचक श्रीः
वितथमवितथत्वं यत्र वस्तुप्रयाति।
उदयति हि स क्वापि वैदर्भ रीतौ,
सहृदयहृदयानां रजंकः कोऽपि पाकः॥

आचार्य वामन के पश्चात् रीति विवेचन को कई दृष्टिकोणों से देखा गया।

आचार्य रुद्रट रीति को समास युक्त तथा रसाश्रित मानते हैं। उन्होंने तीन रीतियों के साथ-साथ 'लाटीय' नामक रीति का उल्लेख किया है। उसके अनुसार रीति तथा समास का संबंध इस प्रकार है—

(१) समास रहित	वैदर्भी रीति
(२) दीर्घ समास	गौडीय रीति
(३) स्वल्प समास	पांचाली रीति
(४) मध्यम समास	लाटीय रीति

यही नहीं, रीति को रस से जोड़ते हुए वे बताते हैं—

(१) वैदर्भी पांचाली रीति का सम्बन्ध करुण, भयानक तथा अद्भुत से है।

(२) लाटीय एवं गौडी का सम्बन्ध रौद्र एवं अन्य यथोचित रसों से है—

वैदर्भी पांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीया गौडीयो रौद्रे कुर्यात् अथौचित्यम् ॥

आचार्य आनन्दवर्धन ने रीति को 'संघटना' के रूप में ग्रहण किया है। आचार्य रुद्रट तक गुण रीति से किसी-न-किसी तरह से सम्ब्द्ध दिखाई पड़ता है, किन्तु आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम बार गुण को रीति मुक्त करने का प्रयास किया। आचार्य दण्डी एवं वामन द्वारा स्वीकृत 'रीति तथा गुण' के अपरिहार्य सम्बन्ध का खंडन करते हुए वे कहते हैं—

'गुणाना आश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा'

माधुर्यादि गुणों को आश्रय करके स्थित हुई वह संघटना रस को व्यक्त करती है—'गुणानां आश्रित्य' की व्याख्या करते हुए कारिका भाग में वे प्रश्न उठाते हैं—

१. क्या गुण संघटनाश्रित हैं ?

२. क्या संघटना गुणाश्रित है ?

३. क्या संघटना एवं गुण भिन्न-भिन्न हैं ?

१. गुणों को संघटनाश्रित मानना असंगत होगा। संघटना का सम्बन्ध सामासिक पद योजना से है—

असमासा समासेन मध्यमेम च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेत त्रिधा संघटनोदिता ॥

समास योजना ही रीति के मूल में है। क्या इन्हीं योजनाओं से गुण उत्पन्न होते हैं। दीर्घ समास युक्त पदावली से माधुर्य एवं असमासयुक्त पदावली से ओज उत्पन्न किया जा सकता है। अतः संघटना एवं गुण में भिन्नता वर्तमान है। गुण संघटनाश्रित नहीं है।

२. क्या संघटना गुणाश्रित है। अमुक गुण विशेष की अमुक रीति होगी, यह एक निरर्थक प्रश्न है। माधुर्य गुण पांचाली में भी है, वैदर्भी में भी। ओज वैदर्भी में भी है, और गौडीय रीति में भी।

अतः गुण एवं रीति के बीच केवल मैत्री धर्म है। आनन्दवर्धन के अनुसार गुणों का सम्बन्ध रस से है, जिस प्रकार अंगिरस के साथ सहायक रूप में अंग रस रहते हैं, ठीक उसी प्रकार रसों के सहायक बनकर ये गुण रहते हैं। गुणों का सम्बन्ध इस प्रकार रस से है—

'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृता'

समासाश्रित संघटना (रीति) गुण की सहायता लेकर रस की अभिव्यक्ति में सहायक बनती है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार संघटना रीतिधर्म है, संघटना का अर्थ है वर्ण, वाक्य आदि की काव्यात्मक प्रकृति। गुण की सहायता के अभाव में इसका कोई स्वरूप नहीं बनता। इसीलिए अभिनवगुप्त रीति को स्पष्ट करते हुए बताते हैं—

'शब्दसंघटना धर्मा रीतिः'

शब्द संघटना के स्वभाव को स्पष्ट करते हुए उसे दीप्त, ललित और मध्य इन तीन भागों में वे विभक्त करते हैं। शब्द संघटना का यह स्वभाव गुण-संपर्क से उत्पन्न होता है।

आचार्य राजशेखर का रीति विवेचन शुद्ध भाषिक संगठन से नियंत्रित है। वे इसे तीन भागों में विभक्त करते हैं—गौडीया, पांचाली तथा वैदर्भी। वे अपने 'कर्पूर मंजरी' नाटक में 'मागधी रीति' का भी उल्लेख करते हैं किन्तु काव्य मीमांसा में रीति को तीन भागों में बाँटते हैं। 'रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति' इन तीनों के पार्थक्य निरूपण में उनकी रीति विषयक धारणा भी सन्निविष्ट है—

'तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः वचनविन्यास क्रमो रीतिः'

यह प्रसंग साहित्य विद्यावधू के सन्दर्भ में है, फिर भी 'वचनविन्यास-भंगिमा' ही उनके अनुसार रीति है। उनके अनुसार ऊपर निर्दिष्ट रीतिक्रम का वैशिष्ट्य इस प्रकार है—

गौडीय—यौगिक शब्दावली, समास तथा अनुप्रास से अनुप्राणित एवं योग वृत्ति (अभिधा परंपरा का पालन) स्वभाव से परिपूर्ण

पांचाली—योगरूढ़, इषद् समास एवं अनुप्रास से परिपूर्ण तथा उपचार (लक्षणा) वृत्ति से संयुक्त

वैदर्भी—रूढ़, असमास एवं अनुप्रास विहीन योगवृत्तिगर्भ (अभिधा) से परिपूर्ण रसात्मक स्वभाव से युक्त।

साहित्य विद्यावधू कथा प्रसंग में वैदर्भी रीति की राजशेखर ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने वैदर्भी रीति के मूल उद्गम स्थल विदर्भ प्रदेश को मनोजन्मन् भगवान कामदेव का क्रीडावास माना है—

तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्मं नाम नगरम्। इसी स्थान पर काव्यपुरुष तथा साहित्य विद्यावधू दोनों का परिणय हुआ था। है। अपने बालरामायण में भी इस स्थान की प्रशंसा करते हुये उन्होंने बताया है—

वाग्देवता वसति यत्र रसप्रसूतिः,
लीलापदं भगवतो मदनस्य यत् च।

विदर्भ प्रदेश एवं वैदर्भी रीति दोनों को राजशेखर काव्य रचना की दृष्टि से उत्कृष्ट मानते हैं। राजशेखर की इस कथा में रीति विषयक प्रदेशाभिधान्यवादी सिद्धान्त की छाया निरंतर दिखाई पड़ती है।

आचार्य कुन्तक रीति की अवधारणा को 'कवि स्वभाव' के रूप में ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार 'रीति' कवि मार्ग है और कविजनों के स्वभाव क्रम से इसका ग्रहण होता है। यदि उनके शब्दों में कहा जाए तो 'कविस्वभावभेदत्वात् मार्ग (रीतिः)' है। वे मार्ग को तीन भागों में विभक्त करते हैं—

सुकुमार, मध्यम तथा विचित्र।
सम्प्राते तत्र ते मार्गाः कवि प्रस्थान हेतवः।
सुकुमारो विचित्रस्य मध्यमश्चोभयात्मकः।

सुकुमार—रस प्रवणता, प्रसाद एवं माधुर्यगुण का बाहुल्य

मध्यम—रस, अलंकार एवं प्रसाद तथा माधुर्यगुण का बाहुल्य।

विचित्र—अलंकार एवं अर्थरचना के चमत्कार से परिपूर्ण। वक्रता के स्वभाव से युक्त ओजगुण बहुल।

आचार्य कुन्तक के विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रीति के सम्बन्ध में वे उत्कृष्टता तथा अनुत्कृष्टता विषयक मत की आलोचना करते हैं। उन अनुसार वक्रता से संयुक्त सभी मार्ग कवि स्वभाव के अंग के रूप में श्लाघ्य हैं।

आचार्य भोज 'रीति' की व्युपत्तिमूलक परिभाषा देते हैं। उनके अनुसार—

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ्गतौ इति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते॥

इनके अनुसार 'कवि प्रणाली' या परिपाटी रीति शब्द के अधिक सन्निकट है। इन्होंने रीति को ६ भागों में विभक्त किया है—वैदर्भी, पांचाली, आवन्ती, मागधी, गौडीया तथा लाटी।

वैदर्भी—इनके अनुसार समासहीन, अति सुकुमारबन्ध से युक्त, अनुपचार वृत्ति से अनुप्राणित, योगात्मक शब्दावली से समन्वित होती है।

पांचाली—यह अनतिदीर्घ समास, अनति स्फुट बन्ध, उपचार वृत्ति तथा पादानुप्रासप्राय होती है।

आवन्ती—वैदर्भी तथा गौडीया के मध्य में स्थित है।

मागधी—एक रीति को छोड़कर बीच-बीच में दूसरी रीतियों का अनुसरण करने वाली रीति मागधी है।

गौडीया—अति दीर्घसमास से युक्त, परिस्फुटबन्ध संयुक्त, अनति उपचार-वृत्ति तथा योगरूढ़ शब्दावली से परिपूर्ण गौडीया रीति है।

लाटीया—इषद् समास से युक्त, अनति सुकुमारबन्ध, लाटायानुप्रासयुक्त, रूढ़शब्दों से परिपूर्ण लाटीया रीति है।

परवर्ती आचार्य रीति एवं वृत्ति को समाविष्ट करने की चेष्टा करते हैं। आचार्य शिङ्भूपाल 'पदविन्यास भंगी रीतिः' के रूप में इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं कि यह तीन भागों में विभक्त है—कोमला (वैदर्भी), कठिना (गौडीया), तथा मिश्रा (पांचाली)। काव्यप्रकाशकार मम्मट वर्णानुयायी माधुर्य, ओज, प्रसाद गुणों की चर्चा करते हुए उपनागरिका (माधुर्ययुक्त), परुषा (ओज युक्त), कोमला (प्रसाद युक्त) इन तीन वृत्तियों में वैदर्भी, गौडीया तथा पांचाली रीति को सन्निविष्ट करते हैं। वे कहते हैं—

'एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी, गौडी, पांचालाख्या रीतयो मताः'

रीति सिद्धान्त का मूल्यांकन

रीति का प्रारम्भिक सम्बन्ध शैलीगत प्रादेशिकता से रहा है। नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत इसका यह विकास 'वृत्ति' के रूप में हुआ। यही नहीं, काव्यशैली वैशिष्ट्य के रूप में भी इसे धीरे-धीरे मान्यता मिलती गई और 'कविमार्ग' के रूप में रीति प्रतिष्ठित हुई। आचार्य भरत, दण्डी, भामह इसे मार्ग काव्य पद्धति तथा काव्य (कवि) पन्थ के ही रूप में स्वीकार करते हैं। आचार्य वामन ने इससे सम्बन्धित प्रादेशिकता के मत का सम्पूर्णतः खण्डन करते हुए गुणानुविद्ध बताकर इसे काव्यात्मा के रूप में मान्यता प्रदान की। 'काव्यात्मा' के रूप में

इसे प्रतिष्ठित करने के पीछे अभिप्राय यह था कि काव्य की भाषिक समृद्धि को प्राणवत्ता प्रदान करने में यह एक महत्त्वपूर्ण उपादान है। काव्यभाषा के इस वाह्य तत्त्व को परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकार किया गया। आचार्य रुद्रट इसे भाषा का प्रौढ़, मधुर, परुष, तथा ललित स्वभाव बताते हैं। आचार्य मम्मट इसे मधुर, परुष तथा कोमल के रूप में ग्रहण करते हैं। आचार्य शिङ्भूपाल इसे कोमल कठिन एवं मिश्रित भाषिक गुण के रूप में स्वीकृति देते हैं। भाषा के इस भावात्मक स्वभाव के अतिरिक्त अनेक आचार्यों ने रीति का विवेचन करते हुए उससे सम्बद्ध भाषा के व्याकारणिक एवं रचनात्मक स्वभाव का भी निर्देश किया है। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन रीति को पद संघटना के विशिटक्रम में प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार वैदर्भी असमासयुक्त, गौडीया समासयुक्त तथा पांचाली मध्यम समासयुक्त रचना है! समास रचना की ओर दण्डी, भामह एवं वामन ने भी संकेत किया था किन्तु आनन्दवर्धन इसे मात्र समास तक ही सीमित रखते हैं। 'शब्द संघटन 'धर्म' के रूप में विवेचित इनका क्रम आगे चलकर भोज आदि द्वारा स्वीकार हुआ। इस सिद्धान्त को आचार्य भोज ने और अधिक विकसित किया। इसमें उन्होंने काव्यबंध तथा योगवृत्तादि का समावेश किया। इसके पूर्व आचार्य राजशेखर ने अभिधेय तथा लक्षणागत अर्थों को भी इसमें समाविष्ट किया था। संक्षेप में, कुल मिलाकर काव्यभाषा के भाषिक वाक्यमूलकबन्ध तथा उसके भावात्मक प्रभाव की व्याख्या रीति सिद्धान्त के अन्तर्गत की गई है।

काव्यभाषा की समस्या की उठाने पर 'रीति' का प्रश्न स्वाभाविक रूप से काव्य के साथ उठ खड़ा होता है। गुण सिद्धान्त के अन्तर्गत जहाँ काव्यान्वयी भाषा-गुणों की चर्चा की गई है, वहीं उसकी समनुरूप एवं व्यापक आवृत्ति की भी चर्चा की जाती है। काव्य का भाषिक संगठन मूलतः एक संयुक्त एवं समवेत् रचना के रूप में दिखाई पड़ता है। इस व्यापक भाव-संयुक्तता एवं समा-नुरूपता का अपना विशिष्ट प्रभाव है। रचना के स्तर पर भाषा से उत्पन्न होने वाले इस प्रभाव को जाग्रत करने के प्रति स्वतः कवि भी सचेष्ट दिखाई पड़ता है। 'भावानुरूप तथा विषयानुरूप' काव्यभाषा एवं शैली की रचना काव्य के स्तर पर चमत्कार सृष्टि के लिए प्रयुक्त की जाकर पाठक में भावात्मक आवेग की सिद्धि के लिए आवश्यक मानी जाती रही है। 'रीति' के विवेचक आचार्यों ने इसके इसी धर्म के कारण 'रस को दीप्त' करने वाली भी बताया है। कभी-कभी एक ही रचना में सम्पूर्णतया या एक ही रचना में प्रसंगानुक्रम के अनुरूप इसे देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए गीतगोविन्द, मीरा पदावली, विद्यापति

के पद काव्य भाषा की एक समनुरूप आवृत्ति से संयुक्त हैं। इनमें निःसृत एक ही प्रकार का भाषिक भावात्मक आवेग प्राप्त होता है। पदेन-पदेन उसी की आवृत्ति मिलती है। प्रसंगानुकूल 'रीतिविधान के सन्दर्भ में तुलसीदासकृत रामचरितमानस' के विविध प्रसंगों को लिया जा सकता है। 'वाटिका' एवं 'धनुभंग, दोनों प्रसंग आसपास होते हुए भी भाषिक रचना एवं वाक्य शैली की विविधता की दृष्टि से भिन्न प्रकार के मनोभावों को उत्पन्न करते हैं। इसी के बाद 'परशुराम प्रसंग' एकदम तीक्ष्ण भाषिक शैली का अनुभव एवं आस्वाद कराता है। इस प्रकार 'रीति' काव्य के लिए पूर्णतया उपेक्षित तत्त्व नहीं है। भाषा स्वभाव के साथ वर्णन शैली-स्वभाव का निर्माण काव्य की अनिवार्यता है क्योंकि भाषिक रचना काव्य व्यापार का अपरिहार्य तत्त्व है। भाषा रचना के क्रम में उसके स्वभाव की उत्पन्न विलक्षणता अपना व्यापक भाषिक प्रभाव तैयार करती है। इसी व्यापक भाषिक-प्रभाव क्षेत्र को प्राचीन आचार्यों ने काव्यमार्ग तथा रीति के नाम से पुकारा है। जैसा कि, आरम्भ में निर्दिष्ट किया जा चुका है, भारतीय काव्यशास्त्र विषयक मान्यताओं को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

शब्दमत, अर्थमत तथा भावमत

शब्दमतवादी भाषिक माधुर्यादि की रचना को काव्य का मूलधर्म मानते थे। इस धारणा का पूर्ण विकास 'रीति' के रूप में आचार्य वामन ने किया। आचार्य वामन के पश्चात् 'वैदर्भी' रीति की काव्य रचना को सर्वोत्कृष्ट मानने वाले भाषा रचनावादियों का सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र के क्षितिज में सदैव-सदैव के लिए न केवल तिरोहित हो गया अपितु अर्थ एवं रस सिद्धान्तों की व्यापक मीमांसा के बीच 'भाषिक संगठन और उसकी संरचना' के सिद्धान्त के अस्तित्व की चर्चा को भी नकार दिया गया।

———

अलंकार सिद्धान्त

परिभाषा

वैदिक काल में यह शब्द 'अलंकृति के रूप में 'अर्' पद से सम्बन्धित माना गया है। ऋग्वेद, सप्तम मण्डल, सूक्त २९३ में इस पद का प्रथम प्रयोग माना जाता है। उपनिषद् काल में यह 'अर्' पद 'अल्' में परिवर्तित दिखाई पड़ता हैं छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय ८, खण्ड ८, मन्त्र २, ३, ५ में अलंकार शब्द का प्रयोग मण्डन आदि के अर्थ में मिलता है—

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षे-थामिति'

दोनों से प्रजापति ने कहा 'तुम अच्छी तरह अलंकृत होकर सुन्दर वसन पहनकर जल के शकोरे में देखो' आदि।

मूलतः 'अलंकार' शब्द 'अल्' संज्ञा पद से ही बना है, 'अलम्+कृ+घञ् प्रत्यय जिसका अर्थ है, अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः। यहाँ 'तृतीया विभक्ति अर्थात् करण के अर्थ में' इसका प्रयोग हुआ है, जिसकी ओर आचार्य वामन ने अलंकार को परिभाषा देते हुए संकेत किया था—

'करणव्युत्पत्त्या पुनरलंकार शब्दोऽयम् उपमादिषु वर्तते'

'अलंकार' शब्द की एक दूसरी भी व्युत्पत्ति है—भाव के अर्थ में यह शब्द 'अलंकृतिः अलंकार के रूप में स्वीकार किया जाता है। आचार्य वामन ने इस व्युत्पत्ति की ओर भी संकेत किया है—'अलंकृतिरलंकारः' अर्थात् अलंकृति ही अलङ्कार हैं।

अलंकार शब्द की एक तीसरी व्याख्या 'अलंकरोति' इति अलंकारः कहकर दी जाती है, जो समग्र शब्दार्थ वैचित्र्य के पर्याय के रूप में है।

तृतीय व्याख्या अस्पष्ट और अतिव्याप्ति से दूषित है, अतः 'करण व्युत्पत्ति' के रूप में स्वीकृत व्याख्या ही उचित प्रतीत होती है।

आचार्य भरत से लेकर अप्पय दीक्षित तक अलंकार सिद्धान्त का विधिवत्

---

१. देखिए, अमरकोश—अलंभूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्

विवेचन मिलता है किन्तु जहाँ तक अलंकार की परिभाषा का प्रश्न है, परस्पर शास्त्रकारों में पर्याप्त वैमत्य दिखाई पड़ता है। अलंकार की परिभाषाओं का स्वरूप अलंकार संबंधी धारणा के विकास के साथ-साथ परिवर्तित होता रहा है, अत: यह वैभिन्न्य अपनी दृष्टि से सार्थक प्रतीत होता है। अलंकार की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

आचार्य भरत—अलंकारश्च गुणश्चैव बहुभि: समलंकृत: अर्थात् काव्य अलंकार गुण दोनों के द्वारा अनेक रूपों में अलंकृत होता है।

भामह—वाचां वक्रार्थ शब्दोक्ति: अलंकराय कल्पते।

दण्डी—काव्यशोभाकान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते।

रुद्रट—अभिधानप्रकार विशेषा एव चालंकारा:।

वामन—सौन्दर्यमलंकार:, अलंकृति: अलंकार:, करणव्युत्पत्त्या पुन: अलंकार शब्दोऽयं उपमादिषु वर्तते। अलंक्रियते इति अलङ्कार:।

आचार्य वामन ने अलंकार को स्पष्ट करते हुए पुन: बताया है—

तत् (—) अतिशयहेतवस्तेऽलंकारा:

आनन्दवर्धन—तत् (रस) प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलंकारा:

आचार्य कुन्तक

कविप्रतिभोत्थित: विच्छत्ति विशेष: अलंकार:

महिमभट्—चारुत्वं हि वैचित्र्यापरपर्यायम् प्रकाशमानलंकार: चारुत्वं अलंकारं

मम्मट—उपकुर्वन्ति त सन्तं अङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवत् अलंकारा: तेऽनुप्रासोपमादय:॥

विश्वनाथ—शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा: शोभातिशायिन:।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥

राजानक तिलक—वैचित्र्यमलंकार: अभिधीयतेति कविप्रतिभासंरम्भ गोचरार्थोऽलंकार्ये, तद्धर्मश्चालंकार:

अलंकार की इन परिभाषाओं में निम्नलिखित तथ्य विशेष रूपसे परिलक्षित होते हैं—

१. काव्य का समग्र सौन्दर्य

२. वक्र अर्थरचना

३. रस को उद्दीप्त करने वाला शब्द तथा अर्थ का अस्थिर धर्म

इन धारणओं के प्रकाश में अलंकार की परिभाषाओं का विवेचन किया जा सकता है।

काव्य का समग्र सौंदर्य तथा अलंकार—इस मत का प्रारम्भिक संकेत आचार्य दण्डी कृत काव्यादर्श में मिलता है तथा चरम विकास वामन कृत काव्यालंकारसूत्र में देखा जा सकता है। परवर्ती आलंकारिकों में आचार्य भोज की भी मान्यता इसी परम्परा से सम्बन्धित है।

दण्डी अलंकार के अन्तर्गत समग्र काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याप्ति को स्वीकार करते हैं। 'काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि' करने वाले तत्त्व के रूप में निर्दिष्ट दण्डी की मान्यता को कहीं-कहीं संकीर्ण बनाने की चेष्टा की गई है। आचार्य दण्डी ने 'शोभाकरान्' शब्द के पूर्व कोई विशेषण पद नहीं लगाया है, इसका अर्थ अस्थायी शोभा से भी लिया जा सकता है, जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने निर्दिष्ट किया है। आचार्य भोज ने शोभावृद्धि के इस सन्दर्भ में अलंकारों को बाह्य, आभ्यान्तर एवं बाह्याभ्यान्तर इन तीन वर्गों में रखा है। परवर्ती अन्य आलंकारिकों ने इसे कटककेयूरादि की भाँति आक्षेप्य माना है। ध्वन्यालोकलोचन के अन्तर्गत अभिनवगुप्त अलंकारों को नायिकाओं के अंगों पर आलिप्त कुंकुमादि से उपमित करते हैं। आचार्य दण्डी शोभाकरान् शब्द के पूर्व कोई विशेषण नहीं देते, फिर, भी उनके अन्य संकेतों से स्पष्ट है कि 'काव्य से सम्बन्धित समग्र सौन्दर्य विधान' अलंकार की श्रेणी में आता है। भाविक अलंकार का वर्णन करते हुए वे बताते हैं—

> तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
> भावः कवेरभिप्राय काव्येष्वासिद्धि संस्थितः।
> परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम्।
> विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना।

महाकाव्यादि के वैशिष्ट्य एवं कथात्मक तत्त्वों एवं उसके अभिप्राय को अलंकार के रूप में स्वीकार करना उनकी उदार दृष्टि से सम्बन्धित है। यही नहीं, नाटक के अन्तर्गत पंच सन्धियों एवं चौसठ सन्ध्यंगों आदि को उनके द्वारा अलंकार के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है—

> यच्च सन्ध्यङ्ग वृत्त्यंग लक्षणाद्यागमान्तरे।
> व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः॥

इसके अन्तर्गत रस, भाव आदि का भी प्रकारान्तर से समाहार हो जाता है। यही नहीं, रस तथा भाव को स्पष्ट रूप से उन्होंने प्रेयस्, रसवत् एवं उर्जस्वि के अन्तर्गत समाविष्ट किया है :—

> प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम्।
> ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारं युक्तोत्कर्ष च तत् त्रयम्।

समग्र गुणों का समाहार 'अनुप्रासादि' शब्दालंकारों के अन्तर्गत एवं दोषों का अलंकार के रूप में परिहार करके इसके विस्तार की सर्वथा नवीन संभावना पर प्रकाश डाला है—

अनुकम्पाद्यातिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते ।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया ।।
इदृगं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते ।
स्यादलंकार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ।।

इस प्रकार, आचार्य दण्डी काव्य के गुण, रस, महाकाव्य की कथावस्तु, विशिष्टताएँ, रचनाकार के मन्तव्य, नाटकीय सन्धि, वृत्ति, अन्यान्य लक्षण एवं दोषों को अलंकार की सीमा में समाविष्ट करने का प्रयास करते है। अतः उनकी दृष्टि में काव्य का समग्र सौन्दर्य ही काव्यालंकार के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये।

आचार्य वामन इसी को पुर्नविवेचित करते हुए कहते हैं—

काव्यं ग्राह्यम् अलंकारात् । यहाँ अलंकार शब्द का प्रयोग काव्य की समग्र 'रमणीयता' के लिए किया गया है। इस समग्र रमणीयता (सौन्दर्य) को आचार्य वामन अलंकार नाम से सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

'सौन्दर्यमलंकारः'

वे अलंकार शब्द की इस व्याख्या के साथ-साथ इससे सीमित अर्थ में प्रयुक्त गुण भिन्न अलंकार को परिभाषित करते हैं—

काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः ।
तदतिशय हेतस्वस्तेऽलंकाराः

'काव्य शोभा' के विधायक धर्म गुण हैं और गुण को उत्कर्ष प्रदान करने वाले तत्त्व का नाम अलंकार है। आचार्य वामन अलंकार सम्बन्धी दोनों धारणाओं के बीच सामंजस्य उपस्थित करते हैं। आचार्य भोज सरस्वतीकंठाभरण के अन्तर्गत इस दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित करते हैं। वे कहते हैं "तत्र काव्यशोभा-करानित्येन श्लेषोपमावद्गुणरसभावतदाभास प्रशमादीनप्युपगृह्णति।"

वक्रार्थ रचना तथा अलंकार—'वक्रार्थ' शब्द का अर्थ है, भंगिमापूर्ण अर्थ का विन्यास, जो सहज एवं अभिधेय के ठीक प्रतिकूल है। आचार्य भामह इस विचारधारा का प्रवर्तन करते हैं। संभवतया उनके पूर्व स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति-वाद जैसी धाराएँ रही हों, जिनसे भिन्न वे दूसरी धारा का समर्थन करते हों। यही नहीं, वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए उन्होंने 'अतिशयोक्ति' को वक्रोक्ति की मूलात्मा के रूप में स्वीकार किया। अतिशयोक्तिगर्भित वक्रोक्ति दूसरे शब्दों में,

उत्कर्ष प्राप्त भंगिमापूर्ण काव्य कथन ही अलंकार है। भंगिमापूर्ण कथन सामान्य अभिधेय कथन से भिन्न है, रचनाकार विशिष्ट व्यंग्य के लिए अलंकार को माध्यम बनाकर अर्थ रचना करता है—किन्तु यह अर्थ रचना अपने मूल में एक विशिष्ट प्रकार की रंजकता से परिपूर्ण है। यह रंजकता काल्पनिक प्रतीति का विषय है, यथार्थ का नहीं। मुख-कमल की भाँति प्रीतिकर है, इस वाक्य की अभिधेय व्यंजना लोक यथार्थ की न होकर प्रतीतिक यथार्थ की है, जिसे आचार्य भामह ने 'अतिशयता' का नाम दिया है और बिना इस प्रतीतिमूलक सम्भावित यथार्थ के आलंकारिक अर्थ रचना सम्भव नहीं है। स्मरणीय है कि आचार्य 'वामन' भी गुण को अतिशयता प्रदान करने की बात करते हैं किन्तु वह एक अन्य तथ्य है। यहाँ भामह काव्य में वक्रार्थ रचना को ही अलंकार के नाम से पुकारते हैं।

अर्थ रचना व्यापार 'शब्द' रचना की भाँति काव्य का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कलावादी मान्यता के अन्तर्गत अर्थ रचना काव्य की शिल्पन् प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण धर्म है। संस्कृत काव्यशास्त्र में इसकी शुरूआत आचार्य भामह से मानी जाती है। काव्य के अन्तर्गत शैली विज्ञान की भाँति ही अर्थ रचना 'अर्थ विज्ञान' के रूप में स्वीकृत की जा सकती है। अर्थालंकार, ध्वनि, शब्द शक्ति एवं वक्रोक्ति मूलतः काव्य में अर्थ रचना के ही प्रश्नों को उठाकर समाधान देते हैं। अर्थ रचना पाठकों में एक विशेष प्रकार की अन्तश्चमत्कृति (रचनात्मक आनन्द) उत्पन्न करती है और काव्यविधान को स्पष्टतापूर्वक प्रतीति कराने का सशक्त माध्यम भी है। आचार्य कुन्तक जब कहते हैं कि कवि की प्रतिभा सेउत्पन्न विच्छित्ति (चमत्कारमूलक आनन्द) विशेष अलंकार है, या वैचित्र्य के पयार्थ रूप चारुत्व की अभिव्यक्ति करने वाले काव्यकथन का नाम ही अलंकार है, तो प्रकारान्तर से इसी अर्थ रचना की ही बात कही जाती है। आचार्य रुद्रट भी जब यह कहते है कि काव्यकथन के विशेष प्रकार को ही अलंकार कहते हैं या जब यह कहा जाता है कि वाग्विकल्प अनन्त हैं, अतः अलंकारों की संख्या भी अनन्त है, तो यह भी प्रकारान्तर से आचार्य भामह द्वारा प्रतिपादित अर्थ-रचना सिद्धान्त का ही समर्थन है। काव्य रचना के अन्तर्गत इस अर्थरचना के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा निश्चित ही महत्त्वपूर्ण है।

काव्य के अस्थिर धर्म— काव्यशास्त्रियों का एक तीसरा भी वर्ग है, जो अर्थ रचना को काव्य का साध्य नहीं मानता। अर्थवादी अलंकारिक अर्थरचना एवं उनके मूल में निहित अतिशयता (प्रातीतिक यथार्थ) को काव्य का लक्ष्य मानते हैं। ध्वनिवादी आचार्यों ने अर्थ एवं अर्थजन्य व्यंग्य में स्पष्ट विभाजक रेखा खींचते

हुए सधान तथा साध्य की परिकल्पना की है। अर्थरचना साधनरूप में होकर साध्यरूप व्यंग्य के लिए माध्यम है। यह व्यंग्य आस्वादन का सबसे निकटवर्ती तत्त्व है। यह क्रम इस प्रकार है—

शब्दरचना 7 अर्थरचना 7 व्यंग्य भाव—पाठक का आस्वदन

आलंकारिक स्वीकार करते हैं कि अर्थरचना 'अतिशयता' नामक धर्म के प्रभाव से स्वतः आस्वादित होती है किन्तु ध्वनिवादी स्वीकार करते हैं कि अलंकार व्यंग्यमुख से अस्वाद्य है।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने इसीलिए अलंकार को रस को प्रकाशित करने वाला कहा है। प्रकाशन का अर्थ है, अन्तर्दीप्ति। अलंकार अपने धर्म द्वारा काव्य के साधारणीकृत होने में सहायता पहुँचाता है। आनंदवर्धन की मान्यता में स्पष्टता का अभाव है, जिसे उन्होंने' रूपकादि प्रकरण में स्पष्ट करने को चेष्टा की है, फिर भी, अस्पष्टता बनी ही रहती है। अलंकार द्वारा रस प्रकाशित कैसे होता है, इस सिद्धांत को उन्होंने स्पष्टता पूर्वक विवेचित नहीं किया है, किन्त सम्पूर्ण विवेचन में उसकी साधनभूतता अवश्यमेव स्पष्ट होती है। अलंकार को साधन के रूप में स्वीकार करने वालों के दो मत दिखाई पड़ते हैं। प्रथम साधन के रूप में स्वीकार करते हुए भी उसे यथावश्यक महत्त्व देते है। दूसरा वर्ग, उसे आक्षेप्य अलंकारों की भाँति नगण्य मानता है। मम्मट इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं कि जो अपने शब्द तथा अर्थरूप अंगों द्वारा कभी-कभी रसादि का उपकार करते हैं, वे अलंकार है। इस परिभाषा में कभी-कभी रसादि का उपकार करने के मूल में अलंकारों की अनित्यता घोषित है। उपकार शब्द भी यहाँ विशेष द्रष्टव्य है। उपकार का अर्थ है, उसे प्रकाशित (दीप्ति) करने के माध्यम। इनके द्वारा रसादि का उपकार हो ही, यह आवश्यक नहीं हैं। इसी दिशा में, थोड़ी-सी सहृदयता प्रकट करते हुए साहित्यदर्पणकार करते हैं—

शब्दार्थ के अस्थिर धर्म जो काव्य शोभा में अतिशयता की वृद्धि करते हुए रसादि को प्रकाशित करते हैं, वे अलंकार हैं।

गुण को शब्दार्थ का स्थायी धर्म माना गया है और उसकी तुलना में अलंकार शब्दार्थ के अनित्य धर्म हैं। इनका मुख्य कार्य है, काव्य शोभा में उत्कर्ष की वृद्धि करते हुए रस को ग्राह्य बनाना। आचार्य मम्मट की अपेक्षा इस परिभाषा में थोड़ी उदारता बरती गई है। काव्य अलंकारसारसंग्रह के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज इसको और भी स्पष्ट करते हुए बताते हैं—

गुणरहित काव्यं अकाव्यमेव भवति न तु अलंकार रहितम्, अर्थात् अलंकार के अभाव में काव्यत्व को बाधा नहीं पहुँचती। आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने

बिना किसी संकोच के अलंकार को रसादि का उपकारक या उत्कर्ष विधायक तत्त्व माना है—

भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति ही अलंकार है। इस परिभाषा में भी अर्थ को भावाभिव्यक्ति का साधन स्वीकार किया गया है। 'रूप, गुण, क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव' भी स्वभावोक्ति से सम्बद्ध-तीव्रता पूर्ण अनुभूति, भावना व्यापार से ही सम्बन्धित है। अर्थ व्यापार ध्वनिवादियों के अनुसार शब्द व्यापार की भाँति अन्ततया साधन ही है, साध्य व्यंग्यव्यापार है, जो रसानुभूति में पर्यवसित होता है।

ध्वनिवादियों का दृष्टिकोण गुणवादी आचार्य दण्डी आदि की भाँति अति-रेकवादी है। दण्डी आदि काव्य के अन्तगति अलङ्कार के अतिरिक्त और कुछ देखते ही नहीं, ध्वनिवादी अलङ्कार को अस्थिरधर्म और कभी-कभी प्रभावित करने वाला काव्यतत्त्व मानते हैं। मूलतः अलङ्कार रचना का सन्दर्भ दोनों मान्य-ताओं से भिन्न है। ध्वनिवादियों ने अलङ्कार के बढ़ते हुए महत्त्व को समाप्त करने के लिए व्यंग्य का आश्रय ग्रहण किया-अतः वे उसी क्रम में अपना तर्क भी खोजते हैं। यदि 'औचित्य' को ध्यान में रखकर विचार किया जाए तो अलङ्कार का सम्बन्ध अर्थ रचना से है। अर्थ रचना का चमत्कार या उत्कर्ष अलङ्कारत्व का प्राण है। शब्द रचना के अभाव में अर्थ रचना का काव्य में कोई मतलब नहीं है, अतः शब्द साथ-ही-साथ' 'अर्थ रचना' की संगत चेतना अलङ्कार की अपनी उपलब्धि है। काव्य मूलतः भाषिक कला है। उसका सम्पूर्ण कलात्मक उन्मेष बिना शब्दार्थ रचना के सम्भव नहीं है। काव्य के गुण, भावादि उपा-दानों का निर्माण-शब्दार्थ रचना पर ही आश्रित है। सामान्यतया काव्य का दो समस्याएँ है—प्रथम रचना की समस्या और द्वितीय है, आस्वादन की समस्या। रचना की समस्या का सम्बन्ध कृति विशेष से है तथा आस्वादन की समस्या का सम्बन्ध पाठक या सहृदय से है। कृति की प्रस्तुति में विभावानुभाव व्यभिचारि की सम्पूर्ण सत्ता' 'शब्दार्थ' रचना पर अधारित होती है। कवि कल्पना के संयोग से काव्य को शब्दार्थ अवयवों से परिपूर्ण कला की इकाई के रूप में प्रस्तुत करता है। शब्दार्थ रचना व्यापार ही कवि के कल्पनाजनित वैशिष्ट्य को आधार बनाकर पाठक के मानस के साथ जुटाने की वाध्यता जैसी परिस्थिति उत्पन्न करता है। आचार्य शुक्ल जिसे' वस्तु के रूप गुण क्रिया' की संज्ञा देते हैं, वह' विभावानुभाव व्यभिचारि' की अनन्त दशाओं से जुड़ा हुआ है। वह कवि कल्पना की वर्ण एवं अर्थाकार सृष्टि है। अलङ्कार कवि कल्पना की वर्ण एवं

अर्थमयी सृष्टि है। इसके अभाव में काव्य की सार्थकता का प्रश्न ही नहीं उठता। अलङ्कार रचना में शब्दार्थ साध्य एव साधन रूप दोनों क्रमों में स्वीकार किये जा सकते हैं।

सामान्यता कवि कल्पना से जोड़कर अर्थ के उत्कर्ष विधान के लिए इनका प्रयोग किया जाता है। सामान्य रूप से पाठक या सहृदय के मन पर इनका सीधा प्रभाव पड़ता है, किन्तु ध्वनिवादी इन्हें केवल व्यंग्य का माध्यम मानते हैं। पाठक के मन पर पड़ने वाले प्रभावों का क्रम इस प्रकार है—

अलंकार—शब्दार्थ रचना (भंगिमा युक्त) → अर्थ का उत्कर्ष
→ चमत्कृति (अन्तश्चमत्कार)
→ विमुग्धता
→ रंजन
→ कलात्मक कौतूहल की जागृति
→ भावोत्कर्ष

इस प्रकार अलंकार को 'काव्य भाषा' प्रकारान्तर से काव्य रचना के अनिवार्य उपादन के रूप में स्वीकार करते हुए इस प्रकार पारिभाषित किया जा सकता है "अलंकार, शब्दार्थ की वह विशिष्ट कलात्मक रचना है जो अर्थ को उत्कर्ष प्रदान करता हुआ पाठक में उसके द्वारा चमत्कृति, विमुग्धता रंजन आदि भावों को व्यक्त करता है। शब्दार्थ की विशिष्ट कलात्मक रचना का अभिप्राय है, सादृश्य, आरोप, गम्य, वैषम्य, न्याय आदि को कलात्मक सम्प्रेषण के उपादन के रूप में प्रयुक्त करना।" अलंकार रचना की मूल चेतना से जुड़कर ये तत्त्व उसे प्रेषणीय बनाकर कवि कर्म को सार्थकता प्रदान करते हैं।

अलंकार के मूल हेतु

अलंकारत्व के मूल हेतु सम्बन्धी चर्चा भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत नितान्त रोचक है। 'मूल हेतु' का तात्पर्य है, वह कौन-सा तत्त्व है, जिसका काव्य भाषा से सम्पर्क करा देने पर अलंकार जैसी स्थिति का जन्म हो उठता है। वस्तुतः यह प्रश्न अलंकार रचना का प्रश्न है, जो प्रत्यक्षतः काव्यभाषा से जुड़ा हुआ है।

संक्षेप में, इस सन्दर्भ में पाँच तत्त्वों की ओर संकेत किया गया है—

१. स्वभावोक्ति

२. वक्रोक्ति

३. सादृश्य

४. अतिशयता

५. गुणीभूत व्यंग्य

स्वभावोक्ति—आचार्य 'दण्डी' स्वभावोक्ति को अलंकारत्व का मूल हेतु बताते हुए कहते हैं—

नानावस्थां पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेति आद्या सालंकृतिः यथा ।।
जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशी ।
शास्त्रेषु अस्यैव साम्राज्यं काव्येषु अपि एतदीक्षितम् ।

नाना रूपों में अनेक पदार्थों में विभिन्न अवस्थाओं में स्थित विशिष्ट स्वरूप को प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित करती हुई स्वभावोक्ति या जाति समस्त अलंकारों में प्रथम है । स्वभावोक्ति के अन्तर्गत जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य का नैसर्गिक रूप में कथन करने का यही प्रकार है । अलंकारशास्त्र में सर्वत्र इसका साम्राज्य है, इसके अतिरिक्त काव्य में भी इसकी आकांक्षा प्रकट की जाती है ।

गुणवादी मान्यता को स्पष्ट करने के लिए दण्डी के समक्ष स्वभावोक्ति के वर्चस्व को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं था। काव्यात्मा के रूप में स्थित वैदर्भी का प्राण स्वाभावोक्ति है । अलंकार के सन्दर्भ में उपमेय एवं उपमान के स्वरूप, गुण, क्रिया एवं द्रव्य के यथास्थित धर्म को अस्वीकार करके चलना सम्भव नहीं था । अलंकार के सन्दर्भ में 'उपमादि दोषों' की स्थिति धर्म के स्वाभाव के वैषम्य तथा विरोध के कारण हैं । इसी स्वभावोक्ति को आधार बनाने के कारण काव्य में समग्र नैसर्गिक सौन्दर्य की वृद्धि होती है । काव्य का यह समग्र सौन्दर्य ही अलंकारादि के नाम से जाना जाता है । अतः काव्य एवं अलंकार के इस समग्र सौन्दर्य विधायक तत्त्व 'स्वभावोक्ति' को अलंकार की मूलात्मा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है है ।

आगे चलकार स्वभावोक्ति का प्रायः सभी ने खण्डन किया । आचार्य भामह वक्रोक्ति प्रकरण का प्रारम्भ 'स्वभावोक्ति' के खण्डन से करते हैं । स्वभावोक्ति के खण्डन के लिए निम्नलिखित तर्क किये गये हैं—

(१) स्वभावोक्ति को अलंकार का मूल हेतु मान लेने से वस्तु (अलङ्कार्य) एवं अलङ्कार की स्थिति में निरन्तर भ्रम बना रहेगा ।

(२) गुण का पोषण करने वाली स्वभावोक्ति का सम्बन्ध वर्णनगत समृद्धि से है । प्रायः भाषा वक्रताशून्य दिखाई पड़ेगी और अर्थ रचना की व्याप्ति समाप्त हो जाएगी ।

(३) कोई भी अलङ्कार शुद्ध नहीं मिलेगा, सभी में पहले स्वभावोक्ति होगी,

फिर अन्य अलङ्कार । इस प्रकार सभी अलङ्कार या तो संकर होंगे या संसृष्टि ।

(४) महिमभट्ट बताते हैं कि केवल वस्तुचित्रण मात्र अपुष्ट अर्थ दोष होगा, इससे अलङ्कार रचना क्षरित होगी । आचार्य कुन्तक लगभग इन्हीं तर्कों से स्वभावोक्ति का खण्डन करते हैं ।

(५) यही नहीं 'जाति' या 'स्वभावोक्ति' तभी काव्य का विषय बन सकती है, जबकि उसके साथ किंचित् वैशिष्ट्य हो—बाणभट्ट ने जाति (स्वभावोक्ति) के साथ अग्राम्यत्व तथा रुद्रट ने 'पुष्टार्थत्व' विशेषणों को अनिवार्य बताया है ।

आचार्य भोज ने स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति तथा रसोक्ति को स्पष्ट करते हुए ठीक ही कहा है—

तत्र उपमाद्यलङ्कार प्राधान्ये वक्रोक्तिः, सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः, विभावनुभावव्यभिचारिरसनिष्पत्तौ रसोक्तिः—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्ति प्रतिजानते ॥

अतः स्वभावोक्ति के साथ किसी विश्लेषण का होना अनिवार्य है ।

वक्रोक्ति—

आचार्य भामह, 'वक्रोक्ति' को अलंकारत्व के मूलहेतु के रूप में स्वीकार करते हैं । वे स्वभावोक्ति, प्रकारान्तर से, गुणमार्ग का खण्डन करते हुए कहते हैं—

'समृद्धि के वर्णन से वाणी में अलंकारिकता नहीं आती' यथा "सुन्दर मरकत और पक्षराग से चित्रित फल पल्लव सम्पन्न अनेक मनोहर वृक्षों से युक्त, पुष्पों से विभूषित देवमुनि सिद्ध सेवित सुमेरु पृष्ठ पर वह (शुक) रहता था ।"

इस वाक्य में फल, पुष्प, वृक्ष को शोभा भले ही बढ़ती हो किन्तु अर्थ में कोई चारुता नहीं है । अर्थ चारुता के लिए वक्रता (भंगिमा) पूर्ण कथन अपेक्षित है, काव्य में अलंकारत्व का मूलहेतु यही वक्रता है—

'वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिः अलंकाराय कल्पते ।'

अर्थ में चमत्कृति उत्पन्न करने की सामर्थ्य से युक्त यह वक्रता अलंकार रचना के लिए प्राण है—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारो अनया विना ।

आचार्य भामह इस वक्रता के मूल में अतिशयता (उत्कर्ष) को स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार वक्रता अतिशयता (उत्कर्ष) के अभाव में अस्तित्व-शून्य है । स्वाभावोक्ति का खण्डन करने के लिए वे दण्डी की परम्परा में स्वीकृत सूक्ष्म, हेतु, लेश एवं स्वभावोक्ति का निषेध करते हैं—

दण्डी की परम्परा	भामह
स्वभावोक्ति—नानावस्थां पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती । स्वभावोक्तिश्च जातिश्चे-त्याद्या सालंकृतिर्यथा ।।	स्वभावोक्तिलंकार इति-केचित्प्रचक्षते । अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितोयथा
हेतु, सूक्ष्म, लेश, हेतुश्य सूक्ष्मलेशोच वाचामुत्तमभूषणम् । कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ यथा ।	हेतुश्च सूक्ष्मोलेशोऽथ नालंकारतयामतः । समुपायाभिधाननस्य, वक्रोक्त्यभिधानतः ।।
गतस्तमर्को भातीस्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः । इतीदमपि साध्वेन कालावस्था निवेदने ।।	गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासायपक्षिणाः । इत्येवमादि किं काव्यं वार्तमिनां प्रचक्षते ।।
वार्ता—कान्तंसर्वजगतकान्तं लौकिकार्थन् अतिक्रमात् । तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनस्वपि दृश्यते ।।	यह सामान्य कथन मात्र है ।

इस प्रकार आचार्य भामह दण्डी की परम्परा में स्वोकृत सौन्दर्य विधायक-वादी मान्यता का खंडन करते हुए अलङ्कार के मूलहेतु के रूप में वक्रता का प्रतिपादन करते हैं ।

सादृश्य—अलङ्कार के मूलहेतु के विषय में तृतीय मत उपमावादियों का है । ये उपमात्व या सादृश्य को अलंकार के मूल बीजभूत तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं । सर्वप्रथम आचार्य वामन प्रतिवस्तूमा सहित तीस अलङ्कारों को उपमा प्रपंच (भेद-विवरण या विस्तार) के नाम से पुकारते हैं—

'प्रतिवस्तु प्रभृतिरुपमा प्रपंचः

अर्थात्, प्रतिवस्तुपमादि अलङ्कार उपमा के ही भेद हैं । वह इन सम्पूर्ण अर्थालङ्कारों को सादृश्यानुप्राणित करके विवेचित करता है—जैसे—

प्रतिवस्तुमा—उपमेयस्योक्तौ समानवस्तु विन्यासः प्रतिवस्तु

समासोक्ति—उपमेयस्यानुक्तौ समासोक्तिः

अप्रस्तुत प्रशंसा—(उपमेयस्य) किंचिदुक्तावप्रस्तुत प्रशंसा

इस प्रकार वे सभी अलङ्कारों के मूल में सादृश्य की अवतारणा करते हैं।

परवर्ती आलंकारियों ने उपमा के इस महत्त्व को स्वीकार किया। आचार्य महिमभट्ट बताते हैं—

सर्वस्वलंकारेषुपमा जीवितायते

राजशेखर—अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्य सम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥

अप्पय दीक्षित—उपमैका शैलूषी चित्रभूमिका भेदात्।
रंजयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥ (चित्र मीमांसा)

× × ×

तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिनोपमाज्ञानात्।
ज्ञातं भवति इत्यादौ निरूप्यते निखिल भेद सा ॥

परवर्ती अलङ्कारों में आचार्य राजानक रुय्यक ने वामन की इससे संबंधित धारणा को बलपूर्वक विकसित किया। वे इसे स्पष्ट करते हुए बताते हैं—उपमैवानेकालङ्कार बीजभूता—अर्थात्, उपमा (सादृश्य) ही अनेकानेक अलंकारों के लिए बीजभूत तत्त्व के रूप में है—

मुख सदृश कमल	उपमा
मुख रूपी कमल	रूपक
मुख मानों कमल	उत्प्रेक्षा
मुख मुख की भाँति	अनन्वय
मुख कमल से परिशमित	परिणाम
मुख है या चन्द्र	सन्देह
मुख देखकर भ्रमर शान्ति का अनुभव करते हैं	भ्रम
मुख गन्ध से भ्रमरों को आकृष्ट करनेवाली पद्मनियाँ इनमें कहाँ हैं—	प्रतिवस्तूपमा
कमल नहीं मुख है	अपह्नुति
कमल सरोवर में है, और मुख धरती पर	दृष्टान्त

आज कमल क्यों मुझ पर प्रसन्न है—अप्रस्तुत प्रशंसा, आदि-आदि।

इस प्रकार अपने इस अभिप्राय का निष्कर्ष निकालते हुए वे कहते हैं—

इत्थं स्वप्रकारवैचित्र्येण सादृश्यविच्छित्तिविशेषात्मना यतो
नानालंकारनिदानभूता (उपमा)

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी इस सन्दर्भ में अपना अभिमत प्रकट करते हुए बताया है—

प्राणत्वेनावतिष्ठते ।

इस प्रकार, अलङ्कारवादियों का एक वर्ग अर्थालङ्कार के मूल में उपमा को ही अलङ्कारत्व के बीजभूत तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। शब्दालङ्कार तथा प्रहेलिका को छोड़कर सवर्त्र उपमा का प्रपंच दिखाई पड़ता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में सादृश्यविधान का प्रायोगिक स्तर पर पर्याप्त उपयोग किया गया है। कविशिक्षा परम्परा के अन्तर्गत शब्द प्रौढ़ियों के रूप में विविध वर्णन क्रम में सादृश्य क्रम को निर्धारित है। परवर्ती अलङ्कारशास्त्र के अन्तर्गत वर्णकों के रूप में इसके प्रयोग की व्याप्ति देखी जाती है। इस सन्दर्भ में अलङ्कारशेखर के अन्तर्गत शब्द सादृश्य की लम्बी तालिका प्रस्तुत करने के पूर्व केशव मिश्र कहते हैं—

उपमा काव्यसम्पदां सर्वस्वम् । स च साधर्म्यमिति ।

अतिशयता—अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'अतिशयता' को विशेष महत्त्व मिला है। अतिशयता का अर्थ है, उत्कर्षप्रधान कथन। 'वक्रता' को स्पष्ट करते हुए आचार्य भामह ने उसके मूल में अतिशयता को अलङ्कार के मूलधर्म के रूप में स्वीकार किया है। वे इसे मात्र एक अलङ्कार न मानकर वक्रता का बीजभूत तत्त्व मानते हैं—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ॥
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनायार्थों विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविता कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥

आचार्य दण्डी अतिशयोक्ति के व्यापक प्रभाव से परिचित थे। वे इसे अलंकारों का परमाश्रय रूप मानते हैं—

अलङ्कारान्तराणाम् अप्येकमाहु परायणम् ।
वामीशमहितामुक्ति इमामतिशयाह्वयाम् ॥

आचार्य वामन 'गुण एवं अलङ्कार' के स्वभाव को स्पष्ट करते हुए अतिशयता को ही अलङ्कार रचना के मूल में स्थापित करते हैं—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।
तदतिशयहेतवस्तेऽलङ्काराः ॥

आचार्य विश्वनाथ साहित्यदर्पण में इसी अतिशयता का स्मरण करते हैं—

शब्दार्थयोः अस्थिराः ये धर्मा शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्काराः तेऽगंदादिवत् ॥

उद्‌भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज भी गुण एवं अलङ्कार के बीच संबंध निर्धारत करते हुए कहते हैं—

अलंकाराणां गुणोपजनित काव्ये शोभातिशयविधायित्वात् ।।

मूलतः 'अतिशयता' के संदर्भ में कई विकल्प प्रकाश में आते हैं। फिर भी, शब्द, अर्थ, गुण, वस्तु सभी से अलङ्कार धर्म जुड़ कर (लोक की प्रकृत संभावनाओं से) उसे किंचित् उत्कर्ष रूप प्रदान करता है। इस उत्कर्षविधान के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण आधार कवि की सतत् सक्रिय रहने वाली रचनात्मक प्रतिभा है। यही रचनात्मक प्रतिभा अपने कौशल का प्रयोग करके काव्य में जिस अतिशयता (उत्कर्ष) का विधान करती है, उसी का नाम अलङ्कार है। काव्य में यह उत्कर्ष शब्द, अर्थ, गुण, वस्तु आदि में देखा जाता है।

गुणीभूत व्यंग्य

आचार्य अभिनवगुप्त गुणीभूत व्यंग्य को अलङ्कारत्व का मूल बीजभूत तत्व मानते हैं। वे अतिशयता को सभी अलङ्कार का साधारण धर्म नहीं मानते। पूर्व पक्ष के रूप में ये समझाते हैं कि इसके द्वारा अर्थ में नवीनता, वैचित्र्य भाव, उद्दीपन में विभावन शक्ति एवं काव्य व्यापार में भावमयता आती है किंतु इसके आने से फिर सभी अलङ्कार अतिशयोक्ति रूप में प्रतीत होंगे तथा अलङ्कारत्व का सामान्य स्वरूप विनष्ट हो जायेगा। वह गुणीभूत व्यंग्य है जो अलङ्कार वैचित्र्य को व्यक्त करके सभी अलङ्कारों के धर्म को सुलक्षित करता है। गुणीभूत व्यंग्य ही अलङ्कारत्व का मूल बीजभूत है—

न चातिशयोक्तिवक्रोक्तिउपमादीनां सामान्यरूपत्वं चारुता—हीनानाम-मुपपद्यते चारुताचैतदायत्तेत्येतदेव गुणीभूत व्यंग्यत्वं सामान्यलक्षणम् ।।

वक्रोक्तिकार कुन्तक संपूर्ण वक्रोक्तिविधान को इसका कारण मानते हैं।

आचार्य राजानक तिलक 'वैचित्र्य' को मूल बीजभूत तत्त्व मानते हुए कवि प्रतिभा को इसका हेतु बताते हैं—

'वैचित्र्यमलंकारः अभिधीयतेति कविप्रतिभासंरम्भगोचरार्थोऽलंकार्यः तद्धर्मश्चालंकारः।'

किंतु, गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर अतिशयता (उत्कर्ष विधान) को ही अलङ्कारत्व का मूल बीजभूत तत्त्व माना जा सकता है।

अलंकारों का वर्गीकरण (सिद्धान्त)

अलङ्कारों के अंतर्गत वर्गीकरण का व्यवस्थित प्रश्न बाद में उठाया गया और १२वीं शती के बाद उसे एक तार्किक आधार भी दिया गया। वर्गीकरण

के विषय में यह तार्किक आधार सर्वप्रथम आचार्य उद्भट के प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' के टीकाकार राजानक तिलक द्वारा प्रस्तुत किया गया। श्लेष, अलङ्कार शब्दगत है या अर्थगत इस समस्या पर विचार करते हुए उन्होंने वर्गीकरण की दिशा में जो निर्देश दिया वह लगभग परवर्ती चार सौ वर्षों तक विवाद का विषय बना रहा। उन्होंने इस संबंध में निम्नलिखित समस्यायें रखी हैं—

१. अलङ्कारत्व का निर्धारक तत्त्व वैचित्र्य है। कवि प्रतिभा इस वैचित्र्य का विधान करती है। यदि कवि प्रतिभाजनित इस वैचित्र्य को आधार बनाकर काव्य का विवेचन किया जाये तो कहा जा सकता है कि कवि प्रतिभा जहाँ 'शब्द' को आश्रय बनाकर 'वैचित्र्यविधान' करती है वह शब्दालङ्कार है, जहाँ 'अर्थ' को इस वैचित्र्य का माध्यम बनाती है, वह अर्थालङ्कार है और इस प्रकार से निर्मित शब्दालङ्कार या अर्थालङ्कार का अर्थ शब्द का अलङ्कार न होकर शब्दमूल या अर्थमूल अलङ्कार है—

वैचित्र्यमलङ्कारः अभिधीयतेति कविप्रतिभासंरम्भगोचरार्थोऽलंकार्यः, तद्धर्मश्चालंकारः। न च भास्वदित्यादौ अर्थस्संरम्भगोचर शब्दस्य अलंकृतत्त्वम्।

× × ×

'एवमादौ शब्द मूलोऽलंकारः, न तु शब्दस्य अलंकार इति चेत् उक्तमत्र वैचित्र्यमलंकार इति। यद्वैचित्र्यं तस्य अलङ्कार इति यथोक्तमेव साधु।

२. इस प्रकार आश्रयाश्रयि संबंध अलङ्कारत्व के वर्गीकरण का आधार बनता, यह व्यंजना राजानक तिलक के इस मन्तव्य से निकलती है।

३. इस 'मूल सिद्धांत' की सहायता के निमित्त अन्वय-व्यतिरेक सिद्धांत का उपयोग किया जा सकता है। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

काव्ये दोषगुणालंकाराणां च शब्दार्थगततया अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभागः क्रियते। न च भानुदीप्यमानादि शब्दसद्भावेऽलंकारोऽत्रेतिति शब्दान्वय व्यतिरेकानु विधायिनोऽस्य शब्दालंकारत्वमेव युक्तम्।

आचार्य राजानक तिलक की इस मान्यता के बाद अलङ्कारों के वर्गीकरण विषयक दो मत प्रकाश में आये—

१. आश्रयाश्रित सिद्धांत

२. अन्वय व्यतिरेक सिद्धांत

आश्रयाश्रित सिद्धान्त—इसके समर्थक राजानक तिलक के पुत्र एवं अलङ्कार-

सर्वस्व के लेखक आचार्य रुय्यक, उनके टीकाकार जयरथ, पण्डित राजजगन्नाथ, अय्यय दीक्षित, विद्यानाथ, शोभाकार आदि हैं। इनके अनुसार वर्गीकरण के संदर्भ जो शब्दाश्रित है, वह शब्दालङ्कार तथा जो अर्थाश्रित है, वह अर्थालङ्कार होगा। यह उसी प्रकार है, जैसे कान के आश्रित होने के कारण उससे संबंधित आभूषण 'कर्णाभूषण' एवं हाथ के आश्रित रहकर 'हस्ताभूषण' कहलाते है। रुय्यक कहते हैं—

'लोकवदाश्रयाश्रयि भावश्च तत्तलंकारनिबंधनम्। अन्वय व्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजेके। नतदलंकारत्वे।

इसे स्पष्ट करते हुए उनके टोकाकार 'जयरथ' कहते हैं—

"योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलङ्कार तयोच्यते यथा कुण्डलादिः कर्णा-दयाश्रितः तदलङ्कारः आश्रयाश्रयि भावेनेति उपस्कार्योपस्कार भावेन इत्यर्थः। तेन योऽलङ्कारः यदुपस्कारः स तदलङ्कार इति पिण्डार्थः"

अन्वय व्यतिरेक—आचार्य मम्मट अन्वय-व्यतिरेक संबंध को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि विशिष्ट शब्द के रहने पर अलङ्कार विशेष रहे तो वह शब्दा-लङ्कार होगा। सामान्यतया परिवृत्तिसहत्व' इसके लिए साक्ष्य है। उदाहरण के लिए—बंदौं गुरु 'पद पदुम परागा' में अनुप्रास का निर्णायक 'पद पदुम परागा' के स्थान पर 'चरण कमल मकरंद' करने पर परिवृत्ति सहत्त्व समाप्त हो जायेगा। यमकादि में यही स्थिति देखी जाती है, किंतु, अर्थालङ्कार के अंतर्गत 'शब्द परिवर्तन' के बाद भी अलङ्कारत्व पर कोई आघात् नहीं पड़ता। 'परिवृत्ति-असहत्त्व' इसके लिये आधार है।

उपर्युक्त उदाहरण में रूपक अलङ्कार 'पद पदुम परागा' में भी है और 'चरण कमल मकरंद' पद में भी। अन्वय—व्यतिरेक तर्क वाक्य का आधार है—पूर्व-वर्ती आधार के रहने पर आधृत का रहना या उसके अभाव में न रहना।[1] विशिष्ट शब्द के रहने पर शब्दालङ्कार एवं उस शब्द के न रहने पर शब्दालङ्कार नहीं होगा। आचार्य मम्मट कहते हैं—

"इह गुणदोषालङ्काराणां शब्दार्थगतत्त्वेन सोऽन्वय व्यतिरेकाभ्यामेव व्यव-तिष्ठते। तथा हि कष्टत्वादि गाढ़त्वादि अनुप्रासादयो व्यर्थत्वादि प्रौढ़-यादि उपमादयश्च तद्भावतदभावानु विधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते"

× × ×

---

१. यत्सत्वेयत्वमन्वयः, यदभावेयदभावो व्यतिरेकः।

'योऽलंकारो यदीयावन्ययव्यतिरेकावनुविधत्ते सः तदलंकारः'

परवर्ती आचार्यों में विश्वनाथ, हेमचन्द्र प्रकारांतर से इसका समर्थन करते हैं। आगे चलकर पण्डित राज जगन्नाथ ने इस अन्वय-व्यतिरेक सिद्धांत का खंडन किया।

कुल मिलाकर, आचार्य राजानक तिलक की अवधारणा ही सत्य प्रतीत होती है। मूलाधार आश्रयाश्रयि सिद्धांत है, उपभेदादि की सहायता के निमित्त अन्वय-व्यतिरेक का उपयोग किया जा सकता है—जैसे 'सादृश्यगर्भित' आदि उपभेदों से सम्बद्ध अलङ्कारों में 'अन्वय व्यतिरेक' स्पष्टता के लिए अधिक सहायक होगा, न कि मुख्य विभाजन शब्द एवं अर्थ से संबंधित।

वर्गीकरण : इतिहास एवं स्वरूप

अलङ्कारों का प्रारम्भिक वर्गीकरण 'शब्दार्थमूलक' ही मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'शब्दार्थ' के रूप में काव्य विवेचन की प्रारम्भिक मान्यता के साथ-साथ अलङ्कार विषयक धारणा का भी विकास हुआ होगा। काव्य के साथ शब्दार्थ परम्परा आचार्य भरत के पूर्व विकसित हुई होगी। भाषिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकृत काव्य 'आचार्य भरत' द्वारा वाचिक अभिनय के रूप में ग्रहण किया गया और अलङ्कार, गुण, लक्षण एवं दोष विवेचन इसके विषय बने। अलङ्कार विवेचन में उन्होंने उपमा, रूपक, यमक, दीपक इन चार बंधों को ग्रहण किया, जिसमें यमक' का सौंदर्य शब्दाश्रित है। काव्य के शब्दार्थ रूप होने का साक्ष्य—वाल्मीकि रामायण, कालिदास, माघ आदि में मिल जाता है—

दुखेन बुबुधे सीतां हनुमानलंकृताम्।
संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरगताम्॥

× × ×

वागर्थविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगत पितरौ बंदे पार्वती परमेश्वरौ॥

× × ×

शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥[1]

काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के अवलोकन करने पर ऐसा प्रतीति होता है कि 'शब्द' एव 'अर्थ' की दो भिन्न परम्परायें काव्यशास्त्र में प्रललित थीं। 'शब्दवादी' काव्य में 'सौशब्द' या 'सुशब्दता' को रचना का आधार मानते रहे हैं। भरत

---

१. श्रृंगार प्रकाश वी० राघवन् से उद्धृत

कृत काव्य लक्षणों में कई का संबंध 'सौशब्द' से दिखाई पड़ता है। आचार्य वामनादि ने सौशब्द सिद्धांत की ओर अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक संकेत किया है—

भामह—

'अतिशेते ह्यलंकारं अन्यं व्यंजन चारुता'—

दण्डी—

शब्दार्थलंक्रियाश्चित्र मार्गाः सुकर दुष्कराः ।
गुण दोषश्च वाक्यानामिति संक्षिप्यदर्शिता ॥

अग्निपुराण—

केचिदर्थस्य सौंदर्यमपरे पदसौष्ठवम् ।
वाचां अलंक्रियां प्राहुस्तद् द्वयं नो मतम् ॥

कवि प्रशस्ति के अंतर्गत 'दण्डी' पद लालित्य का प्रतिनिधित्व करते हैं और भारवि अर्थ गौरव का।

सौशब्द सिद्धांत का पूर्व विकास मार्ग, रीति, गुण एवं पाक के रूप में मिलता है। वैदर्भी, गौडीय एव पांचाल मतों का सम्बन्ध इसी से है।

ठीक इसके विपरीत 'अर्थगुरुता' (वक्रतादि) का समर्थन अन्य परम्परा से होता है। अर्थवादियों की परम्परा आचार्य भामह के पूर्व थी।

तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालंकार भेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥

काव्य में अर्थ की गाँठ डालने वालों कवियों को आचार्य 'भामह गूढ़शब्दाभिधायिन्' कहते हैं। भट्टिकाव्य में काव्य रचना की सरल एव जटिल दोनों परिपाटियों की ओर संकेत मिलता है—

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम् ।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतयामया ॥

श्रीहर्ष ने भी 'अर्थग्रंथिनिवेष' को अपनी रचना के गौरव का कारण माना है—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,
प्राज्ञम्यन्यमना हठेन् पठितीमास्मिन् खलः खेलतु ।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृत दृढ़ग्रंथिः समासादयः ।
त्वेत्काव्यरसोर्मिमज्जन सुखव्यासज्जनं सज्जनः ॥

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक नितांत स्पष्टापूर्वक इन दो मतों का उल्लेख करते हैं—

"केषाञ्चिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यम् इति, केषञ्चितद्वाच्यमेव रचनावैचित्र्य चमत्कारकारि काव्यम् इति"[1]

इस शब्दार्थ मत का अलङ्कार के वर्गीकरण निरूपण पर अधिक प्रभाव पड़ा है। अलङ्कार सिद्धांत मूलतः इस शब्दार्थ मत का समन्वय करता है। इस स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य मम्मट ने बताया है—

शब्दवत् अर्थस्यापि कविसंरम्भगोचरत्वम्, अर्थस्य इव शब्दस्यापि रसप्रतीत्युपयोगित्वम्, अत उभयाश्रितोऽपि उभयरूपोऽलंकार इति।

"शब्द की भाँति अर्थ का कवि संरम्भगोचर होना है और अर्थ के सदृश शब्द भी रस प्रतीति में उपयोगी है, अतः उभयाश्रित होने से अलङ्कार भी दो प्रकार के होते हैं।"

शब्दरूप एवं अर्थरूप अलङ्कारों के वर्गीकरण का सामान्य-सा संकेत भामह दण्डी, उद्भट, वामनादि में मिलता है—

भामह—

वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिः अलङ्काराय कल्पते।

दण्डी—

शब्दार्थ अंलक्रियाश्चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः।

उद्भट—

द्विविधौरर्थ शब्दोक्ति विशिष्टं तत्प्रतीयताम्॥

वामन—

तत्र शब्दालंकारौ द्वौ यमकानुप्रासौ।

यही नहीं, आचार्य वामन कृत गुण विभाजन का प्रभाव अलङ्कार के शब्दार्थमूलक विभाजन पर अवश्य पड़ा—क्योंकि इस विभाजन की स्पष्ट रूप-रेखा इसी के पश्चात् मिलनी शुरू होती है। गुणों के संबंध में वामन कहते हैं—

'वाच्यवाचकद्वारेण शब्दार्थगुणानां भेदं दर्शयति'

इसी क्रम के अनुसार अलङ्कारों का भी वर्गीकरण इस प्रकार बनता है—

शब्दालंकार — वाचकद्वारक
अर्थालंकार — वाच्यद्वारक

आगे चलकर, रुद्रट ने अलंकारों के विवेचन क्रम में इस सिद्धांत को आधार बनाया। सर्वप्रथम, अग्निपुराणकार नितांत स्पष्ट ढंग से शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं उभयालंकार का वर्गीकरण प्रस्तुत करता है।

---

१. विशेष के लिए देखिए, शृंगार प्रकाश पर डॉ० वी० राघवन की व्याख्या

इस वर्गीकरण से इतर भी एक भिन्न वर्गीकरण प्रस्तुत करने की दिशा में प्रयास आचार्य उद्भट ने किया गया। यद्यपि उनके वर्गीकरण में 'शब्दालकार' प्रथम वर्ग में आते हैं और शेष वर्ग इससे भिन्न है, फिर भी, अलङ्कारों को इस प्रकार वर्ग बद्ध करने के मूल में उनके मन में कोई-न-कोई सिद्धान्त अवश्य रहा है। आचार्य उद्भट का वर्गीकरण इस प्रकार है—

प्रथम वर्ग—पुनरुक्तिवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास, लाटानुप्रास, उपमा-रूपक, दीपक = ७ अलङ्कार

द्वितीय वर्ग—आक्षेप, अर्थान्तरयास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति = ५ अलङ्कार

तृतीय वर्ग—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा तथा स्वभावोक्ति = ३ अलङ्कार

चतुर्थ वर्ग—प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्ज्वस्वित्, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट = ७ अलङ्कार

पंचम वर्ग—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्योगिता, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजोक्ति, निदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति = ११ अलङ्कार

षष्ठ वर्ग—संदेह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग तथा दृष्टान्त = ६ अलङ्कार

इनके पश्चात् आचार्य रुद्रट ने निहित समान वैशिष्ट्य के आधार पर अलंकारों को वर्गीकृत किया। उन्होंने सम्पूर्ण अलङ्कारों को चार वर्गों में विभक्त किया—

१ वास्तव्य

२. औपम्य

३. अतिशय

४. श्लेष

१. वास्तव्य—इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि वास्तव्यं इति गेयम् क्रियते वस्तुस्वरूप कथनम्। इस वर्ग के अन्तर्गत २३ अलङ्कारों को रखा है—सहोक्ति समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषय, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योय, उत्तर, सार, सूक्ष्म लेश, अवसर मीलित, एकावली

२. औपम्य साट्टश्य पर आधारित २१ अलङ्कार इस प्रकार के हैं—

उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रांतिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व सहोक्ति, समुच्चय, साम्य तथा स्मरण

३. **अतिशय**—इसके अन्तर्गत 'लोकातिक्रान्तिगोचरता' व्यंजित करने वाले अलङ्कार रखे गये है। इस प्रकार के अलङ्कारों की संख्या उनके अनुसार बारह है—

पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विषम, विरोध, असंगति, पिहित, व्याघात् तथा अहेतु।

४. **श्लेष वर्ग**—इसके अन्तर्गत अर्थ के स्तर किंचित् जटिलता उत्पन्न करने वाले अलङ्कार हैं। इनकी संख्या १० है—

अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास।

आचार्य रुद्रट के पश्चात् राजानक रुय्यक ने 'अलङ्कार सर्वस्व' ग्रन्थ में अलंकारों को उनके स्वभावानुसार वर्गीकृत किया। रुय्यक का प्रयास सर्वथा वैज्ञानिक माना जाता है क्योंकि सर्वप्रथम बार इन्होंने अलङ्कारों में निहित उनकी प्रवृत्तिमूलक विशिष्टता की प्रतीति कराई। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है—
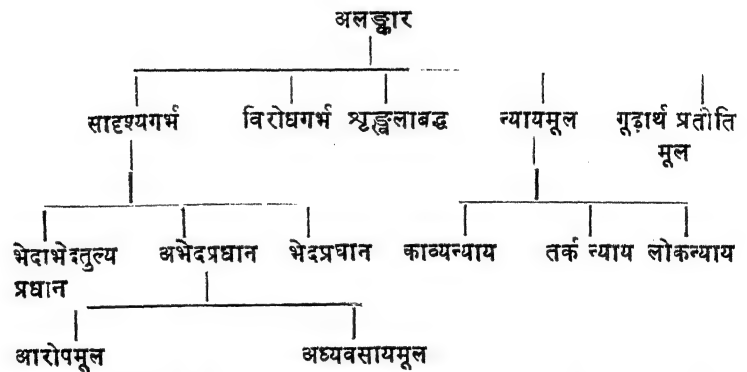
१. **सादृश्य गर्भ**—भेदाभेदतुल्यप्रधान के अंतगत ४ अलङ्कार हैं—उपमा, उपमेयोपमा, अन्वय तथा स्मरण

अभेद प्रधान के दो प्रमुख भेद हैं—आरोपमूल तथा अध्यवसायमूल

क—आरोपमूल के अन्तर्गत ६ अलंकार आते हैं—रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रांति, उल्लेख तथा अपह्नुति।

ख—अध्यवसायमूल के अंतगत २ अलङ्कार आते हैं—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति

ग—**भेदप्रधान**—इसके अंतर्गत १६ अलङ्कार हैं—तुल्ययोगिता, दीपक, प्रति-वस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति,

परिकर, श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति तथा आक्षेप ।

इस प्रकार, आचार्य रुय्यक के अनुसार सादृश्यगर्भ के अंतर्गत कुल २८ अलङ्कार आते हैं ।

२. **विरोधगर्भ**—इसके अंतर्गत १२ अलङ्कार रखे गये हैं—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात्, अतिशयोकि असंगति, विषम ।

शृंखला बद्ध – इसके अंतर्गत ४ अलङ्कार हैं—कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार

४. **न्याय मुलक—तर्कन्याय**—इसके अंतर्गत २ अलङ्कार हैं—काव्यलिंग एवं अनुमान

ख. **वाक्य**—इसके अंतर्गत ८ अलङ्कार हैं—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय, समाधि ।

ग. **लोकन्याय**—इसके अंतर्गत ७ अलङ्कार हैं—प्रत्यनोक, प्रतीप, मोलित, सामान्य, तद्‌गुण, अतद्‌गुण, उत्तर ।

५. **गूढार्थप्रतीतिमूल**—इसके अंतर्गत तीन अलङ्कार हैं—सूक्ष्म, संसृष्टि, संकर । इसके अतिरिक्त रस एवं भावादि से सम्बंधित १२ अलङ्कारों को इस वर्गीकरण व्यवस्था से पृथक् रखा है—

स्वाभावोक्ति, भाविक, उदात्त, संकर, संसृष्टि, रसवत्, प्रेयस, ऊर्जस्विन्, समाहित, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता ।

रुय्यक के पश्चात् आचार्य विद्यानाथ ने प्रतापरूद्‌यशोभूषण के अंतर्गत अलंकारों को निम्नलिखित वर्गों में रखा गया है—

१. वस्तुप्रतीतिमूलक

२. औपम्य प्रतीतिमूलक

३. रसभाव प्रतीतिमूलक

४. अस्फुट प्रतीतिमूलक

अर्थालंकाराणां चतुर्विधम् । केचिद् प्रतीयमानवस्तवः, केचिद् प्रतीयमानौपम्याः, केचिद् प्रतीयमानरसभावादयः । केचिदस्फुटप्रतीयमानाः ।

वस्तुप्रतीतिमूलक—इसके अंतर्गत १२ अलङ्कार हैं ।

समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयापमा, अनन्वय, अतिशयोक्ति, परिकर, अप्रस्तुत प्रशंसा, अनुक्त, निमित्त एवं विशेषोक्ति

२. **औपम्यमूलक**—रूपक परिणाम, संदेन, भ्रांति, उल्लेख, अपह्नुति,

उत्प्रेक्षा, स्मरण, तुल्योगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, सहोक्ति, व्यतिरेक, निदर्शना एवं श्लेष। इस प्रकार इस वर्ग के अन्तर्गत १६ अलङ्कार हैं।

३. **रसभाव प्रतीतिमूलक**—रसवत्, प्रेयस, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता। इस प्रकार इसके अन्तर्गत ६ अलङ्कार है।

४. **अस्फुट प्रतीतिमूलक**—इसके अंतर्गत ४० अलङ्कारों को रखा गया है। उपमा, विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास, विरोध, विभावना, उक्त, गुण, विशेषोक्ति, विषम, सम, चित्र, अधिक, अन्योन्य, कारणमाला, एकावली, व्याघात, मालादीपक, काव्यलिंग, अनुमान, सार, यथासंख्य, अर्थापत्ति, पर्याय परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, विशेष, मीलिन, सामान्य, असंगति तद्‌गुण, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक एवं उदात्त।

विद्यानाथ के पश्चात् विद्याधर ने अलङ्कारों को ९ वर्गों में विभक्त किया। ये इस प्रकार हैं—

१. साधर्म्यमूल
२. अध्यवसायमूल
३. विरोधमूल
४. वाक्यन्यायमूल
५. लोकव्यवहार मूल
६. तर्क न्याय मूल
७. शृङ्खलावैचित्र्यमूल
८. अपह्नव मूल
९. विशेषणवैचिव्यमूल

अलङ्कारों के वर्गीकरण के संबंध के आचार्य भोज की मान्यता किंचित् भिन्न है। उन्होंने अग्निपुराण के ही क्रम में—समस्त अलङ्कारों को— शब्द, अर्थ एव उभयमूलक इन तीन भागों में विभक्त किया है। उनके द्वारा स्वीकृत अलंकारों का वर्ग निम्नोक्त प्रकार हैं—

१. **शब्दालंकार**— जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, भणिति, गुम्फ़ना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ़, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनय।
२. **अर्थालंकार**—जाति (स्वभावोक्ति), विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, संभव, अन्योन्य, निदर्शन, भेद, समाहित, भ्रांति, वितर्क, मीलित स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्त वचन, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव
३. **उभयालंकार**—उपमा, रूपक, साम्य, संशयोक्ति, अपह्नुति, समाधि, युक्ति,

समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत प्रशंसा, तुल्योगिता, उल्लेख, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप' अर्थान्तिरन्यास, विशेष, परिष्कृति, (परिकर) दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशय, श्लेष, भाविक, संसृष्टि

डॉ० ओमप्रकाश शर्मा ने 'रीतिकालीन अलङ्कार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन' शीर्षक शोध प्रबन्ध में अलङ्कारों का वर्गीकरण किया है।

अलङ्कार के मानसिक प्रभाव का विवेचन करते हुए इन्होंने बताया है कि अलङ्कारों का संबंध मानसिक विस्तार से है—और इस क्रम में विस्तारऋजु एवं कुटिलता के क्रम में प्रतीत होता है। ऋजुतामूलक विस्तार के कारण इनका साधर्म्य, अतिशय, संगति एवं नादात्मक क्रम बनता है तथा अवरोध के कारण विरोध तथा गोपनमूलकक्रम। इस प्रकार मानस व्यापार से जुड़कर अलङ्कारों के छः वर्ग बनते हैं।

साधर्म्मूलक, अतिशयमूलक, संगीतमूलक, नादमूलक, विरोधमूलक, गोपनमूलक।

डॉ० नगेन्द्र ने अलङ्कारों को 'मानसिक प्रभाव' के अनुक्रम में वर्गीकृत किया है। रीति काव्य को भूमिका में वे स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्वित, जिज्ञासा और कौतूहल को अलङ्कार रचना का मूल मनोवैज्ञानिक हेतु मानते हैं। इसी क्रम में उनके अनुसार अलङ्कारों के ६ वर्ग बनते हैं—

१. साधर्म्यप्रधान (मानसिक स्पष्टता)
२. अतिशय प्रधान (विस्तार)
३. वैषम्यप्रधान (आश्चर्य)
४. औचित्यप्रधान (अन्विति)
५. वक्रताप्रधान (जिज्ञासा)
६. चमत्कारप्रधान (कौतूहल)

अत्यन्त विस्तारपूर्वक डॉ० नगेन्द्र ने समस्त स्वीकृत अलङ्कारों को इन्हीं ६ वर्गों में विभक्त किया है।

डॉ० नगेन्द्र का वर्गीकरण आज अन्तिम और अत्यधिक प्रामाणिक है। वैसे डॉ० नगेन्द्र के पश्चात् जैसा कि निर्दिष्ट, है डॉ० ओमप्रकाश शर्मा संगति एवं नादमूलक क्रम के अन्तर्गत अनुप्रास के विविध रूपों को रखा है, जिनका समाहार 'अन्विति' में हो जाता है, संगतिमूलक अलङ्कार वैषम्य एवं चमत्कार वर्ग में रखे जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि डॉ० शर्मा द्वारा निर्दिष्ट संगीत, नाद, संगीत एवं गोपन' शास्त्रीय शव्दावली से सम्बद्ध नहीं है और न इन व्यापारों को यथेष्ट व्याख्या ही मिलती है, जबकि डॉ० नगेद्र

द्वारा निर्दिष्ट साधर्म्य से लेकर चमत्कार पर्यन्त सभी अलंकारों का काव्यशास्त्रीय विधान है और उनका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी स्पष्ट रूप से अनुभूत है। डॉ० ओमप्रकाश केवल मानसिक विस्तार को अलङ्कार का मनोवैज्ञानिक हेतु बताते हैं जबकि जिज्ञासा, कौतूहल, अन्विति आदि प्रवृत्तियाँ न तो 'मात्र विस्तार' में समाहित की जा सकती हैं—और न यह तत्त्व सभी अलङ्कार धर्मों को व्याख्यायित कर सकने में ही समर्थ हैं। इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र का ही वर्गीकरण सम्प्रति प्रामाणिक माना जाता है।

अलंकारों की संख्या (नवीनता के अनुक्रम में)

१. भरत—(१) उपमा, (२) रूपक, (३) यमक, (४) दीपक

२. विष्णुधर्मोतर—(१) अनुप्रास,(२) व्यतिरेक, (३) श्लेष, (४) उत्प्रेक्षा, (५) अर्थान्तरन्यास, (६) उपन्यास, (७) विभावना, (८) अतिशयोक्ति, (९) स्वभावोक्ति, (१०) यथासंख्य, (११) विशेषोक्ति, (१२) निन्दास्तुति, (१३) निदर्शन, (१४) अन्वय। भरत द्वारा निर्दिष्ट दीपक का इस सूची में निर्देश नहीं है।

३. भामह. (१) आक्षेप, (२) समासोक्ति, (३) प्रेय, (४) रसवत् (५) ऊर्जस्वी, (६) पर्यायोक्त, (७) समाहित, (८) उदात्त, (९) अपह्नुति, (१०) विरोध, (११) तुल्ययोगिता, (१२) अप्रस्तुतप्रशंसा, (१३) व्याजस्तुति, (१४) उपमारूपक, (१५) उपमेयोपमा; (१६) सहोक्ति, (१७) परिवृत्ति, (१८) ससन्देह, (१९) अनन्वय, (२०) उत्प्रेक्षावयव, (२१) संसृष्टि, (२२) भाविक, (२३) आशीः। इस सूची में विष्णुधर्मोत्तर का 'उपन्यास' अलङ्कार नहीं है।

दण्डी—(१) आवृत्ति (२) हेतु (३) सूक्ष्म (४) लेश (लव) (५) अप्रस्तुत प्रशंसा, (६) संकीर्ण।

उद्भट—(१) पुनरुक्तवदाभास (२) छेकानुप्रास (३) लाटानुप्रास (४) संकर, (५) काव्यहेतु (लिंग), (६) काव्य दृष्टान्त (दृष्टान्त)

रुद्रट—(१) समुच्चय, (२) भाव, (३) पर्याय, (४) विषय, (५) अनुमान, (६) परिकर, (७) परिसंख्य, (८) कारणमाला, (९) अन्योन्य, (१०) उत्तर, (११) सार, (१२) मीलित, (१३) एकावली, (१४) मत, (१५) प्रतीप, (१६) भ्रान्तिमान, (१७) प्रत्यनीक, (१८) साम्य, (१९) स्मरण, (२०) विशेष, (२१) तद्गुण, (२२) अतद्गुण, (२३) अधिक, (२४) असंगति, (२५) पिहित, (२६) व्याघात्।

भोज—(१) जाति, (२) गति, (३) रीति, (४) वृत्ति, (५) छाया, (६)

मुद्रा, (७) उक्ति, (८) मणिति, (९) गुम्फना, (१०) शय्या, (११) प्रहेलिका, (१३) गूढ़, (१४) प्रश्नोत्तर, (१५) अध्येय, (१६) श्रव्य, (१७) प्रेक्ष्य, (१८) अभिनय, (१९) हेतु, (२०) अहेतु, (२१) सूक्ष्म, (२२) सम्भव, (२३) भेद, (२४) वितर्क, (२५) भाव, (२६) प्रत्यक्ष, (२७) अनुमान, (२८) आप्त-वचन, (२९) उपमान, (अर्थापत्ति, (३१) अभाव, (३२) साम्य, (३३) समाधि, (३४) युक्ति ३५) परिष्कृति (परिकर)।

मम्मट—(१) समुच्चय, (२) पर्योक्ति (पर्यायोक्ति नहीं) (३) कारण-माला, (४) सार, (५) सम, (६) विषय, (७) अधिक, (८) प्रत्यनीक, (९) एकावली, (१०) सामान्य, (११) अतद्गुण, (१२) विनोक्ति, (१३) सामान्य मालादीपक।

रुय्यक—(१) उल्लेख, (२) काव्यार्थपत्ति, (३) परिणाम, (४) विचित्र (५) विकल्प।

शोभाकर मित्र—डॉ० ओमप्रकाश शर्मा ने इनके १०० अलंकारों की सूची में ४१ अलंकारों को नवीन तथा मौलिक माना है—(१) असम, (२) उदाहरण, (३) प्रतिमा, (४) विनोद, (५) व्यासंग, (६) वैधर्म्म, (७) अभेद, (८) वितर्क (९) प्रतिभा (१०) क्रियातिपत्ति, (११) निश्चय, (१२) विध्या-भास, (१३) संदेहाभास, (१४) विकल्पाभास (१५) विपर्यय, (१६) अचिन्त्य, (१७) अशक्य, (१८) व्यवसाय, (१९) समता, (२०) उद्रेक, (तुल्य) (२२) अनादर, (२३) आदर, (२४) अनुकृति, (२५) प्रत्यूह, (२६) प्रत्यादेश, (२७) व्याप्ति, (२८) आपत्ति, (२९) विधि, (३०) नियम, (३१) प्रतिप्रसव, (३२) तंत्र, (३३) प्रसंग, (३४) वर्धमानक, (३५) अवरोध, (३६) अतिशय, (३७) शृंखला, (३८), विवेक (३९) परभाग, (४०) उद्भेद, (४१) गूढ़।

जयदेव—(१) पुनरुक्ति प्रकाश, (२) भाविकच्छवि

विद्यानाथ—(१) भावोदय, (२) भावसन्धि, (३) भावशबलता

वाग्भट्ट—(काव्यानुशासन) (१) उभयन्यास, (२) अन्य (३) अपर

विश्वनाथ—(१) अनुकूल (अनुकृति, शोभाकर मिश्र)

केशव मिश्र—(१) प्रश्नोत्तर, (२) अन्यदेशत्व (असंगति; मम्मट)

अप्पय दीक्षित—प्रत्क्षादि १० प्रमाण इनके अनुसार नये अलङ्कार हैं ! १६ नये अलङ्कार इनके अतिरिक्त 'कुवलयानन्द' में निर्दिष्ट हैं—(१) प्रस्तुतांकुर, (२) अल्प, (३) कारकदीपक, (४) मिथ्याध्यवसिति, (५) ललित, (६) अनुज्ञा, (७) मुद्रा, (८) रत्नावली, (९) विशेषक, (१०) गूढ़ोक्ति, (११) विवृतोक्ति,

(१२) युक्ति, (१३) लोकोक्ति, (१४) छेकोक्ति, (१५) निरुक्ति, (१६) प्रतिषेध (१७) विधि।

पण्डितराज जगन्नाथ—(१) तिरस्कार

आचार्य विश्वेश्वर—(१) पिधान

आचार्यों के अनुक्रम में अलंकारों की संख्या

		अलंकार संख्या
१. आचार्य भरत	नाट्यशास्त्र	४
२. भामह	काव्यालङ्कार	३८
३. दण्डी	काव्यादर्श	३५
४. उद्भट	काव्यालङ्कारसार संग्रह	४१
५. वामन	काव्यालङ्कारसूत्र	३१
६. रुद्रट	काव्यालङ्कार	५१ अलङ्कार (६ अलङ्कारों की आवृत्ति है)
७. भोज	सरस्वतीकंठा-भरण	७१
८. मम्मट	काव्य प्रकाश	६१ अलङ्कार
९. रुय्यक	अलङ्कार सर्वस्व	७५
१०. वाग्भट्ट	वाग्भट्टालंकार	३५
११. शोभाकर मित्र	अलङ्कार रत्नाकर	१००
१२. जयदेव	चन्द्रालोक	८७
१३. भानुदत्त	अलङ्कार तिलक	७१
१४. विश्वनाथ	साहित्य दर्पण	७८
१४. अप्पय दीक्षित	कुवलयानन्द	१२०
१६. पण्डितराज जगन्नाथ	रसगंगाधर	७०

अलङ्कार सिद्धान्त का मूल्यांकन

संस्कृत काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट आलङ्कारिकों की अलङ्कार विषयक धारणाओं को देखकर कतिपय निष्कर्ष सहजतापूर्वक निकाले जा सकते हैं। अलङ्कार काव्यरचना के अन्तर्गत 'शब्द' तथा 'अर्थसत्ता' की रचनात्मक सार्थकता को स्पष्ट करते हैं। अर्थ की विविध स्थितियाँ, उनसे सम्बद्ध मानसिक प्रभाव, अर्थ सम्प्रेषण तथा इनके प्रयोग से उत्पन्न होने वाले रचनात्मक वैचित्र्य को संस्कृत काव्यशास्त्र के आलङ्कारिक विविध रूपों में विश्लेषित करते हैं। संक्षेप में, इन

आलङ्कारिकों की अलङ्कार विषयक उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं—

(१) प्रारम्भिक आचार्यों ने काव्य की समग्रता को अलङ्कार सिद्धान्त के अन्तर्गत समाविष्ट करने का प्रयास किया। यह प्रयास दो रूपों में किया गया है—

(क) आचार्य दण्डी तथा वामन ने अलङ्कार की व्याप्ति को इस प्रकार निर्दिष्ट किया कि काव्य का समग्र सौन्दर्यविधान अलङ्कार की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार हो। 'काव्य के शोभा के विधायक तत्त्व' को अलङ्कार मानने या 'काव्य सौन्दर्य की समग्रता' को ही अलङ्कार का नाम देने के पीछे इन आचार्यों का अभिप्राय यही था कि वे इसे काव्य के एकमात्र तथा अपरिहार्य तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करें।

(ख) 'शब्दार्थ विन्यास' के रूप में काव्य रचना को परिभाषित करने के पीछे भी काव्य के समग्र रचनात्मक कौशल को अन्तर्भुक्त करने की ही दृष्टि वर्तमान है। शब्दार्थ प्रपंच में निहित वक्रता या कथन की भंगिमा इनकी दृष्टि में अलङ्कारत्व का मूल हेतु है। स्वभावोक्ति भी किसी-न-किसी तरह से इसी भंगिमा से सम्पृक्त है। आगे चलकर, अलङ्कार सिद्धान्त के वक्रोक्तिवादी विचारकों ने काव्य की समग्रता को इससे आवेष्ठित किया।

परवर्ती आलङ्कारिकों ने अनुप्रास, श्लेष, यमक के अन्तर्गत क्रमशः माधुर्य, ओज तथा प्रसाद को अलङ्कार का धर्म निरूपित किया। रसवत्, प्रेयस्, ऊर्ज्वस्विन्, समाहित को प्रारम्भिक आचार्यों ने अलङ्कार की श्रेणी में रखा। आचार्य राजानक रुय्यक ने भावसन्धि, भावशबलता, भावसन्धि आदि को अलङ्कार की ही श्रेणी में परिगणित किया। भोज ने प्रेक्ष्य तथा अभिनय को भी अलङ्कार माना। कुल मिलाकर, आलङ्कारिक शेष काव्य सिद्धान्तों को अलङ्कार की क्षेत्र परिधि में समाविष्ट करने के प्रति प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं।

(२) आलङ्कारिकों ने अलङ्कार सिद्धान्त को सर्वोपरि सिद्ध करने की निरंतर सचेष्टता दिखाई है। उत्कृष्टता के लिए दोनों आधार—काव्य सिद्धान्तों की तुलना में महनीयता तथा वाणी व्यापार के अन्तर्गत इसकी सर्वश्रेष्ठता—तर्क के रूप में ग्रहण किये गये। आचार्य भामह ने अपने किसी पूर्ववर्ती आचार्य की उक्ति का उल्लेख करते हुए बताया है—

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्'

अलङ्कार सिद्धान्त के सापेक्ष्य में 'कविता-वनिता' का रूपक उसके वर्चस्व को सिद्ध करने के लिए निरन्तर चलता रहा—

तया कवितया किं वा तया वनितया च किम् ।
पदविन्यास मात्रेण यया न हृयते मनः ।।

आचार्य भोज तथा अग्निपुराण की उक्ति है—

'अलङ्काररहिताविधवैव सरस्वती'

आचार्य वामन गुण तथा अलङ्कार को केन्द्र में रखकर 'कविता-वनिता' रूपक को इस प्रकार रखते हैं—

युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणय निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः ।
यदि भवति वपुश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जन दयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ।

आचार्य केशवदास इसी क्रम कहते हैं—

जद्यपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवित्त ।
भूषन बिन न बिराजई, कविता बनिता मित्त ।

सैद्धान्तिक स्तर पर भी आलङ्कारिकों ने इसके वर्चस्व को विविध कथनों के द्वारा स्वीकार किया है । आचार्य दण्डी तथा वामन के पश्चात् परवर्ती आलङ्कारिकों में महिम भट्ट आदि अलङ्कार की प्रशस्ति का गान करते हैं—

'चारुत्वं वैचित्र्य पर्यायं प्रकाशमानलंकारः, चारुत्वं अलङ्कारः'

राजानक तिलक कहते हैं—

'तथा च शब्दार्थयोः विच्छित्ति अलङ्कारः'

(३) कथन की समग्रता को आलङ्कारियों ने अलङ्कार रचना के रूप में ग्रहण करते हुए उन्हें इसमें समाविष्ट करने की चेष्टा की । अलङ्कारों के वर्गीकरण के आधार इसके उदाहरण रूम में रखे जा सकते हैं । इसका सबसे सामान्य रूप 'वस्तु प्रतीतिमूलक' कथन में और जटिलता रूप 'संश्लिष्ट तथा वैचित्र्य-गर्भित वाक्यार्थों में मिलता है । कथन की विविध शैलियाँ—साधर्म्य, अध्यवसाय, विरोध, तर्क रचना, संश्लिष्ट तथा वैचित्र्यप्रधान—सभी अलङ्कारानुविद्ध हैं । भारतीय काव्यशास्त्र के परवर्ती काल में 'शब्दशक्ति' की विधिवत् व्याख्या से अलङ्कार विवेचन को बल मिला । 'शब्द शक्ति' तथा 'अलंङ्कार विवेचन' परस्पर एक दूसरे से उपकृत हुए । 'लक्षणा शक्ति' का मूल सन्दर्भ अलंकार का ही है और इसके विधिवत् विकास के पश्चात् अलङ्कारवादियों ने पुनः इसका उपयोग किया । 'व्यंजना व्यापार' में व्यंग्य के आदिम संकेत आक्षेप, समासोक्ति, व्याजोक्ति, पर्यायोक्ति, वक्रोक्ति जैसे अलङ्कारों में देखे जा सकते हैं । यही नहीं, वर्णसाधना से लेकर काव्य-शैली तक को अलङ्कार की परिधि में रखने

का प्रयास किया गया। शब्द क्रीडावृत्ति, श्लेष, यमक तथा विविध चित्रों एवं प्रहेलिकाओं के चमत्कार के रूप में अलङ्कार काव्य को भारतीय कलात्मक मनोविनोद के समीप ले जाता है। प्रारम्भिक काव्य इससे भिन्न विविध अलङ्कार बन्धों पर आधारित लिखे जाते रहे हैं, जिनमें से प्रमुख उपमा, यमक एवं श्लेष बन्ध प्रमुख थे। आचार्य दण्डी ने उपमा के जिन भेदों का उल्लेख किया है, उनमें से अधिकांश शैली के रूप में उपमाबन्ध के उदाहरण हैं। पन्द्रहवीं शती में काव्य-लता वृत्ति तथा अलङ्कार शेखर जैसे ग्रन्थों में वर्णक के रूप में इनका विकास हुआ और अलंकार काव्यार्थ के धर्म न होकर 'वर्णन परिपाटी' से संबंधित हुए। उपमा वर्णक इस युग में विशेष रूप से प्रिय हुए। केशव मिश्र अलङ्कार शेखर में कहते हैं—

'उपक्रमोदोषगुणावलङ्कारोऽथ वर्णकः'

'यमक बन्ध' का उदाहरण 'रघुवंश' के 'नवम सर्ग' में देखा जा सकता है। श्लेष-बन्ध के लिए द्विसन्धान से लेकर सप्तसन्धान तक की काव्य की परम्परा इसके लिए साक्ष्य है।

(४) 'रस सिद्धान्त' में साधारणीकरण तथा आस्वाद प्रक्रिया के समान ही आलङ्कारिकों ने अलङ्कार वैशिष्ट्य से उत्पन्न काव्यास्वाद तथा पाठक के मन पर पड़ने वाले उसके कलात्मक प्रभावों की व्याख्या की है। कला का मानव मानस पर अपना विशेष प्रभाव पड़ता है। अलङ्कार रचना की प्रवृत्ति कलात्मक अधिक है। यह मानवीय मन पर अपना विशेष प्रभाव डालती है। मानवीय मूल-वृत्तियों में रंजन, विनोद, औत्सुक्य एवं उसकी शान्ति और विश्रान्ति इसके प्रभाव से निरन्तर प्रभावित मिलते हैं। आह्लाद का भाव इनके मूल में है। अलंकार से उत्पन्न होने वाला आह्लाद 'रसकोटि' का नहीं है क्योंकि उनमें मनस-द्रवता की सघन प्रवृत्ति नहीं होती। यह आनन्द भावात्मक एवं संवेगात्मक न होकर आश्चर्य तथा औत्युक्य का शमन करता है। आधुनिक अलंकार विवेचकों ने इसीलिए इसमें—'स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा तथा कौतूहल' विधायक परिणामों की चर्चा की है। कला के रूप में अलंकार का मुख्य कार्य व्यापार—अर्थोत्कर्ष, चमत्कृति, विमुग्धता, रंजन, भावोत्कर्ष, गुणों को अतिशयता प्रदान करना, कला जनित रंजनात्मक कौतूहल की शान्ति आदि हैं।

अलङ्कार के सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व अर्थ रचना है। कलात्मक स्तर पर अलङ्कार द्वारा निर्मित अर्थ रचना का यह सन्दर्भ विचारणीय है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इसके कार्य व्यापार की ओर संकेत करते हुए बताया है कि—

"तत् (रस) प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्कारा:"

प्रकारान्तर से रस को प्रकाशित करने वाले ये वाच्य रूप हैं। यदि अर्थ-रचना की दृष्टि से विचार किया जाए तो इनके कई स्तर दृष्टिगत होते हैं। प्रथम स्तर पर ये अपने धर्मों द्वारा अर्थ को साधारणीकृत कराते हैं। अर्थ के साधारणीकृत का अर्थ है—अपने कलात्मक स्वभाव द्वारा पाठक के मन में काव्यार्थ को आस्वादित कराकर आह्लाद का हेतु बनना। रस प्रक्रिया से यह स्थिति थोड़ी-सी भिन्न अवश्य है, फिर भी, इनमें उससे पर्याप्त समानान्तरता प्रतीत होती है। 'विभावानुभावव्यभिचारि' सहृदय के हृदय में संचित वासनाओं को जगाकर उसे आस्वाद्य बनाते हैं, ठीक उसी प्रकार अर्थ के स्तर पर अलङ्कार साधर्म्य, अतिशय चमत्कार, वक्रता आदि के द्वारा पाठक में निहित 'औतसुक्य, रंजन एवं विनोद' जैसी मूल वृत्तियों को जाग्रत करके उन्हें विमुग्ध एवं आह्लादित करते हैं। औत्सुक्य (Curiosity) एवं रंजन (Recuation) अनादि वासनाएँ हैं, जो कलात्मक प्रभाव से व्यक्ति में अपने आह्लादकारी उन्माद के रूप में जागृत होती हैं। संस्कृत के आचार्यों ने अलङ्कार की अर्थरचना से उत्पन्न कलात्मक आस्वाद को अन्तश्चमत्कार, परिस्पन्दमनोहारिता, आह्लाद जैसे नामों से अभिहित किया है। रस का आनन्द मुख्यतः विषयिपरक ही है किन्तु अलङ्कार की अर्थरचना के सम्प्रेषण से उत्पन्न आनन्द वस्तुपरक एवं विषयिपरक दोनों स्वभावों से परिपूर्ण है।

अलङ्कार, द्वितीय स्तर पर, जैसा कि ध्वनिवादी आचार्य स्वीकार करते हैं, 'विभावानुभावव्यभिचारि' को अपने अनेक तत्त्वों द्वारा संप्रेषणीयता के स्वभाव से परिपूर्ण बनता हैं। गुणादि में अतिशयता की वृद्धि करके तथा शैली में माधुर्यादि को सुकर बनाकर अपनी रचनात्मक अर्थ-विलक्षणता का सम्पूर्ण तिरोधान—विभावादि में करके अलंकार उन्हें रस की सामग्री बनाने में सहयोग प्रदान करता है काव्यार्थ रचना की सम्पूर्ण अन्वितियाँ (लक्षणा एवं व्यंजना ही चाहें क्यों न हों) इसी धर्म के माध्यम से आस्वादन के धर्म से संयुक्त होती हैं। ध्वनिवादियों ने इसे उपेक्षित करने के लिये 'लक्षणा तथा व्यजना' जैसी शब्द शक्तियों की परि-कल्पना अवश्य की है, किन्तु काव्यार्थ में आस्वाद्य धर्म का निर्माण अलङ्कार—प्रक्रिया द्वारा ही होता है। 'लक्षणा' एवं व्यंजना व्यापार 'अलङ्कार-व्यापार' के स्वरूप को दिग्भ्रमित करने के लिये रचे गये हैं। इस प्रकार अलङ्कार अर्थरचना के स्तर पर कलात्मक सृष्टि के माध्यम से रस सामग्री को सर्वथा आस्वान का विषय बनाने में सर्वाधिक सहायता पहुँचाता है।

'अलङ्कार रचना' एक तीसरे स्तर पर पाठकों से जुड़ी हुई है। इसका संबंध मात्र चमत्कार की सृष्टि से है। अर्थ की विविध प्रकारात्मक सृष्टियों द्वारा अलंकार सामान्य चमत्कार की सृष्टि करता है। प्रहेलिका, चित्रकाव्यादि इस चमत्कार के अनेकानेक रूप हैं।

जैसा कि प्रारम्भ में निर्दिष्ट किया जा चुका है, इन अलङ्कारिकों ने अलंकार के मूल हेतु को निर्धारित करने की चेष्टा की है। मूल हेतु का तात्पर्य उस शक्ति से है, जिसका काव्यभाषा में प्रवेश करा देने पर अलंकार जैसे तत्त्व का उदय होता है। वस्तुतः अलंकार के मूल बीजभूत तत्त्व की यह चर्चा अर्थरचना के स्वभाव को समझने के लिए आवश्यक है। कवि एक विशिष्ट अर्थ समुदाय को अलंकारविधान के माध्यय से सम्प्रेषित करना चाहता है। सामान्य गद्य-वाक्य में जहाँ 'अर्थ वितरण की भाषिक प्रक्रिया, दिखाई पड़ती है, वहीं काव्य वाक्य में ठीक इसके प्रतिकूल अर्थ के माध्यम से भावात्मक पुंज को कवि समझाने के स्थान पर सादृश्य आदि विधानों के उपयोग द्वारा पाठक के मन तक सम्प्रेषित करने का प्रयास करता है। अलंकार के बीजभूत तत्त्व अर्थ को आस्वादन-प्रक्रिया तक पहुँचाने के सचेष्ट माध्यम हैं। इन मूल बीजभूत तत्त्वों में स्वाभावोक्ति, सादृश्य, अतिशयता, वक्रता, औचिति एवं गुणीभूतव्यंग्य का विवेचन करके इन अलंकारिकों ने अर्थ रचना प्रकिया की सूक्ष्मता की ओर संकेत किया है। अलंकार-रचना के इस बीजभूत तत्त्व के रूप में वक्रतार्गभित अतिशयता को अधिकांश आलङ्कारिकों ने मान्यता दी है। वक्रतागभित यह अतिशयता वाक्य विशेष को प्रकर्षवान बनाकर अंतश्चमत्कार से संयुक्त करती है। अलंकार का यह मूलहेतु शब्दार्थों से (गुण, पाक, रीति, शैया के अन्तर्गत शब्दालंकार तथा तथा अर्थ की समस्त व्याप्ति रूप अर्थालंकार) सम्बद्ध है। वह सम्पूर्ण काव्यशास्त्र चिन्तन लिए युग विशेष में मूलाधार था। ध्वनि, रस तथा औचित्य सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार से इस सिद्धान्त को पर्याप्त क्षति उठानी पड़ी। शब्द शक्ति का आश्रय ग्रहण करके चलने वाले ध्वनि सिद्धांत ने आलंकारिकों की अर्थवादी मान्यताओं को संकीर्ण घोषित करके उसके सम्पूर्ण सौंदर्य को 'विवक्षितवाच्य ध्वनि' तथा 'अर्थान्तरसंक्रमित' भेदों के अन्तर्गत समाविष्ट किया, जो उपयुक्त नहीं है। 'रस ध्वनि' को काव्य की मूलात्मा के रूप में घोषित करके आचार्य आनन्दवर्धन ने इसे केवल भाव प्रकर्ष के सामान्य साधनभूत तत्त्व के रूप में स्वीकृति दी है—

रसाक्षिप्ततयायस्य बन्धोशक्य क्रियाभवेत्।
अपृथक् अयत्ननिर्वत्य सोऽलंकारो ध्वनौमतः॥

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनो ते गुणास्मृता ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारामन्तव्या कटकादिवत् ॥

आनन्दवर्धन द्वारा अलंकार के स्वरूप का यह विवेचन अभिनवगुप्त तथा मम्मट द्वारा इतना प्रचारित किया गया कि इससे मुक्त होकर उसके स्वरूप पर विचार करने की आवश्यकता किसी परवर्ती आचार्य को नहीं प्रतीत हुई । भोजराज, कविराज विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, अमरसिंह, केशवमिश्र, पण्डितराज जगन्नाथ आदि इसी सन्दर्भ को प्रायः दुहराते रहे ।

●

शब्दशक्ति

शब्द शक्ति की चर्चा भारतीय साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन है। सम्भवतया इसके अध्ययन का प्राचीनतम प्रयास व्याकरण एवं निरुक्ति के अन्तर्गत किया गया था। साक्ष्य की दृष्टि से यास्क-निरुक्ति की चर्चा सर्वथा प्राचीन है। यास्क ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्य 'औदुम्बरायण' के मत का उल्लेख करते हुए बताया है कि—

इन्द्रियनित्यं वचनम् औदुम्बरायणः। तत्र चतुष्ट्यं नोपपद्यते। आयुगपद् उत्पन्नम् वा शब्दानां इतरेतरोपदेशः, शास्त्रकृतो योगश्च ॥

[शब्द (जिह्वा) इन्द्रिय में ही नित्य हैं, इस प्रकार औदुम्बरायण का मत है। इन मत से चार (नाम, आख्यात्, उपसर्ग एवं निपात) रुप नहीं बनते। पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए शब्दों का एक दूसरे के प्रति (गौण-प्रधान भाव से) सम्बन्ध एवं शास्त्र (व्याकरण) में प्रदर्शित (प्रत्यादि) का संयोग भी भलीभाँति सिद्ध नहीं हो पाता।]

इस मत के अनुसार उच्चरित होते ही शब्दों के वर्ण क्रम विनष्ट होते जाते हैं, अतः नाम, आख्यात्, उपसर्ग एवं निपात् होने का प्रश्न ही क्या है ? साथ ही, उनमें प्रधानता का निर्धारण करना और भी कष्टसाध्य है। महा-भाष्यकार पतंजलि भी इस प्रकिया की ओर संकेत करते हुए बताते हैं—

'एकैकवर्णवर्तिनी वाङ न द्वौ युगपद उच्चाटयति'

यास्क इस मत में निर्दिष्ट दोषों के समाधान के लिए बताते हैं—

'व्याप्तिमत्वात् तु शब्दस्य'

शब्द के व्याप्तिमान नित्य होने से उपयुक्त मत का खण्डन हो जाता है। उनके अनुसार 'वक्ता' तथा 'श्रोता' के हृदय में सनातन भाव से व्याप्त रहने के कारण शब्द (अर्थ) 'नित्यता' दोष से प्रभावित नहीं होते। ध्वनियों के द्वारा होने वाली बाह्य अभिव्यक्ति ही अनित्य है, क्योंकि ये वाक् इन्द्रिय से उच्चरित होकर तुरन्त ही नष्ट हो जाया करती हैं, दूसरी ओर वक्ता तथा श्रोता के हृदय में अक्षय रुप में वर्तमान शब्द नित्य हैं। प्रकारान्तर से, यास्क स्फोट सिद्धांत

की मूल अवधारणा का प्रतिपादन नष्टधर्मा वागेइन्द्रिय धर्म ध्वनि एवं वक्ता-श्रोता के हृदय में वर्तमान अखण्ड शब्द के माध्यम से करते हैं। शब्द मुख्यतः अभिव्यक्त एवं अनभिव्यक्त दो रूपों में अनित्य भाव से वर्तमान रहते हैं। आगे चलकर, पतंजलि ने व्यक्त होने वाले शब्द को ध्यान में रखकर न केवल परिभाषित किया अपितु 'स्फोट' सिद्धांत की भी स्थापना की। पतंजलि शब्द को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

'श्रोतोपलब्धि बुद्धि निग्राह्यः 'प्रयोगेनाभिज्वलित' आकाशदेशः शब्दः

'शब्द' के चार वैशिष्ट्य हैं—

कर्णेन्द्रिय द्वारा श्रवण किए जाते हों, बुद्धि द्वारा ग्राह्य हों, प्रयोग द्वारा जो अभिज्वलित (स्फुट एवं व्यक्त) हो। तथा आकाश में व्याप्त हों।

वस्तुतः प्रयोग में 'अभिज्वलित' होना शब्द के स्फोट तत्त्व की ओर ही संकेत है, जिसे पतंजलि उसका नित्य धर्म (स्फोट) बताते हैं—

स्फोटस् तात्वान् एव ध्वनि कृतावृद्धिः

आगे चलकर, परम्परा में इस अभिव्यक्त नित्य शब्द को दार्शनिकों ने शब्द ब्रह्म की संज्ञा दी।

आगे, शब्द एवं अर्थ सम्बन्ध को लेकर 'शब्दबोध' सिद्धांत पर विशेष विस्तारपूर्वक चर्चा की गई। दार्शनिकों में 'व्याकरण' के अतिरिक्त न्यायसिद्धांत के अन्तर्गत प्रमाण विवेचन के रूप में तथा मीमांसाओं में 'वाक्य-प्रमाण' के रूप में इसका विश्लेषण किया गया। प्रकारान्तर भाव से सांख्य, बौद्ध, जैन एवं वेदान्त के अन्तर्गत भी इस प्रसंग पर विचार किया गया है। काव्यशास्त्र अपेक्षाकृत अन्य शास्त्रों से अर्वाचीन हैं, और इसके अन्तर्गत शब्दशक्ति प्रकरण ७वीं-८वीं शती से प्रारम्भ होता है, जिसका सम्यक्रुपेण विकास ध्वनि सिद्धांत की मान्यताओं के आसपास है। काव्यशास्त्र के अन्तर्गत विचारित शब्दशक्ति प्रकरण पूर्ववती मान्यताओं विशेषकर 'व्याकरण' से अधिक प्रभावित है। काव्यशास्त्रीय शब्दशक्ति विवेचन के पूर्व संक्षेप में इस सम्बन्ध में निर्दिष्ट दार्शनिक मतवादों पर विचार कर लेना आवश्यक है। सामान्यतया इस सम्बंध में तीन मत विशेष रूप से प्रचलित हैं—

१. व्याकरणमत—जो 'पदशास्त्र' के रुप में इसका अध्ययन करता है।

२. न्यायमत—यह 'प्रमाण' के रूप में इस तथ्य पर विचार करता है।

३. मीमांसा—'वाक्य-प्रमाण' के अन्तर्गत इस प्रश्न पर विचार करता है।

व्याकरण दर्शन

इसके दो भेद किये जाते हैं, प्राचीन व्याकरण एवं नव्य व्याकरण दर्शन। यौदुम्बरायण, वार्तदक्ष, यास्क, स्फोटायन आदि प्राचीन वैयाकरणों ने स्फोट सिद्धान्त की मान्यताओं को प्रतिष्ठित किया है। आगे चलकर, पाणिनि, पतंजलि, कात्यायन ने व्याकरण चिन्तन को सर्वथा नवीन स्वरूप प्रदान किया। व्याकरण चिन्तन की दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास भर्तृहरि एवं नागेश भट्ट द्वारा किया गया। भर्तृहरि द्वारा लिखित 'वाक्य पदीय' नामक ग्रन्थ व्याकरण चिन्तन का सर्वोच्च स्वरूप प्रस्तुत करता है। नागेश भट्ट ने 'व्याकरण मंजूषा' नामक ग्रन्थ लिखा।

काव्यशास्त्रीय साक्ष्यों से स्पष्ट है कि पाणिनिमत से भिन्न 'स्फोटवाद' वर्णों की अनित्यता पर अधिक बल देता था। इस सम्बन्ध में आचार्य भामह काव्यालंकार के छठें अध्याय में अपना मत व्यक्त करते हैं—

वर्ण का अस्तित्व नहीं रहता। वे उच्चरित काव्य विशेष में नष्ट हो जाते हैं, अनुच्चरित होने पर वस्तु (अर्थ) की प्रतीति नहीं कराते। अतः अर्थ की स्थिति वर्ण में नहीं है। अर्थ की स्थिति प्रत्यक्षतः या अनुमानतः नहीं हो सकती है, अनित्यात्मक शब्द रूप में भी नहीं—

तस्मात्कूटस्थ इत्येषा शाब्दी वः कल्पना वृथा।
प्रत्यक्षानुमानं वा त्यत्र तत्परमार्थतः॥
शपथैरपि चादेयं वचो न स्फोटवादिनाम्।
नभः कुसुममस्तीति श्रद्दध्यात्कः सचेतनः॥

इस प्रकार, आचार्य भामह स्फोटवादियों के मत का खंडन करते हुए अपना मत स्थापित करते हैं—

इयन्त इदृशावर्णा ईदृगर्थाविधायिनः।
व्यवहाराय लोकश्च प्रागित्थं समयः कृतः॥
स कूटस्थोऽनपायी च नादादन्यश्च कथ्यते।
मन्दा सांकेतिकानर्थान् मन्यन्ते पारमार्थिकान्॥

आगे चलकर, स्फोटवादी वैयाकरणों ने अखंड वाक्य स्फोट की स्थापना की। परवर्ती वैयाकरण वर्ण, पद तथा वाक्य अर्थात् वर्णत्रय को स्फोट से भिन्न, स्फोट की प्रतीति कराने वाले (दीप प्रकाश में पूर्व अस्तित्ववान घट के ज्ञान की भाँति) तत्त्व को अखण्ड स्फोट मानते हैं—

'यदि कश्चिदेवमाह न वर्णत्रयमर्थस्य वाचकम्, स्फोटव्यतिरिक्तत्वात् घट-वदिति'।

वैयाकरणों का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान, जिसका भारतीय काव्यशास्त्र में आगे उपयोग किया गया 'स्फोटवाद' सिद्धान्त है। प्राचीन वैयाकरणों में स्फोटायन के स्फोट सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का श्रेय दिया जाता है। इसका उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी है। पतंजलि ने महाभाष्य में इस सिद्धांत को विधिवत् समझाने की चेष्टा की। इसके लिए 'घट प्रदीपन्याय' का उल्लेख जैसा कि निर्दिष्ट है, प्रारम्भ से ही होता रहा है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के अन्तर्गत अत्यन्त विस्तारपूर्वक सारे सिद्धान्तों को समझाने का प्रयास किया। संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनि सिद्धान्त 'स्फोटवाद' तथा 'घटप्रदीप न्याय' के लिए व्याकरण पर ही आश्रित है। इस सम्बन्ध में आगे चर्चा की जायेगी।

न्याय सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत शब्द को अनित्य मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक शब्द 'प्राग्पश्चध्वस्तता' के वैशिष्ट्य से परिपूर्ण होते हैं। उदाहरणार्थ कमल शब्द में 'क' के उच्चारण में ध्वनि उच्चरित होने वाले क्षण के पूर्व अस्तित्वमान-सा आभासित उच्चरित काल एवं उच्चरित काल के बाद अर्थात् भूत, वर्तमान एवं भविष्य की दृष्टि से ध्वस्तता भाव से आक्रान्त रहती है। उच्चारण एवं ध्वस्तता ये दोनों घटनायें क्रमशः घटित होती हैं। इस ध्वस्तता-परिपूर्ण ध्वनि समूह में शक्ति कैसे आती है, इस सम्बन्ध में ये पूर्वानुभव रूप संचित संस्कार को ही आधार मानते हैं। नियत पद का नियत अर्थ संस्कार के उद्बोधन का कार्य करता है। नव्य नैयायिक पुरुष की इच्छा को ही शक्ति के लिये संकेत ग्रह मानते हैं। इनके अनुसार अर्थ बोध के लिए चार तत्त्वों की उपस्थिति अनिवार्य है—

१. आकांक्षा
२. योग्यता
३. सान्निधि
४. तात्पर्य

आकांक्षा—पदस्य पदान्तर व्यतिरेक प्रयुक्तान्वयानुभावकत्वम् आकांक्षा—जहाँ एक पद अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध से (एक पद दूसरे के न रहने पर अर्थ को न प्रकट करे) या अन्वय सम्बन्ध से एक पद दूसरे पद के रहने पर अर्थ को प्रकट करे, वह आकांक्षा है। जैसे 'संज्ञापद' के बाद क्रियापद के न रहने से आकांक्षाहीनता से अर्थ की निष्पत्ति नहीं होगी।

योग्यता—अर्थाबाधोयोग्यता—अर्थात् अर्थ का अबाधित न होना योग्यता है, जैसे 'अग्निना सिंचति' आग से सींचता है, यहाँ अर्थ बाधिक है, अतः यहाँ अर्थ की योग्यता नहीं है।

सन्निधि या समीप्य—पदोच्चारण सामीप्यम्—कालावधि की दृष्टि से उच्चरित ध्वनियों के बीच समीपता का होना नितान्त आवश्यक है। 'घड़ा' शब्द के उच्चारण के एक घंटे बाद 'लाओ' कहने पर शब्द शक्ति नहीं आयेगी।

४. तात्पर्य—तात्पर्य का अर्थ अभिप्राय है। पद अनेक अर्थों से युक्त होते हैं, देश, काल, स्थान, पात्रादि सन्दर्भों में वाक्यार्थ का ग्रहण ही तात्पर्य है।

न्यायवादियों ने पद तथा पदार्थ का नियत सम्बन्ध स्वीकार किया है। इसीलिए 'नियत पद से नियत अर्थ' की अवधारणा का विवेचन नैयायिक स्वीकार करते हैं।

पद एवं पदार्थ के इस नियत सम्बन्ध को संकेत ग्रह द्वारा स्पष्ट किया जाता है। इस संकेत ग्रह के कारण शब्द-शक्ति की उत्पत्ति होती है।

यहाँ पर शक्ति ग्रह के निम्नलिखित साधनों की ओर संकेत किया गया है—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्यव्यवहारतश्च।
वाक्यस्यशेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्यवृद्धाः।

'पद शक्ति' जाति में है, व्यक्ति में अथवा आकृति में नैयायिक मीमांसक तथा सांख्य से भिन्न तीनों में स्वीकार करते हैं—

'शक्तिर्जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तौ'

इसके अनुसार शक्त पद के चार भेद हैं—

१. यौगिक—अवयवार्थ बोधक—पाचक

२. रूढ़—समुदायशक्ति बोधक—घट, पट

३. योगरूढ़—अवयव एवं समुदाय सम्मिलित—पंकज

४. यौगिक रूढ़—जो अवयवार्थ एवं समुदायार्थ का भिन्न-भिन्न बोध कराता है—जैसे 'उत्भित्'—यह अपने अवयव पद से उदभेदनकर्ता तरु (वृक्ष) एवं समुदाय शक्ति से भाग विशेष का बोध कराता है।

नैयायिक शब्द की दो ही शक्तियों को स्वीकार करते हैं—अभिधा तथा लक्षणा। इनके अनुसार अभिधा प्रमुख शक्ति है एवं लक्षणा गौण शक्ति। इन विचारकों ने लक्षणा को भी दो भागों में विभक्त किया है—जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्था। ये व्यंजना नामक शक्ति का अस्तित्व अस्वीकार करते हैं।

मीमांसा—मीमांसकों के अनुसार शब्द अनित्य हैं। शब्द की अनित्यता के लिए इनके द्वारा तीन प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

प्रथम यह कि उच्चरित ध्वनि के विनष्ट हो जाने पर भी संस्कार एवं पूर्वानुभव वासना के रूप में अखंड स्मृति के रूप शब्द बने रहते हैं। उच्चरित ध्वनि की ध्वस्तता से शब्द प्रभावित नहीं होते।

दूसरा तर्क यह है कि शब्द को नित्य मान लेने से वेद वाक्यों का खंडन होगा। वेद वाक्य अनित्य हैं। यदि वेद वाक्य अनित्य हैं और शब्द नित्य हैं तो नित्य शब्दों से अनित्य वाक्य व्यतिरेक दोष से दूषित होगा। शब्द की अनित्यता के विषय में उनका तीसरा तर्क यह है कि यदि उच्चरित ध्वनि नित्य न होती तो किसी शब्द के अनेक बार उच्चारण करने पर उतने ही अनेक भिन्नार्थ निकलते हैं और उतने ही प्रकार के भिन्नानुभव होते किन्तु अनेक बार उच्चरित होकर भी एक शब्द एक ही अर्थ तथा एक ही अनुभव का बोध कराता है। अतः शब्द नित्य है। यही नहीं, उच्चरित शब्द ध्वनि को आविर्भूत न करके उसके स्वरूप को प्रकट करता है। शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है।

मीमांसकों ने इस समस्या पर विशेष विस्तार से चर्चा की है। उनके मतों को चार भागों में विभक्त किया जाता है—

१. अभिहितान्वयवाद
२. अन्विताभिधानवाद
३. निमित्तवाद
४. दीर्घदीर्घतर व्यापार अभिधा

सामान्य रूप से शब्द शक्ति के सम्बन्ध में अभिहितान्वयवाद (कुमारिल भट्ट का मत) एवं अन्विताभिधानवाद (प्रभाकर भट्ट) या गुरुमत दो ही सिद्धान्त प्रमुख हैं। इनके स्वरूप का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

अभिहितान्वयवाद—अभिहित (ज्ञान) का मुख्य आधार पदान्वय है। प्रयुक्त पद अपने (वाच्यार्थ) का बोध सर्वप्रथम कराते हुए आकांक्षा योग्यता, सान्निध्यादि आदि के माध्यम से निहितार्थ का ज्ञान कराते हैं।

अन्विताभिधानवाद—इनके द्वारा अन्वित पदों से ही अभिधान (ज्ञान) होता है। वाक्य के समस्त पद अन्वित होकर प्रत्यक्ष, अनुमान एवं अर्थापत्ति द्वारा बोध के विषय बनते हैं।

संकेत ग्रहण के सन्दर्भ में जाति, व्यक्ति (द्रव्य : वस्तु) एवं आकृति इन तत्त्वों की चर्चा की जाती है। मीमांसक जातिरूप अर्थ में ही पद की शक्ति मानते हैं—

मीमांसकास्तु गवादि पदानां जातिरेव वाच्या न तु व्यक्तिः।

जाति की व्यावहारिक सिद्धि के लिए मीमांसकों ने आक्षेप (अर्थापत्ति) एवं लक्षणा को भी स्वीकार किया है—जिनके सम्बन्ध में आगे चर्चा की जायेगी।

अपोहवाद—आचार्य भामह ने शब्द बोध के सम्बन्ध में बौद्धों के अपोहवाद मत का भी उल्लेख किया है। अपोहवाद वस्तुतः बौद्धों का शब्द सम्बन्धी चिंतन है। इनके अनुसार अर्थबोध के लिए साहचर्य आवश्यक है। 'गाय' के ज्ञान लिए 'बैल' का ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि का ज्ञान सापेक्षिक वस्तुओं की प्रतीत से होता है।[1]

सामान्यतया अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना को शब्द शक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है। व्यंजना का कहीं निषेध करते हुए, कहीं उससे भिन्न और कहीं ध्वनि के रूप में तात्पर्य नामक शक्ति की कल्पना की गई है। आचार्य मम्मट कहते हैं—

स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा।
वाच्यादयस्तर्थाः स्युः तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्॥

अभिधा

इस शक्ति को नैयायिक, मीमांसक वैयाकरण भी आलंकारिकों की भाँति से स्वीकार करते हैं। नैयायिक एवं मीमांसक ज्ञान की शास्त्रीयता स्पष्ट करने के लिए शब्द बोध को प्रमाण के रूप में ग्रहण करते हैं। इसके द्वारा उनका उद्देश्य इस प्रपंचात्मक जगत के ज्ञान समवाय के यथार्थ स्वरूप का विश्लेषण है। वैयाकरणों का उद्देश्य किंचित् भिन्न है। वे लोकार्थ में प्रयुक्त पद समुदाय के भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए अभिधेय पदों को मूलाधार मानकर विवेचन प्रस्तुत करते हैं। काव्यशास्त्रियों ने यद्यपि इसका आधार व्याकरणिक एवं दार्शनिक परम्परा से ही ग्रहण किया है, फिर भी उनका प्रयोजन दोनों से भिन्न है। काव्य में कवि कौशल से उत्पन्न भाषिक वैशिष्ट्य की रचनात्मक अर्थवत्ता इनके विवेचन का केन्द्रीय आधार है। वे इसीलिए भाषा के व्यञ्जित होने वाले बोध के स्थान पर उसमें विन्यस्त कलात्मक भंगिमा के विविध तत्त्वों की रचना, साथ-ही-साथ रचना में प्रयुक्त सामान्य भाषिक स्वरूप को भिन्न हृदयावर्जक अर्थ भंगिमाओं का विवेचन अभिधा आदि शक्तियों के माध्यम से करते हैं।

काव्य का विवेचन करते हुए लगभग सभी आलंकारिकों ने लोक तथा शास्त्र के व्यवहार की भाषा से काव्य भाषा को भिन्न रूप में रखने की चेष्टा की है। शब्दार्थ वैशिष्ट्य ही प्रयोग के स्तर पर भाषा दे काव्यमयता प्रदान कराता है। गुण एवं रीतिवादियों ने भाषिक वैशिष्ट्य के लिए धर्म, वक्रोक्तिवादि कुन्तक

---

१. विशेष अध्ययन के लिए देखिए—ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त —डॉ० भोलाशंकर व्यास

ने कवि व्यापार, ध्वनिवादियों ने वाच्य व्यापार की संज्ञा दी है। भाषिक रचना का प्रायोगिक वैशिष्ट्य यही है। इस प्रकार, काव्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित शब्द शक्ति व्यापार दार्शनिकों तथा वैयाकरणों से भिन्न है। आचार्य भोज ने इसी को नितान्त स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है—

साहित्यं सपरिष्कारं कविना परिकल्पितम्।
भावयन् रसिको लोके सुखमत्यन्तमश्नुते॥
वृत्यादीनां समष्टिस्स्यात् साहित्यं तत्परिष्कृतिः।
शब्दार्थयोः परिष्कारः कविस्तस्य प्रसाधकः॥

'शब्दार्थ परिष्कार' साहित्य का प्रमुख व्यापार है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक काव्य में प्रयुक्त होने वाले पदार्थ के समवेत् वैशिष्ट्य को स्पष्ट करते हुए बताते हैं—

मार्गानुगुण्य सुभगः माधुर्यादि गुणोदयः।
अलंकरण विन्यासः वक्रतातिशयान्वितः॥
वृत्यौचित्य मनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि॥
सा काप्यवस्थितिः तद्विदानंन्दस्पन्दसुन्दरा।
पदादिवाक् परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते॥

अभिधा को परिभाषित करते हुए आचार्य मम्मट ने बताया है—

साक्षात्संकेतितः योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।

जिसके द्वारा शब्द के साक्षात्संकेतित् अर्थ की ज्ञप्ति (प्रतीति, ज्ञान) हो वह अभिधा पदशक्ति है। इससे निष्पन्न होने वाले अर्थ को अभिधेयार्थ कहा जाता है। वाच्यत्व के लिए व्यहार प्रयोजन होने के कारण इसे वाचक भी कहा जाता है और सम्बन्धित अर्थ को वाच्यार्थ की संज्ञा दी जाती है। निर्दिष्ट शब्द का निर्दिष्ट अर्थ और इसका यह स्वरूप शब्द का अर्थानुयायी एवं अर्थ का शब्दानुयायी होना है। लक्षणा तथा व्यञ्जना व्यापार के लिए आधारभूत होने के कारण इसे अग्रिमा पदशक्ति के नाम से भी अभिहित किया गया है। मीमांसक अभिधा को अन्य पदों एवं अर्थों से भिन्न सर्वथा स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं। नैयायिक भी अभिधा का अर्थ ईश्वरेच्छा या मनुष्येच्छा से स्वीकृत वस्तु के लिए अर्थ विशेष के रूप में इसे मान्यता देते हैं। आचार्य अप्पय दीक्षितअभिधा को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

'शक्त्याप्रतिपादकत्वमभिधा' अर्थात्, वस्तु का साक्षात् बोध कराने वाली शक्ति

का नाम ही अभिधा है। प्रतिपादकत्व शब्द के दो अर्थ हैं, प्रथम प्रतिपादक शब्द में निहित धर्म विशेष एवं द्वितीय है, शब्दार्थ बोध का कारण।

'अभिधा' का अपर नाम पदशक्ति भी है। पण्डितराज जगन्नाथ अभिधा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

अर्थ का शब्द के साथ और शब्द का अर्थ के साथ स्थित प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही अभिधा है।

संकेतग्रह एवं अभिधा

किसी पद या शब्द में शक्ति का प्रवेश एवं उसका बोध कैसे होता है, इस सम्बन्ध में भारतीय दर्शन के अन्तर्गत विशेष विस्तार से चर्चा की गई है। न्याय मीमांसा एवं व्याकरण अपने-अपने ढङ्ग से संकेत की स्थिति पर विचार करते हैं। नैयायिक 'नियत पद से नियत अर्थ' की चर्चा करते हैं। नियत पदार्थ का मूल हेतु 'ईश्वरेच्छा' है और सिद्धांत है निरन्तर निर्दिष्ट वस्तु के लिए निर्दिष्ट पद परम्परा का प्रचलन। इसी को 'आजानिक' नाम से पुकारा गया है। किसी-किसी ने इसका नाम नैमित्तिक भी दिया है। इसके अतिरिक्त 'आधुनिक' वर्ग के अन्तर्गत भी अनेक शब्द आते हैं, जो प्रायः पारिभाषिक एवं शास्त्रकारों द्वारा निर्मित है। मीमांसक संकेत का मूलाधार जाति मानते हैं। जाति ही उपादन (मुख्यार्थ की बाधा आदि होने पर) व्यक्ति रूप लक्षणामूलक अर्थ सिद्धि का कारण बनती है। सर्वप्रथम 'गो' पद से जाति का बोध पुनः 'गो-विशेष' का बोध होता है, और इसी प्रकार क्रिया, गुण, व्यक्ति सभी का ज्ञान इसके साथ जुड़ता जाता है। आचार्य मण्डन मिश्र 'अनुकमणी' के अन्तर्गत इस 'जाति' को नित्य शब्द मानते हैं। वैयाकरणों का मत इस दिशा में पूर्णतया भिन्न है। उनके अनुसार उपाधि जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा (व्यक्ति) सम्मिलित रूप से शब्द बोध एवं शक्ति के कारण बनते हैं। पतंजलि ने गाय चलता हुआ, सफेद डित्थ, के उदाहरण के द्वारा उपाधि को संकेत शक्ति का कारण माना है। अपोह-वाद बौद्धों के विषय में आचार्य भामह ने बताया है कि यहाँ निषेध (अपोह) को अर्थशक्ति का कारण माना गया है। 'राम जा रहा है' का स्पष्ट अर्थ उनके अनुसार 'श्यामादि नहीं' है आदि से 'राम' का और खा नहीं रहा है आदि से जा रहा है का बोध होता है। भारतीय काव्यशास्त्र का प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्याकरणशास्त्र से रहा है, अतः यहाँ भी रचनात्मक अर्थ का सम्बन्ध उपाधि से जोड़ा जाता है प्रायः सभी सम्प्रदायों में रचना के निमित्त 'औपाधिक' अर्थ को ही ग्रहण किया गया है। जाति से भिन्न गुण, क्रिया, यदृच्छा आदि को नित्य एवं एक रूप माना

गया है । आचार्य मम्मट बताते हैं—

"गुण क्रियायदृच्छाना वस्तुतः एकरूपाणामप्याश्रय भेदाद् भेद एव लक्ष्यते"

ये एक रूप ही हैं किन्तु आश्रयभेद से इनमें भेद प्रतीत होता है, अन्यथा अभेद ही है । 'यदृच्छा' का सम्बन्ध व्यवहार से है । वैखरी वाणी के रूप में स्फुट होकर यह 'स्फोट' को स्पष्ट करती है । लोक व्यवहार का आधार मुखरित होने वाली वाणी ही है ।

संकेत ग्रह के साधन

पद विशेष का किस पदार्थ के लिए प्रयोग हो रहा है, यह एक व्यावहारिक समस्या है । लोकशास्त्र एवं काव्य के अन्तर्गत पद में निहित अर्थशक्ति का ही विशिष्ट उपयोग बोध व्यापार के निमित्त किया जाता है । इस बोध व्यापार का सम्यक् ज्ञान कराने के लिए न्यायादि दर्शन सिद्धांतों के अन्तर्गत आठ साधनों का प्रयोग किया है । काव्यशास्त्र में भी उनका उपयोग किया जाता है—

शक्तिग्रहम् व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्यव्यवहारतश्च ।
वाक्यस्यशेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपस्य वृद्धाः ।।

कभी-कभी संकेत ग्रह ग्रहण करने में 'पर्यायवाची' शब्दों आदि के कारण विभ्रम उठ खड़ा होता है, ऐसी स्थिति में संकेत ग्रह कैसे कराया जाए, इस समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए इसके १४ प्रमुख तथा अन्य सहायक तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यम् विरोधिता ।
अर्थ प्रकरणं लिगं शब्दस्यान्यस्यसन्निधिः ।।
सामर्थमौचिती देशः कालोव्यक्ति स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः ।। (भर्तृहरि)

अभिधा के भेद

नैयायिकों ने अभिधा को चार भागों में विभक्त किया है—

१. यौगिक
२. रूढ़
३. योग रूढ़
४. यौगिक रूढ़

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में केवल प्रारम्भिक तीन ही शक्तियों की चर्चा की गई है। यौगिक रूढ़ की चर्चा नहीं मिलती।

अभिधा के भेद निरूपण के लिए 'अवयव' एवं 'समुदाय' शक्ति का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।

यौगिक शब्द अवयवार्थ बोधक होते हैं। जैसे, 'पाचक' इसमें पाच+क से सिद्ध शब्द केवल अवयय (अंग) का बोध करा रहा है। इन शब्दों से खण्डित अर्थ का बोध होता है।

रूढ़ शब्द समुदाय वाचक होता है, जैसे घट पट आदि। यहाँ इन शब्दों से अखण्ड अर्थ का बोध होता है।

योगरूढ़—अवयव शक्ति से निर्मित होकर भी जो अखण्ड पद का बोध कराता है, वह योग रूढ़ है, जैसे 'पंकज' अर्थात् कमल।

यौगिक रूढ़—जो पद अवयवार्थ एवं समुदायार्थ का भिन्न-भिन्न रूप से बोध कराता है, वह यौगिक रूढ़ होगा। उदाहरणार्थ—'अश्वगंधा' शब्द। ओषध के अर्थ में यह रूढ़ है किन्तु घुड़साल के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होकर यह शब्द 'अश्व+गंध' का वाचक बनकर अवयव शक्ति का बोध कराएगा। शाब्दी व्यंजना के प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक अर्थों में इसकी स्थिति देखी जा सकती है।

लक्षणा

'लक्षणा' शक्ति को नैयायिकों एवं मीमांसकों ने स्थान दिया है। इन दोनों के अनुसार 'अभिधा' प्रमुख शक्ति है, किन्तु कभी-कभी अनेक ऐसे वैदिक वाक्य हैं, जिनकी लोकात्मक संगति सिद्ध नहीं हो पाती और वेद वाक्य होने के कारण उन वाक्यों की सत्ता पर अविश्वास नहीं किया जा सकता, ऐसी स्थिति में शब्दादि में निहित अर्थाक्षेप को जिस शक्ति द्वारा समाप्त किया जा सकता है, वह लक्षणा है। लक्षणा शक्ति उनके अनुसार प्रमुख न होकर एक सामान्य शक्ति है। मीमांसक इसे 'गौणीवृत्ति' (अमुख्य वृत्ति) के नाम से पुकारते हैं।

जातिशब्दोऽन्तरेणापि जातिं यत्र प्रयुज्यते।
सम्बन्धिसदृशाद्धर्मात् तं गौणमपरे विदुः॥

'जाति' शब्द से रहित के लिए भी जाति शब्द का प्रयोग किया जाता है, उनमें (जाति में) निहित सम्बन्धित सादृश्य या धर्म की स्थिति के कारण अन्य उसे 'गौण' नाम से पुकारते हैं।

लक्षणा का अर्थ—जैसा कि कहा जा चुका है, लक्षणा शब्द के लिए गुण वृत्ति, भक्ति, उपचार नामों का उल्लेख परम्परा में मिलता है। आचार्य अभिनव-

गुप्त ने आनन्दवर्धन के 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' पद की व्याख्या करते हुए बताया है कि 'भक्तिर्हि लक्षणा व्यापारः' अर्थात् 'भक्ति' का तात्पर्य लक्षणा व्यापार से है। भक्ति की व्युत्पत्ति बताते समय उन्होंने उसके चार तत्त्वों का उल्लेख किया है—

(१) मुख्यार्थ
(२) वाचक एवं लक्षक का सम्बन्ध
(३) लक्ष्यगत धर्म
(४) उन धर्मों की प्रतीति में श्रद्धातिशयता या प्रयोजनपरकता

१. मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिः अर्थात् मुख्यार्थ का भंग होना।
२. भज्यते, सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रक्ष्यते इति भक्ति धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः अर्थात् लक्ष्यार्थ की प्रतीति के लिए समीप्यादि (सेवन से लक्षित) का बोध।
३. गुण समुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्षणादिः भक्तिः—गौणीवृत्ति के अंतर्गत तैक्ष्ण्यादि गुण।
४. भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्य तैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत् आगतो भक्तिः अर्थात् तैक्ष्णादि विषय में श्रद्धातिशयित अर्थ को प्रयोजन रूप में स्वीकार करना।

'गुण वृत्ति' शब्द को स्पष्ट करते हुए लोचनकार अभिनवगुप्त ने बताया है—

१. गुण सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादश्च: तैरुपायैवृत्तिरर्थान्तरे यस्य शब्दस्य यत्र च गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा। गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः।
२. मुख्यत्वे वाचकत्व, अन्यथा गुणवृत्तिः। गुणो निमित्तं सादृश्यादि तद्द्वारिका वृत्तिः शब्दस्य व्यापारो गुणवृत्तिरिति भावः।
३. गुणतया वृत्तिव्यापारो गुणवृत्तिः गुणेन निमित्तेन सादृश्यादिना च वृत्तिः अर्थान्तर विषयेऽपि शब्दस्य समानाधिकरण्यम्॥

शब्द, अर्थ एवं अभिधा तीनों में गुण वृत्ति व्यापार को स्वीकार किया जा सकता है।

उपचार—'उपचार' को भी लक्षणा का ही अर्थ देते हुए लोचनकार ने बताया है कि 'उपचार मात्रं तु भक्तिः' या उपचारो गुणवृत्तिः लक्षणा'। उपचार को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'उपचरणमतिशयितो व्यवहारः'। मूलतः वक्रोतिकार कुन्तक ने 'उपचारवक्रता' के रूप में जिस उपचार वैशिष्ट्य का

उल्लेख किया हैं, वही इसका आधार है। लोक प्रसिद्ध व्यवहार का अतिक्रमण करके अन्य व्यापार के रूप में आरोपण ही उपचार है।

लक्षणा शब्द का प्रयोग वामन में मिलता है—

सादृश्य लक्षणावक्रोक्तिः अर्थात् सादृश्य से लक्षणा वक्रोक्ति है। वे पुनः कहते हैं—

'बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्। तत्र सादृश्याल्लक्षणावक्रोक्तिर-साविति।

अर्थात्, लक्षणा को सिद्ध करने के अनेक कारण है, फिर भी, उनमें से सादृश्य से की गई लक्षणा ही वक्रोक्ति है।

यही नहीं, अन्त में वे पुनः स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

'असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः

यथा—

'जरठकमलकन्दच्छेदगौरेमयूखै' अत्रच्छेदः सामीप्याद् द्रव्यम् लक्ष्यति। तस्यैव गोरत्वोपत्तेः'

इस विवेचन से स्पष्ट है कि केवल 'गुणसम्बन्ध (सादृश्य) के कारण ही वकोति सम्भव है, साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि लक्षणा के अन्य स्वरूप भेद भी हैं, जिनका सम्बन्ध सादृश्य से नहीं है। लक्षणा के पांच अर्थ सन्दर्भों की मान्यता इनके द्वारा इंगित हैं—

अभिधियेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पंचधामताः ॥

एक दूसरे स्थान पर आचार्य वामन पुनः स्पष्ट करते हुए इस सम्बन्ध में दूसरा सूत्र देते हैं—

'लक्षणाशब्दाश्च' ५।१।१५

लक्षणाशब्दाश्चातिप्रयुक्ताः प्रयोज्याः। यथा—'द्विरेफरोदर' शब्दौ भ्रमर-चक्रवाकार्थौ लक्षणापरौ। अनाति प्रयुक्ताश्च न प्रयोज्याः यथा द्विकः काक इति।

अर्थात्, ऐसे लक्षणा शब्दों का प्रयोग जिनका प्राचुर्य हो, गर्हित नहीं माना जाता। यथा—द्विरेफ, रोदर ये शब्द भ्रमर एवं चक्रवाक के लिए स्वीकृत हैं परन्तु अनतिप्रयुक्त लक्षणाशब्द प्रयोगवर्जित हैं, यथा द्विक काक के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है।

वे पुनः बताते हैं—

न तद्बाहुल्यमेकत्र। ५।१।१६

तेषां लक्षणाशब्दानां बाहुल्यमेकस्मिन् वाक्ये न प्रयोज्यम् ।
शक्यते ह्येकस्यावाचकस्य वाचकवद्भावः कर्त्तुं न बहूनामिति ।

परन्तु अनेक लक्षणा शब्दों का प्रयोग एक वाक्य में नहीं करना चाहिए । एकाध का वाचकवद् भाव से प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु बहुत का नहीं ।

अभिनवगुप्त ध्वन्यालोकलोचन के अन्तर्गत आनन्दवर्धन के वाक्य—तथापि गुणवृत्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टः" को स्पष्ट करते हुए बताते हैं—'भट्टोद्भटे वभाषे—शब्दानां अभिधानम् अभिधाव्यापारः मुख्यो गुणवृत्तिश्च

इस प्रकार 'लक्ष्यार्थ' की काव्यगत मान्यता का उल्लेख आचार्य उद्भट में भी प्राप्त होता है । वे रूपक के सम्बन्ध में 'गुणवृत्ति' की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

श्रुत्यासम्बन्धविरहाद् यत्पदेन पदान्तरम् ।
गुणवृत्ति प्रधानेन युज्यते रुपकं तु तत् ।।

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में कई स्थानों पर 'गुणवृत्ति' शब्द से उत्पन्न होने वाले चारुत्व की चर्चा की है—

समाधि गुण

'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादिगौणवृत्तिव्यपश्रयात्'

हेत्वालंकार

तेऽमी प्रयोग मार्गेषु गौणवृत्तिव्यापाश्रया ।
अत्यन्तसुन्दराद्दष्टाः तदुदाहृतयो यथा ।।

नैयायिक एवं मीमांसक लक्षणा को अपने ढंग से परिभाषित करते हैं । नैयायिक बताते हैं—जहाँ वक्ता का तात्पर्य अनुपपन्न (असिद्धवाच्यार्थबाधित) अर्थ का बोध कराना हो, वहाँ लक्षणा या गुणवृत्ति होती है । मीमांसक कुमारिल भट्ट बताते हैं कि

अभिधेया विनाभाव प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाण गुणैर्योगात् वृत्तरिष्टा तु गौणता ।।

"लक्षणा में मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ में अविनाभाव की प्रतीति होती है । जिस लक्षणा में लक्षित होते हुए गुणों का योग होता है, वहाँ गौणी-वृत्ति होती है ।"

नैयायिक एवं मीमांसक अभिधा को ही मुख्य शक्ति मानते हैं। किसी-विशेष स्थिति में प्रयोजनवशात् लक्षणा या 'गुणवृत्ति' का उपयोग किया जा सकता है, किन्तु यह अमुख्य शक्ति है। साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत आचार्य मुकुलभट्ट नैयायिक अभिधावृत्तिमातृका ग्रन्थ में लक्षणा का विवेचन अभिधावृत्ति के अंतर्गत ही करते हैं। वे इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं—

शब्दव्यापरतो यस्य प्रतीतिः तस्य मुख्यता।
अर्थावसेयस्य पुनः लक्ष्यमाणत्वमुच्यते ॥

जिस शब्द से अर्थ की स्पष्ट सीधी प्रतीति होती है, वह मुख्य अर्थ कहलाता है और जो अर्थ के द्वारा समझा जाता है (अर्थात् जिसे समझने के लिए मुख्यार्थ माध्यम बन जाता है) उसे लक्षणा कहा जाता है।

'यस्य तु शब्द व्यापारावगम्यमानार्थ पर्यालोचनया अवगतिः यस्य लाक्षणिकत्वम्।'

मीमांसक व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट लक्षणा का अस्तित्व नहीं मानते। उनके अनुसार अभिधा में ही अनुमान सम्बन्ध (गम्यगमक) से पद की निकलने वाली लाक्षणिक शक्ति की अभिधापरक व्याख्या की जानी चाहिए—

तस्माद् व्युत्पत्तिशक्तिभ्यां निबन्धो यः स्खलद्गते।
शब्दस्य सोऽपि विज्ञेयोऽनुमानविषयोऽन्यवत् ॥१।६६

इसीलिए क्षीण अभिधावाले शब्द की व्युत्पत्ति और शक्ति का प्रयोग दूसरों के ही समान अनुमान का विषय जानना चाहिए।

व्याकरण समर्थक ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट लक्षणा की विशेष विस्तारपूर्वक चर्चा करते हैं। आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त की व्याख्या पूर्व निर्दिष्ट की जा चुकी है। आचार्य मम्मट के काल तक लक्षणा को विधिवत् व्यवस्था मिल चुकी थी। वे इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥

मुख्यार्थ की बाधा के कारण (उस बाधा के फलस्वरूप) अन्य के साथ उसके रूढ़िवश या प्रयोजनवश योग (सम्बन्ध) होने पर जहाँ उस वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ का बोध हो, वह लक्षणा है। इसमें तीन तत्त्वों की ओर संकेत किया गया है—

१. मुख्यार्थ की बाधा
२. अन्य अर्थ (लक्ष्यार्थ) का उससे सम्बन्धित होना
३. इस व्यापार का रूढ़िवशात् या प्रयोजनवशात घटित होना। इस प्रक्रिया

से घटित होने वाला अर्थ लक्षणा है। इस प्रकार लक्षणा का सम्बन्ध शब्द व्यापार से न होकर अर्थ व्यापार से है।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ प्रायः मम्मट की ही परिभाषा को दुहराते हैं—

मुख्यार्थबाधेतद्युक्तौ ययान्योर्थः प्रतीयते।
रूढेप्रयोजनाद्वसौ लक्षणाशक्तिरर्पिता ॥

अप्पयदीक्षित लक्षणा को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

'सा च मुख्यार्थसम्बन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वम्'

इन सम्पूर्ण परिभाषाओं में मम्मट द्वारा निर्दिष्ट तत्त्वों का ही पुनराख्यान मिलता है।

लक्षणा के भेद

वैयाकरण, मीमांसक एवं नैयायिक लक्षणा की गुणवृत्ति के समर्थक थे, अतः गुण का सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण गौणी लक्षणा की स्थिति आई। इसके अतिरिक्त आलंकारिकों में वामनादि ने 'लक्षणाशब्दाश्च' की कारिका में रूढ़ा की चर्चा की। 'द्विरेक' एवं 'रोदर' शब्द रूढ़ा लक्षणा के ही रूप हैं। सादृश्य के अतिरिक्त अन्य शुद्ध सम्बन्धों के आधार पर भी लक्षणा के स्वरूप की चर्चा 'शुद्धा' लक्षणा के रूप में की गई—

"अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः
वैपरीत्यात् क्रियायोगालक्षणा पंचधामता।"

समवाय, वैपरीत्य, क्रियायोग आधेयाधार, तात्कर्म्य, अङ्गागि, स्वामिभृत्यादि कितने सम्बन्ध हैं, जिनमें सादृश्य नहीं मिलता। यही नहीं, नैयायिकों ने जहल्लक्षणा और अजहल्लक्षणा की कल्पना बहुत पहले की थी। 'सरोपा' एवं 'साध्यावसना' लक्षणा के ये दो भेद नये हैं—'साधर्म्य' एवं 'अध्यवसान' दोनों प्रक्रियाओं में भिन्नता निरूपित करने के बाद इन्हें निश्चित किया गया होगा। अप्पय दीक्षित 'जहदजहल्लक्षा' के नाम से एक अन्य नवीन भेद कल्पित करते हैं। यही नहीं, परवर्ती आचार्यों ने प्रयोजनवती लक्षणा के 'गूढ़व्यंग्या तथा अगूढ़-व्यंग्या जैसे भेदों की भी परिकल्पना की।

सामान्यतया लक्षणा के भेद इस प्रकार हैं—
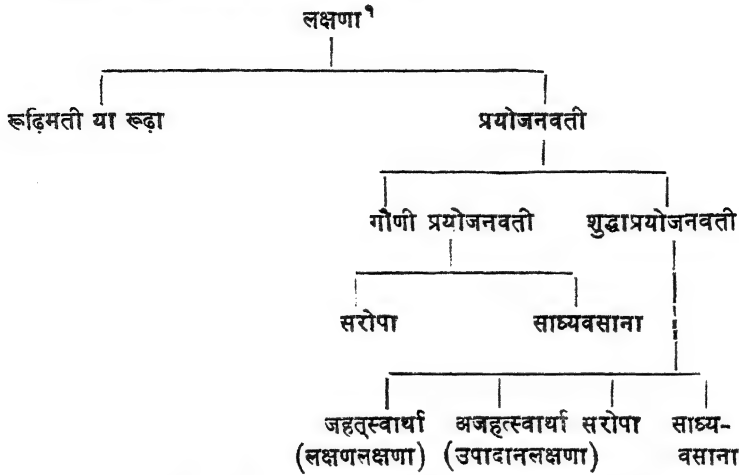
लक्षणा सम्बन्धी मतों को ध्यानपूर्वक देखने पर काव्यशास्त्रियों के तीन प्रकार के दृष्टिकोण प्रकाश में आते हैं—

१. प्रथम वह जो इसको आंशिक रूप में स्वीकार करते हैं या इसे अभिधा का ही—आनुमानिक स्वरूप मानते हैं। इस सम्बन्ध में मुकुल भट्ट एवं महिम भट्ट के मतों की ओर संकेत किया जा चुका है।

२. दूसरा मत ध्वनिवादियों का है, जो इसे अपने में स्वतन्त्र एवं साध्य नहीं मानते। उनके अनुसार लक्षणा का अन्तर्भाव ध्वनि या व्यंजना में होता है। मम्मट ने काव्य प्रकाश के पंचम अध्याय के उत्तरार्ध में इस पर विशेष विस्तार से चर्चा की है।

३. तीसरा मत आलंकारिक आचार्यों का है। यद्यपि इस सम्बन्ध में नितान्त स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलता फिर भी इस निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए कई साधन हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' पद का प्रयोग करते हैं। इसका अर्थ है—अन्य विद्वान उसको (ध्वनि को) भक्ति (लक्षणा) रूप मानते हैं। 'भाक्त' कौन थे, आचार्य आनन्दवर्धन ने इस ओर कोई संकेत नहीं किया है। डॉ० भोलाशंकर व्यास इस सन्दर्भ में बताते हैं "ध्वनिकार की कारिका तथा वृत्ति से यह ज्ञात नहीं होता कि इस मत के मानने वाले लोगों में कौन थे।"[2] उन्होंने 'आनन्दवर्धन' के परवर्ती मुकुलभट्ट

---

१. इनके विशेष परिचय के लिए देखिए—लेखक कृत—'काव्यांग परिचय'

२. ध्वनिसम्प्रदाय और उसके भेद, भाग१, पृष्ठ २७६

एवं 'कुन्तक' के नामों का उल्लेख करते हुए उनकी परम्परा की सम्भावना व्यक्त की है।

लक्षणावाद के समर्थक मूलतः भामह, दण्डी, वामन उद्भट्ट आदि आलंकारिक ही थे, जो रचना से निष्पन्न आह्लादक चमत्कार को उसका मूल प्राण स्वीकार करते हैं। ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है कि उद्भट रूपक, दण्डी समाधि गुण एवं हेत्वालंकार, वामन वक्रोक्ति अलंकार एवं शब्द शुद्धि में लक्षणा का सन्दर्भ स्वीकार करते हैं। 'भामह द्वारा निर्दिष्ट अलंकार की मूलात्मा में में निहित 'शब्दार्थ वक्रोक्ति' लक्षणा का इतर पर्यार्य है। आचार्य वामन की निम्नलिखित व्याख्या से स्पष्ट है कि वक्रोक्ति अलंकार में गुणवृत्ति या सादृश्य है—अन्य लक्षणाएँ भी असादृश्य से भिन्न होती हैं—

"बहूनि हि निबन्धानि लक्षणायाम्, तत्र सादृश्यलक्षणा वक्रोक्तिरसाविति असादृश्य निबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः"

ध्वनिवादियों द्वारा अलंकार प्रपंच को महत्त्वहीन सिद्ध कर दिए जाने के बाद आचार्य कुन्तक ने पुनः अलंकार रचना के सन्दर्भों को वक्रोक्ति के इतर नाम से प्रतिष्ठित किया। वक्रोक्ति सिद्धान्त अलंकार सिद्धान्त का ही प्रच्छन्न रूप है।

सामान्य रूप से सम्पूर्ण अर्थालंकार का प्रपंच 'लक्षणा' में अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। सादृश्य या साधर्म्यमूलक अलंकार किसी-न-किसी रूप में गौणी लक्षणा में समाविष्ट हो जाते हैं। आचार्य वामन एवं रुय्यक सादृश्य व्यापार को अलंकार प्रपंच का मूल हेतू मानते हैं। विरोधमूलक अलंकार जिनमें (कार्य-कारण-समवाय, तात्कर्म्य, आधेयाधार) आदि सम्बन्धों का निर्देश है, उन्हें 'शुद्धाप्रयोजनवती' लक्षणा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। शृंखलाबद्ध अलंकार भी जिस हेतु से प्रेरित हों (अर्थात् गुण या शुद्ध सम्बन्ध) उन्हीं के आधार पर उन्हें भी वर्गबद्ध किया जा सकता है। न्यायमूलक, तथा गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकारों को उनके स्वभावानुसार—गुण सम्बन्ध, शुद्ध सम्बन्ध, स्वार्थ का परित्याग या अपनी सिद्धि के लिए अन्य अर्थों का ग्रहण इनके अनुरूप बिना किसी स्वाभाविक विरोध के सहजतापूर्वक रखा जा सकता है। लक्षणा व्यापार के कुल चार अर्थ-रचनात्मक रूप दृष्टिगत होते हैं—

१. सादृश्य या साधर्म्य सम्बन्ध के द्वारा अर्थ रचना
२. सादृश्य से भिन्न सन्दर्भों के आधार पर अर्थरचना
३. वैचित्र्ययुक्त ऐसे शब्दार्थ जो अर्थ रचना की चामत्कारिक सृष्टि के लिए अपने अभिधेय अर्थ का परित्याग कर देते हों।

४. वैचित्र्ययुक्त ऐसे शब्दार्थ जो अर्थ रचना की चामत्कारिक सृष्टि के अन्य अर्थों को अपने में आत्मभूत करते हों।

अर्थालंकार का सम्पूर्ण प्रपंच इन व्यापारों के अन्तर्गत आ जाता है, अतः लक्षणावादी 'आह्लादक चमत्कार' को ही काव्य का मूल प्रयोजन मानते हैं।

इस 'मूलप्रयोजन' को ध्वनिवादी 'व्यंग्य' के रूप में ग्रहण करते हैं किन्तु अलंकारवादी इस 'अन्तश्चमत्कार' से व्यंग्य का समझौता नहीं करता। कुन्तक एवं अन्य इसके सबसे बड़े साक्ष्य हैं। आगे चलकर, लक्षणा रूप चमत्कृति के मूलाधार रूप 'वस्तु' तथा 'अलंकार ध्वनि' को अभिनव गुप्त 'काव्यात्मा' मानने से अस्वीकार करते हैं।

व्यंजना

'व्यंजना' शब्द मूलतः अजि (अञ्ज्) धातु से बना है, जिसके अर्थ हैं; स्फुट होना, प्रकट होना, शोभित होना आदि। सम्भवतया यह विशेष रूप से स्फुट या प्रकट होने के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। ध्वन्यालोकलोचन के अन्तर्गत इसे स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं—

> "तस्मात् अभिधातात्पर्यलक्षणा व्यतिरिक्तः चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यंजनप्रत्यायनावगमनादि सोदर व्यपदेश निरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः"

"इसलिए अभिधा, तात्पर्य एवं लक्षणा से भिन्न चतुर्थ व्यापार ध्वनन, द्योतन, व्यंजन, प्रत्यायन, अवगमन आदि नामों से किसी एक को स्वीकार करना चाहिए।"

इस प्रकार, अभिनव गुप्त के अनुसार व्यंजना व्यापार मीमांसकों की अभिधा तथा लक्षणा एवं नैयायिकों के तात्पर्य वृत्ति से भिन्न काव्य की एक पृथक् शक्ति है, जिसके ध्वनन, द्योतन, प्रत्यायन, अवगमन एवं व्यंजन आदि नाम हो सकते हैं, जिनमें अंजन, 'व्यंजन' या 'व्यंजना' शब्द प्रयोग में स्वीकार किया गया।

'अञ्ज्' धातु से निष्पन्न स्फुट होने के अर्थ में 'व्यंग्य-व्यंजक' पद का प्रयोग व्याकरणशास्त्र में मिलता है। भर्तृहरि 'वाक्य-पदीय' के अन्तर्गत 'नाद' एवं 'स्फोट' के बीच स्थित व्यंग्य व्यंजक भाव का उल्लेख करते हैं—

> ग्रहणग्राह्योः सिद्धा नियतयोग्यता यथा।
> व्यंग्य-व्यंजकभावेन तथैव स्फोटनादयो ॥

स्फोट व्यंग्य है एवं नाद अभिव्यंजक।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत विभावानुभावादि से अभिव्यंजित होकर अभिनिष्पन्न (अभिव्यक्त) होने वाले रस का उल्लेख किया है—

काव्यार्थसंश्रितैर्विभावानुभाव व्यंजितैः ।
एकोनपंचाशद्भावै अभिनिष्पद्यन्ते रसाः ।।

दण्डी ने काव्यादर्श के अन्तर्गत 'भलीभाँति व्यक्त होने' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है—

पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्रम्युदयगौरवम् ।
सुव्यंजितमिति प्रोक्तमुदात्त द्वयमप्यदः ।।

आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यंजना शब्द के अनेक रूपों यथा-व्यंग्य, अभिव्यंग्य, व्यंग्यत्व, व्यंजना, शब्द व्यंजकत्व, अर्थ व्यंजकत्व आदि का अनेकशः प्रयोग ध्वन्यालोक के अन्तर्गत किया है । वस्तुतः 'व्यंजना' शब्द के वर्तमान अर्थ को अभिपुष्ट कराने तथा अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य से भिन्न शक्ति निरूपित किए जाने की सैद्धान्तिक आधारभूमि उन्होंने ही तैयार की थी । एक स्थल पर वे बताते हैं—

"इतश्च वाचकत्वात् व्यंजकत्वस्यान्यत्वं शब्दैकाश्रयमितरस्तु शब्दाश्रयमर्थाश्रयं च शब्दार्थयोरपि व्यंजकत्वमसि प्रतिपादकत्वात्"

आनन्दवर्धन 'ध्वनि अर्थात् व्यंग्यार्थ की सिद्धि के लिए ही अभिधा एवं भक्ति मत की आलोचना करते हुए निर्भ्रान्त रूप में इसकी सत्ता स्थापित करते हैं । 'व्यंग्य को व्यक्त करने वाली 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' से भिन्न इस तृतीय शक्ति का बीज ध्वन्यालोक में ही मिलता है । 'व्यक्तः' शब्द से व्यंजना व्यापार की ओर संकेत है । आचार्य अभिनव गुप्त ने 'लोचन' के अन्तर्गत इसे एक भिन्न शब्दशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया और तात्पर्यादि से भिन्न माना ।

ध्वनि सिद्धान्त के लिए प्राणभूत व्यंजना शब्द आचार्य महिमभट्ट द्वारा विवेचित होकर अनुमान के गम्यगमक सिद्धान्त से स्पष्ट किया गया—

प्राणभूताध्वनेर्व्यक्तिरिति सैव विवेचिता ।
यत्वन्यत् तत्र विमतिः प्रायो नास्तीत्युपेक्षितम् ।।

आचार्य मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' के पंचम अध्याय के उत्तरार्ध में अनुमान, तात्पर्य, लक्षणा आदि के अन्तर्गत व्यंजना को अन्तर्भूत करने वालों का खुलकर दृढ़भाव से खण्डन किया और इस प्रकार व्यंजना शब्दशक्ति की निर्भ्रान्त स्थापना साहित्यशास्त्र में हुई ।

व्यंजना का अर्थ

सामान्यरूप से व्यंजना की परिभाषाएँ भावात्मक नहीं मिलती हैं। अभिधा एवं लक्षणा-शक्ति अपनी प्रभावात्मक क्षमता व्यक्त करके जहाँ शान्त हो जाएँ, फिर भी, अर्थबोध स्पष्ट न हो, वहाँ तीसरी शक्ति का आश्रय ग्रहण करके इसे स्पष्ट करना पड़ता है, इसी शक्ति का नाम व्यजना है। मुख्यत: व्यंजना शक्ति को सर्वप्रथम वैयाकरणों ने ग्रहण किया—और इन्होंने इसका आधार सहृदय का संस्कार बताया। घट प्रदीप न्याय से 'घट' शाश्वत् तत्त्व है, और दीप का आलोक शब्दार्थ रूप नित्य तत्त्व को केवल प्रदर्शित मात्र करता है। आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—

"एवं पदार्थवाक्यार्थन्यायं तात्पर्यशक्तिसाधकं प्रकृत विषये निराकृत्यअभिमतां प्रकाशशक्ति साधयितुं तदुचितं प्रदीप घट न्यायं प्रकृते योजयन्नाह।"

इसी प्रकार व्यंग्यार्थ का मूल हेतु कवि की प्रतिभा है। सहृदय के हृदय में संचित स्फोट वाक्य को ध्वनि श्रूयमाण होकर व्यक्त करतो है। ध्वनि और व्यंजना की उत्पत्ति प्रक्रिया एक ही प्रकार से है। भर्तृहरि बताते हैं—

वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोटं च पदवाक्ययोः।
व्यंजन्ति व्यंजकत्वेन यथा दीपप्रभादयः।

सहृदय के हृदय में स्थित घट रूप पद वाक्यार्थ का आलोक अभिधा, लक्षणा से होता हुआ व्यंजना तक पहुँचता है।

व्यंजना को परिभाषित करते हुए आचार्य मम्मट ने बताया है—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फलेशब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया॥
नाभिधा समया भावात् हेत्वभावान्न लक्षणा।

इसकी प्रतीति कराने के लिए लाक्षणिक शब्द का आश्रय लिया जाता है। शब्द से केवल गम्य (ज्ञाप्य) उस (फल) के विषय में व्यंजना के अतिरिक्त शब्द का कोई व्यापार नहीं हो सकता। संकेतग्रह न होने से वह अभिधा भी नहीं है और मुख्यार्थ बाधादि हेतु त्रय के अभाव में वह लक्षणा भो नहीं है। इस प्रकार वह दोनों से भिन्न व्यंजना नामक व्यापार है। साहित्यदर्पणकार पण्डितराज जगन्नाथ बताते हैं—

विरतस्वभिधाद्यासु ययार्थो लक्ष्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥

अभिधा आदि शक्तियों के विरत हो जाने पर जिससे (तीसरी शक्ति से) अन्य अर्थ का बोध होता है, उसे व्यंजना कहते हैं।

नागेशभट्ट के अनुसार व्यंजना की परिभाषा इस प्रकार है—

"मुख्यार्थ सम्बद्धासम्बद्धसाधारणमुख्यार्थबाधग्रहादिप्रयोज्य प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थ विषयकधी जनकत्वं व्यंजना"

किसी प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध अर्थ के सन्दर्भ में उस ज्ञान से उत्पन्न कराने वाली वृत्ति का नाम अभिधा है जो ज्ञान मुख्य अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले और सम्बन्ध न रखने वाले दोनों अर्थों को समान रूप से समझा सके, जिसमें मुख्यार्थ का बाधित होना आदि नियंत्रित न हो, उसे व्यंजना कहते हैं। अप्पय दीक्षित ने भी व्यंजना की इसी परिभाषा को स्वीकार किया है।

व्यंजना व्यापार को अभिधा एवं लक्षणावादियों का विरोध सहन करना पड़ा था। अभिधावादी मीमांसक व्यंजना व्यापार को नहीं मानते, किंचित् सीमा तक वे केवल लक्षणा को ही मानते हैं। यही स्थिति, नैयायिकों की भी है, वे भी व्यंजना व्यापार का अस्तित्व नहीं मानते। ध्वनि के समर्थक आचार्य एवं वैयाकरण अभिधा एवं लक्षणा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी एक अन्य अर्थ शक्ति की कल्पना करते हैं, जो अभिधा एवं लक्षणा व्यापार से भिन्न है। यहाँ भिन्नता 'अशक्य' होने के अर्थ में है। अनेक ऐसे अर्थ हैं, जिनको लक्षणा तथा अभिधा व्यक्त कर सकने में असमर्थ हैं। यही नहीं, उस विशिष्ट अर्थों को व्यक्त करने में दोनों प्रयोजनों का सहयोग भी मिलता है। आचार्य मम्मट ने व्यंजना की प्रकृति को अभिधा एवं लक्षणा से भिन्न सिद्ध करते हुए स्पष्ट रूप से बताया है—

'नाभिधा समयाभावत् हेत्वभावान्न लक्षणा'

'व्याकरण, उपमान, आप्तवाक्यादि' संकेतग्रह के साधनों के अभाव में वह अभिधा भी नहीं है और—मुख्यार्थबाध, अन्यार्थ योगादि के कारण वह लक्षणा भी नहीं है, अतः व्यंजना शक्ति निरवकाश रूप से सिद्ध है। यही नहीं, यदि दूसरी दृष्टि से विचार किया जाय तो अभिधा जहाँ अपनी शक्ति व्यक्त करके क्षीण हो जाए और लक्षणा भी, फिर भी, अर्थ गम्य न हो, वहाँ इन से भिन्न एक तीसरी शक्ति का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है, वह व्यंजना है। इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थिति भी है। 'अभिधा' एवं 'लक्षणा' अपनी निहित अर्थ शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ तक पाठक के मन को पहुँचा कर शान्त हो जाते हैं। 'अभिधा' एवं 'लक्षणा' साधन या प्रयोजन के रूप में व्यंजना को अर्थकक्षा तक पाठक के मन को छोड़ आते हैं, उसके पश्चात् साध्य रूप व्यंजित अर्थ की निष्पत्ति उस अर्थ कक्षा के आगे करानी पड़ती है। अभिधा एवं लक्षणा इस प्रकार उस व्यंग्यार्थ को सिद्ध करने के लिए साधन मात्र हैं।—आचार्य मम्मट 'लक्षणा समु-

पास्यते' पदों का प्रयोग इसी सन्दर्भ में करते हैं। वस्तुतः 'अभिधेयार्थ एवं लक्ष्यार्थ की अशक्यता या साधनभूतता को ही केन्द्र में रखकर इसे अभिधामूला एवं लक्षणामूला व्यंजना के नाम से पुकारा गया है।

मीमांसक एवं नैयायिकों के पथ का अनुसरण करते हुए महिमभट्ट, मुकुल-भट्टादि ने व्यंजना को अनुमान, तात्पर्य, अर्थापत्ति के निमित्तादि में अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया है किन्तु आचार्य मम्मट के अकाट्य तर्कों के कारण व्यंजना शक्ति की अपरिहार्यता निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध होती है। मीमांसक अर्थ-शक्तिबोध के लिए तीन कारण बताते हैं—

(१) प्रत्यक्ष—उत्तम वृद्ध द्वारा मध्यम वृद्ध को यह कहने पर कि 'गाय लाओ' शिशु चाक्षुष प्रत्यक्ष, श्रवण प्रत्यक्ष से अर्थ ग्रहण करता है।

(२) अनुमान—'गाय' लाने में प्रवृत्त 'मध्यमवृद्ध' का अनुमान प्रत्यक्ष के आधार पर करता है।

(३) अर्थापत्ति—गाय आने पर समझता है कि अमुक चतुष्पद एवं शृंग पुच्छादि युक्त गाय है और लाने वाले मध्यमवृद्ध 'देवदत्तादि' है।

मीमांसकों के अनुसार यहाँ व्यंजना' के लिए अवकाश ही नहीं है। ऐसे स्थलों पर अर्थ का बोध अनुमान तथा अर्थापत्ति ही कराते हैं।

इसकी आलोचना करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं—

"ननु वाच्यसम्बद्धं तावन्न प्रतायते, यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसंगात्। एवं च सम्बन्धाद् व्यंग्यव्यंजक भावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेननियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिंगिज्ञानमनुमानं यत तद्रूपः पर्यव-स्यति।"

वाच्य से असम्बद्ध अर्थ तो प्रतीत नहीं होता है क्योंकि [यदि वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होती] तो जिस किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। [यदि किसी शिशु को गलती से 'घट' को 'गो' कह कर ले आने का संकेत दिया जाए तो वह 'घट' का अर्थ गाय जानेगा।] इस प्रकार, व्यंग्य और व्यंजक सम्बन्ध अनिवार्य होने से व्यंग्य-व्यंजकभाव [प्रतिबन्ध अर्थात्] व्याप्ति के बिना निश्चय नहीं हो सकता है। इसलिए व्याप्तियुक्त और नियतधर्मी [अर्थात् पक्ष] में रहने से [अर्थात् व्याप्ति तथा पक्षधर्मतायुक्त होने से सक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृतत्वरूप] तीन रूपों वाले [धूमादि रूप हेतु के समान] लिङ्ग से, लिङ्गी [अर्थात् वह्नि आदि के समान साध्य] का जो अनुमान उसी रूप में [व्यंग्य व्यंजक भाव का भी] पर्यवसान होता है।[1]

१. काव्यप्रकाश : आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ २५८

नैयायिक पंचावयव के माध्यम से 'अनुमान' को ही अन्तिम प्रमाण मानते हैं। तर्क के ये पंचावयव हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, व्यतिरेकव्याप्ति और उदाहरण, उपनय, निगमन। उनके अनुसार व्यंजना का समाहार इसी के अन्तर्गत हो जाता है। यथा—

पूस मास सुनि सखिन सँग साई चलत सबार।
लैकर बीन प्रबीन तिय गायो राग मलार ॥

पूस का महीना है। नायिका ने सखियों से यह सुनकर कि प्रातः होते ही नायक प्रवास गमन करेगा, वीणा बजाने में अत्यधिक सिद्धहस्त उस नायिका ने मेघ मल्हार राग गाया।"

इस वाक्य में अर्थ ज्ञाप्ति के लिए संकेतग्रहों का विशेष सहयोग नहीं लेना पड़ रहा है। 'प्रवीण' शब्द सामान्य अर्थ में रूढ़ा लक्षणा है, लेकिन साभिप्राय प्रयोग अर्थात् परिकरांकुर अलंकार का प्रयोग करके कवि उसकी लाक्षणिकता नष्ट कर दे रहा है, और कहीं मुख्यार्थ की वाधा भी नहीं है सामान्य अभिधा से इसका अर्थ स्पष्ट भी नहीं हो रहा है। इस दोहे में 'प्रवीन' तथा राग मलार शब्दों से व्यंजक अर्थ इस प्रकार निकलता है—

नायिका वीणा बजाने में कुशल है और उसे अपनी कुशलता पर पूर्ण विश्वास भी है कि उसके मेघ मल्हार गाने से निश्चित रूप से जलवृष्टि होगी, जलवर्षा के कारण प्रवास गमन स्थगित हो जाएगा क्योंकि वर्षा काल में प्रवास गमन निषिद्ध है। यहाँ 'प्रवीण' एवं राग मलार' नायक के प्रवास गमन के अवरोध के कारण हैं।

इस वाक्य को नैयायिक पंचावयव के माध्यम से इस प्रकार विश्लेषित करना चाहेगा।

प्रतिज्ञा—नायक के प्रवास गमन का अवरोध

हेतु—पूस के महीने में असह्य वियोग के कारण प्रवीण नायिका का मेघ मल्हार-गायन

व्यतिरेक-व्याप्ति—वर्षा काल में घर आए सभी प्रवासी प्रवास गमन रोक देते हैं। वर्षा है तो घर रहना होगा, नहीं है तो नहीं।

४. उपनय—वर्षा काल यहाँ भी प्रगट किया जा रहा है।

५. निगमन—इसलिए अवर्षा काल में वर्षा का वातावरण उत्पन्न करके नायक का प्रवासावरोध ही इस दोहे की सिद्धि है।

नैयायिक आचार्य महिमभट्ट इस प्रकार 'निगमन' को अनुमान सिद्ध अर्थ ही मानते हैं, व्यंजना नहीं। वे बताते हैं—

"सैवानुमिति पक्षे नो गमकत्वेन सम्मता ।
अन्यतोऽन्यस्य हि ज्ञानमनुमैक समाश्रयात् ।।"

एक दूसरे का ज्ञान (वाचक से वाच्यादि का ज्ञान) एकमात्र अनुमान पर आश्रित है । वाच्य स्वयं प्रधान नहीं होता और वाचक अर्थ भी प्रधान नहीं होता और शब्द की अन्य शक्ति (व्यंजना, ध्वनि जैसी) भी नहीं होती । अतः व्यक्ति (व्यंजना) बनती नहीं ।

ध्यानपूर्वक देखने पर जैसा कि आचार्य मम्मट स्वीकार करते हैं ठीक, उसी क्रम में इसे यों कहा जा सकता है कि—

१. पूस के महीने में मेघ मल्हार गायन वर्जित है क्योंकि यह लोक के दुर्दिन का कारण बनेगा । इसलिए दोनों में परस्पर विरोध है—और यह विरुद्ध हेत्वाभास स्वरूप है । न्याय में विरुद्ध हेत्वाभास से निगमन (अनुमान की सिद्धि) नहीं होती ।

२. मेघ मल्हार राग गायन एवं वीणा वादन के सम्बन्ध में कवि प्रौढ़ि है कि जलवर्षा होती है । कवि समय एवं प्रौढ़ि मूलतः कवि कल्पना-विलास के अंग हैं । अशास्त्रीय हैं किन्तु शास्त्र की भाँति निबद्ध हैं, कवि कल्पना विलास से सम्बन्धित होने के कारण अर्थ रचना में भावास्वाद कराने के समर्थ साधन है किन्तु न्याय के पंचावयव ज्ञानमूलक तार्किक निष्कर्ष के साधन हैं, प्रौढ़िमूलक कवि कल्पना, विलास के निष्कर्ष निश्चित रूप से उनके लिए उपहासास्पद होंगे ।

अतः महिम भट्ट का यह कथन कि काव्यार्थ ज्ञान मात्र पंचावयव रूप साधनों पर आश्रित है, ठीक नहीं है । यही नहीं, उक्त उदाहरण के सम्पूर्ण वाक्य को अभिधा के स्तर पर विश्लेषित किया जाए, सभी शब्दों के अर्थों को एक वाक्य में रख दिया जाए, फिर भी 'प्रवास वर्जन' का अर्थ वाच्यार्थ के स्तर पर नहीं निकलेगा; जब तक कि विशिष्ट शब्दों को पकड़कर उनमें निहित कवि के व्यंजक अभिप्राय की कल्पना न की जाए [पूस मास की भीषण ठंडक में मेघ मल्हार राग की बात क्यों सूझी] जब तक इस पर भिन्न-रूप से सोचा न जाए तब तक 'प्रवासवर्जन का अभिप्राय नहीं निकलेगा । इस प्रकार महिम भट्ट का यह कथन कि 'न वाच्य है, न वाचक है,और न इनसे भिन्न एक अन्य अर्थ (कवि कल्पित व्यंग्यार्थ), पूर्णतः असंगत प्रतीत होता है ।

तात्पर्य—उपात्त (श्रुत) शब्द में ही तात्पर्य होता है । इस सम्बन्ध में एक विशिष्ट मत को तात्पर्य कहा जाता है । यत्परः शब्दः स शब्दार्थः अर्थात् किसी वाक्य के अर्थ का निर्धारण संज्ञा, सर्वनाम, उपसर्ग, निपात् से भिन्न

आख्यात् (क्रियापद) से किया जाता है। 'राम रोटी खाता है' वाक्य में विधेय 'खाता है' 'रोटी कर्म एवं राम कर्ता' है। कर्त्ता कर्म के सम्बन्ध एवं कार्य का ज्ञान 'खाता है' क्रियापद से ही होता है। इस प्रकार यह 'क्रिया' ही तात्पर्य है क्योंकि यही अर्थशक्ति की मूलनिर्धारक है।

तात्पर्य का एक दूसरा अर्थ धनंजय-धनिक द्वारा दशरूपक में स्पष्ट किया गया हैं—

तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यंजनोयस्य न ध्वनिः।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽयोक्ति रूपिणि ।।
ध्वनिश्चेत्स्वार्थ विश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ तन्न विश्रान्त्यसम्भवात् ।।
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यंस्येति किंकृतम्।
यात्वत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ।।

ध्वनि (व्यंजना) न हो तो जहाँ उच्चरित (अतः श्रुत) के अभिधेय अर्थ में तात्पर्य नहीं होता, उस अन्योक्ति रूप वाक्य में क्या कहेंगे।

इसके अतिरिक्त वाक्य स्वार्थ में विश्रान्त अर्थात् समाप्त होकर भी किसी दूसरे अर्थ का बोधक होता है तो वहाँ दूसरा अर्थ ध्वनि होता है, किन्तु वाक्य अपने अर्थ (स्वार्थ) में विश्रान्त नहीं होता तथा (अपनी विश्रान्ति के लिए) किसी अन्य अर्थ का बोध करा देता है तो वहाँ दूसरा अर्थ तात्पयार्थ हुआ करता है। किसी भी वाक्य के अर्थ की विश्रान्ति (बीच में ही) असम्भव है। तात्पर्य की विश्रान्ति केवल इतने में ही हो जाती है, ऐसा नियम किसने बना दिया है। सच तो यह है कि कार्य (प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप प्रयोजन) का जब तक बोध नहीं हो जाता, तब तक तात्पर्य शक्ति का प्रसार होता है, क्योंकि तात्पर्य कोई नपी-तुली वस्तु नहीं है।[1] इनके अनुसार रस का काव्य के साथ व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध नहीं है, भाव्य-भावक सम्बन्ध है।

तात्पर्य की तीसरी व्याख्या आचार्य भोज 'शृंगार-प्रकाश' में करते हैं। उनके अनुसार ध्वनि ही तात्पर्य है—

तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये
सौभाग्यमेवगुणसम्पदि वल्लभस्य।
लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनायाः
शृङ्गार एव हृदि मानवतो जनस्य ।।

---

१. दशरूपक—डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी, पृष्ठ ३१६, ३१८

यदभिप्राय सर्वस्वं वक्तुर्वाक्यात् प्रतीयते ।
तात्पर्यम् अर्थधर्मस्तत् शब्दधर्मः पुनर्ध्वनिः ।।

आचार्य विद्यानाथ भी इसी अर्थ में तात्पर्य शब्द का प्रयोग करते हैं—

तात्पर्यार्थोऽपि व्यंग्यार्थ एव न पुनःपृथग्भूतः ।

भाव प्रकाश में शारदातनय भी ध्वनि के अर्थ में ही तात्पर्य शब्द का प्रयोग करते हैं—

अतोध्वन्याख्यातात्पर्यगम्यमानत्वतः स्वतः ।
काव्येरसालङ्क्रियादिः वाक्यार्थो भवति स्फुटम् ।।

आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त ने ध्वनि के लिए तात्पर्य शब्द का प्रयोग किया है—

तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यंग्यप्राधान्ये स ध्वनिः ।

इसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं—

"तात्पर्येण विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेनेति यावत्"[1]

इस प्रकार 'तात्पर्य' शब्द का अर्थ तीन रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है—

१. सामान्य अर्थ बोध को स्पष्ट करने वाला तात्पर्य
२. वाच्यार्थ में निहित अभिप्राय के रूप में तात्पर्य
३. ध्वनि के पयार्द के रूप में तात्पर्य

'सामान्य अर्थ बोध' रूप तात्पर्य व्यंजना से भिन्न है । तात्पर्य के लिए उपात्तता अनिवार्य है । अनुपात्त शब्दों में सामान्य अर्थबोध रूप तात्पर्य नहीं होगा किन्तु व्यंजना वहाँ भी होगी । 'सूर्य डूब गया' में 'अस्तमिता' ही अभिप्राय है, क्योंकि क्रिया का उपात्त रूप इस अभिप्राय का हेतु है । यदि कोई चोर सूर्य डूबने का अर्थ "चोरी की तैयारी करना है, या अमुक के यहाँ ठहरना चाहिए, ठीक नहीं है । यही नहीं, उक्त उदाहरण के सम्पूर्ण वाक्य को ढूढ़ लिया जाए, सभी शब्दों का अर्थ करके एक वाक्य में रख दिया जाए, फिर भी 'प्रवासवर्जना' का अर्थ वाच्यार्थ में नहीं निकलेगा जब तक कि विशिष्ट शब्दों को पकड़कर उनमें निहित कवि के व्यंजक अभिप्राय की कल्पना न की जाए । इस प्रकार महिम भट्ट का यह कथन भी कि 'न वाच्य है, न वाचक है और न इनसे भिन्न एक भिन्न अर्थ (कविकल्पित व्यंग्यार्थ)' पूर्णत असंगत प्रतीत होता है ।

---

१. विशेष अध्ययन के लिए देखिए, शृङ्गार प्रकाश—वी० राघवन्, पृ० १३६-१८०

उपात्त (श्रुत) शब्द में ही तात्पर्य होता है।

तात्पर्यवाद—इस सम्बन्ध में एक विशिष्ट मत आचार्य भट्ट लोल्लट का है। उनके मत को तात्पर्यवाद कहा जाता है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'' अर्थात् किसी वाक्य के अर्थ का निर्धारण संज्ञा, उपसर्ग, निपात् से भिन्न आख्यात् (क्रियापद) से किया जाता है, ओर वहीं महत्त्वपूर्ण भी है। 'राम रोटी खाता है।' वाक्य में उद्देश्य राम है, विधेय 'खाता है' है, कर्म रोटी है। इस नियम के अनुसार 'विधेय' ही 'अर्थ निर्धारण' का कारण है और सम्पूर्ण अर्थ 'क्रियाशक्ति' से निर्धारित होगा।[1] इस प्रकार 'विधेय' अर्थात् क्रिया ही तात्पर्य रूप है। यही नहीं, इस तात्पर्य के लिए वाक्य में शब्द का श्रुत होना चाहिए। किसी वाक्य में 'श्रुत' (उपात्त) शब्द को ही वे तात्पर्य का कारण मानते हैं, अनुपात्त (अश्रुत) शब्द में कोई भी व्यंग्यार्थ नहीं रहता। अनुपात्त (अश्रुत) शब्द का अर्थ अन्य किसी ढंग से लगाया जा सकता है, तात्पर्य के माध्यम से नहीं।

तात्पर्य का एक दूसरा अर्थ धनंजय द्वारा दशरूपक में स्पष्ट किया गया। उन्होंने 'दशरूपक' के अन्तर्गत बताया है—

एतावत्येव विश्रान्तिः तात्पर्यस्येति किंकृतम्।
(तात्पर्य व्यतिरिक्तत्वात् व्यंजकत्वस्य न ध्वनिः)
यावत्कार्यप्रसारित्वम् तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥

इनके अनुसार 'शब्दार्थ' में निहित तात्पर्य से भिन्न 'ध्वनि' का कोई दूसरा अर्थ नहीं है। अतः तात्पर्य के रहने पर एक अन्य शक्ति की कल्पना मिथ्या है।

'तात्पर्य की एक तीसरी व्याख्या आचार्य भोज करते हैं। उनके अनुसार ध्वनि' एवं तात्पर्य पर्यायवाची शब्द हैं—

'तात्पर्यम्, यस्य काव्येषु ध्वनिरिति प्रसिद्धः'

आचार्य विद्यानाथ भी इसी अर्थ में तात्पर्य शब्द का प्रयोग करते हैं—

'तात्पर्यार्थोऽपि व्यंग्यार्थ एव, न पुनः पृथग्भूत'

भाव प्रकाश में 'शारदातनय' बतलाते हैं—

अतोध्वन्याख्यातात्पर्यगम्यमानत्वतः स्वतः।
काव्येरसालङ्क्रियादिः वाक्यार्थो भवति स्फुटम्॥

आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के अनुसार भी सामान्य अर्थ में ध्वनि के लिए 'तात्पर्य विशेष' कहना असंगत नहीं है—

---

१. विशेष के लिए देखिए—डॉ॰ भोलाशङ्कर व्यास—ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त (शब्दशक्ति विवेचन)

"तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र वयग्यं प्राधान्ये स ध्वनिः"

प्रथमउद्योत : अन्तिम कारिका

और इसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं—

"तात्पर्येण विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेनेति यावत्"

व्यंजना से सिद्ध अर्थ सामान्य अर्थ बोध से पूर्णतया भिन्न है। भट्ट लोल्लट आदि जिस तात्पर्य को व्यंजना के रूप में स्वीकार करते हैं, वह निश्चित रूप से व्यंग्यार्थ नहीं है। तात्पर्य के लिए उपात्त शब्दों का होना अनिवार्य है। उपात्त शब्दों से ही तात्पर्य की सिद्धि सम्भव है, उसके अभाव में तात्पर्य का अस्तित्व नहीं होगा किन्तु व्यंजना अनुपात्त शब्दों में भी होती है। 'सूर्य डूब गया' में सूर्य की स्तमिता हो अभिप्राय है क्योंकि 'क्रिया' का उपात्त रूप इस अभिप्राय का हेतु है कि यदि कोई 'चोर' सूर्य डूबने का अर्थ चोरी करनी चाहिए' ब्राह्मण 'सन्ध्यावन्दन के लिए चलें' इस प्रकार के अर्थ को निकालते हैं तो वह तात्पर्य न होकर, उससे भिन्न होगा। इसी के बचाव के लिए धनिक-धमंजय ने कहा है कि कार्य का जब तक बोध न हो जाए, तब तक तात्पर्य की पूर्ण व्यक्ति नहीं होगी।

इसीलिए धनिक-धनंजय आदि तात्पर्य शब्द का अभिप्राय, वाच्यार्थ में निहित 'अभिप्राय व्याप्ति' अर्थात् (कार्य का पूर्ण बोध) से लगाकर उसे व्यंग्येतर अर्थ में ग्रहण करते हैं। व्यंजना अपनी अर्थ व्याप्ति में तात्पर्य में निहित अभिप्राय रूप व्यंग्यार्थ को आधार बनाती है, और प्रायः तात्पर्य की ही भाँति अपने को व्यक्त करती है, किन्तु क्या यह व्यंग्यार्थ तात्पर्य रूप है। निश्चित रूप से इसका उत्तर नकारात्मक होगा। इससे 'रस' के व्यंग्य रूप आस्वाद्य स्थिति की क्या व्याख्या सम्भव है ? उत्तर है, नहीं। तात्पर्य शब्दों से कहा जाता है, कानों से सुना जाता है और पुनः अन्य उसकी आवृति भी करता है, किन्तु, व्यंग्य रसास्वादन को न तो शब्दों से कहा जा सकता है, न कानों से सुना जा सकता है और न आस्वादन प्रक्रिया की समाप्ति के पश्चात् उसका पुनर्कथन हो सकता है, अतः व्यंग्यार्थ रूप में स्वीकृत अभिप्राय रूप तात्पर्य को भी व्यंजना-व्यापार नहीं कहा जा सकता।

मूलतः शास्त्रों में विवेचित शब्दार्थ सम्बन्ध एवं सिद्धान्त काव्यार्थ विवेचन पर पूरी तरह घटित नहीं होता। मीमांसा, न्याय, वेदान्त आदि लोक के विविध व्यापारों को व्यंजित करते हैं। लोक में व्याप्त अनन्त पद-पदार्थों का यथार्थ स्वरूप निश्चित रूप से काव्यार्थ से भिन्न है; यह सत्य है कि काव्य में भी एक विशिष्ट लोक के दर्शन होते हैं। सम्पूर्ण अर्थ-व्यापार लोक का ही है किन्तु काव्य में व्यंजित कवि का जगत शुद्ध काल्पनिक, अर्थ रूप, रचा हुआ सहृदय के

लिए आस्वाद्य तया आनन्द पर्यवसायी है। वह पूर्ण प्रपंचात्मक एवं लोक यथार्थ से भिन्नधर्मा है। इस स्थिति में मीमांसा, न्याय आदि दर्शनों में लोकार्थ से सम्बद्ध शाब्दबोध सिद्धान्तों का काव्य के शाब्दबोध सिद्धान्तों के साथ संगति बैठा देना उचित नहीं है क्योंकि 'जगत' और 'काव्य जगत' के अर्थ व्यापार एक नहीं है। इसका समाधान इसीलिए आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में बहुत पहले ही कर दिया था—

किं भवन्तीति भावा, किं भावयन्तीति भावा।
उच्यते वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा॥

व्यंजना के भेद

व्यंजना के दो भेद किए जाते हैं—

१. शाब्दी व्यंजना

२. आर्थी व्यंजना

शाब्दी व्यंजना—व्यंग्यार्थ की सिद्धि के निमित्त जहाँ शब्द परिवर्तन सहत्व न स्वीकार करें, वहाँ शाब्दी व्यंजना होती है। दूसरे शब्दों में व्यंजक शब्दों के पर्यायादि विषयक शब्दों से स्थानान्तरित करने पर जहाँ व्यंग्य नष्ट हो जाता है, वहाँ शाब्दी व्यंजना कही जाती है। उदाहरण—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि वे वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

यहाँ 'वृषभानुजा-राधा एवं अप्राकरणिक व्यंग्य से' वृषभ+अनुजा अर्थात् गाय एवं 'हलधर के बीर' अर्थात् कृष्ण एवं अप्राकरणिक व्यंग्य से हलधर अर्थात् बैल का बीर (भाई) बैल शाब्दी व्यंजना से नियोजित है किन्तु 'वृषभानुजा' के स्थान पर पर्यायवाची 'राधा' एवं 'हलधर के बीर' के पर्यायवाची 'कृष्ण' शब्दों का प्रयोग कर देने पर अप्राकरणिक अर्थ रूप शाब्दी व्यंग्य समाप्त हो जाएगा। अतः शाब्दी व्यंजना में व्यंजक शब्द परिवर्तन सहत्व को स्वीकार नहीं करता।

शाब्दी व्यंजना के दो भेद किए जाते हैं—

१. लक्षणामूलाशब्दी व्यंजना

२. अभिधामूलाशाब्दी व्यंजना

१. लक्षणामूलाशाब्दी व्यंजना—आचार्य मम्मट इसको स्पष्ट करते हुए बताते हैं—

'तद्भूर्लाक्षणिको तत्र व्यापारो व्यंजनात्मकः'

उस लक्षण का आश्रयभूत शब्द लाक्षणिक कहलाता है—और उस व्यंग्य

प्रयोजन में (लक्षणा से भिन्न) व्यंजनात्मक व्यापार होता है। वे इसे स्पष्ट करते हुए पुनः कहते हैं—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणासमुपास्यते ।
फले शब्दैक गम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया ॥

प्रयोजनप्रतिपादयिषाया यत्र लक्षणाद्या शब्द प्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्। न चात्र व्यंजनाहृतेऽन्यो व्यापारः।

जिस प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए लाक्षणिक शब्द का आश्रय लिया जाता है, केवल शब्दों से गम्य उस फल (ज्ञान) के विषय में व्यंजना के अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं हो सकता।

प्रयोजन विशेष का प्रतिपादन करने की इच्छा से जहाँ लक्षणा से शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ (अनुमानादि) अन्य किसी साधन से उस प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अपितु उसी शब्द से होती है और उसमें व्यंजना के अतिरिक्त ओर कोई व्यापार नहीं होता।[1]

अभिधामूला व्यंजना—जहाँ श्लेष के माध्यम से प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति बिना मुख्यार्थ बाधा के कराई जाए, वहाँ अभिधामूला शाब्दी व्यंजना होती है। आचार्य मम्मट इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थ धीकृद् व्यापृतिरंजनम् ॥

संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थ शब्दों के वाचकत्व के (किसी एक अर्थ में) नियंत्रित हो जाने पर (उससे भिन्न) अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला (शब्द का) व्यापार अभिधामूला व्यंजना है।

अनेकार्थी शब्दों के वाचकत्व (प्राकरणिक अर्थ) नियंत्रित कर दिए जाने पर अवाच्य (अप्राकरणिक) अर्थ की प्रतीति ही अभिधामूला व्यंजना है।

उदाहरण—

भयो अपत कै कोप युत कै बोरो यहि काल ।
मानिनि आज कहै न क्यों वा रसाल को हाल ॥

इसमें 'अपत' 'कोपयुत' 'बोरो' रसाल शब्दों के प्राकरणिक अर्थ पत्रहीन, कोंपलयुक्त एवं बौर युक्त, आम्र को नियंत्रित करके क्रमशः मर्यादाच्युत, क्रोधयुक्त, पागल एवं रसिक नायक' अवाच्य (अप्राकरणिक) की प्रतीति अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का चमत्कार है।

---

१. काव्य प्रकाश; आचार्य विश्वेश्वर, देखें—पंचम अध्याय

'वाच्यार्थ' (प्राकरणिक अर्थ) को किन शक्तियों से नियंत्रित करके अवाच्य (अप्राकरणिक) अर्थ निष्पन्न कराया जाता है, इसके लिए आचार्य मम्मट १४ तत्वों का उल्लेख करते हैं—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थ, प्रकरणं, लिङ्गं शब्दस्यान्यस्यसन्निधिः ।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।।

संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, लिङ्ग, व्यक्ति तथा स्वर ।

आर्थी व्यंजना

जहाँ शब्द व्यंग्यार्थ सिद्धि के लिए परिवर्तनसहत्व स्वीकार कर ले, वहाँ आर्थी व्यंजना होती है । व्यंजक शब्द में पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से व्यंग्यार्थ पर आर्थी व्यंजना में आघात् नहीं पड़ता । आचार्य मम्मट आर्थी व्यंजना को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

वक्तृबोधव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।।
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।

वक्ता, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, चेष्टादि के वैशिष्ट्य से सहृदयों को अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ व्यापार आर्थी व्यंजना कहलाता है ।

'आर्थी व्यंजना' के सम्बन्ध में यह संशय उठाया जाता है, कि यदि यह 'अर्थ शक्ति' स्वरूप है, तब इसे शब्दशक्ति के अन्तर्गत क्यों रखा जाता है । यही नहीं, अर्थ निष्पत्ति में व्यंजक शब्द का सहयोग किस रूप में रहता है । आर्थी व्यंजना अर्थ विधान को सर्वोच्च जटिल स्थिति है, फिर भी शब्द की सहकारिता ही इस अर्थ को नियंत्रित करती है । आर्थी व्यंजना शब्द प्रमाण से ही गम्य है । इस रूप में व्यंजित अर्थ वक्ता, बोधक, काकु आदि से परिशासित किन्तु शब्दों द्वारा ही निर्दिष्ट होता है, अतः इसको शब्दशक्ति के रूप में न स्वीकार करना, अनुचित है ।

आर्थी व्यंजना को तीन भागों में विभक्त किया जाता है । मम्मट—'अर्थाः वाच्यलक्ष्यव्यंग्याः' कहकर उसके तीन भेदों वाचिक, लाक्षणिक एवं व्यंजक की ओर संकेत करते हैं । इस प्रकार इसके ये तीन भेद बनते हैं—

१. वाच्यसम्भवा आर्थी व्यंजना

२. लक्ष्यसम्भवा आर्थी व्यंजना

३. व्यंग्यसम्भवा आर्थी व्यंजना

वाच्य सम्भवा आर्थी व्यंजना—सामान्य अभिधेयार्थ के पश्चात् भी जब वाक्य विशेष में निर्दिष्ट अर्थ स्फुट होकर प्रतीत नहीं होता तो जिस शक्ति का उपयोग करके तथा वाक्य में निर्दिष्ट किसी पद के आधार पर वक्ता, सम्बोध्यादि को माध्यम बनाकर अर्थ की प्रतीति कराई जाती है, उसे वाच्यसम्भवा आर्थी व्यंजना कहते हैं। यथा—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित तप मोकहँ भोगू।

वाक्य अभिधेयार्थ है, किन्तु 'सीता' जैसी पतिपरायणा की पति के प्रति कही गई इस उक्ति में कि आप (राम) वन के योग्य है और मैं कोमलांगी हूँ, आप वन के संकटों को सहें और मैं अयोध्या का विलास भोगूँ" में निहित विरोध के कारण अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता, अतः 'काकु' के माध्यम से इसका अर्थ इस प्रकार निकालना पड़ेगा—

आपकी शारीरिक कोमलता मुझ कोमलांगी के अंगों से कहीं अधिक है—मैं कोमलांगी हूँ किन्तु आपका शरीर मुझसे भी कहीं कोमल है, फिर आपका शरीर बन जन्य अनेक क्लेशों को सहन करने में समर्थ है तो मैं क्यों नहीं सह सकती। पति नाना प्रकार के क्लेशों को सहन करे और पत्नी भवन के विलास एवं भोग में संसक्त रहे, क्या यह एक पतिव्रता के लिए उचित है। पुनः यह कैसे सम्भव हो सकता है कि अरण्य में आप तपस्या करें और मैं अयोध्या के विलास का भोग करू। 'काकु' के आधार पर सुकुमारि और बन जोगू, उचित तप और भोगू 'पति' और 'पत्नी' के विरोध से व्यंगार्थ यही निकलता है कि यदि 'आप बन जाते हैं तो मेरे लिए अयोध्या में रुकने का कोई औचित्य नहीं है।'

२. लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यंजना—मुख्यार्थ की बाधा के पश्चात् भी जब अर्थ में 'अस्पष्टता बनी रहे तब जहाँ' 'वक्तृ बोधव्य काकु' आदि को आधार बनाकर जिस अन्य अर्थ की प्रतीति कराई जाए है, उसे लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यंजना कहते हैं यथा—

यथा—मम भुज सागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुरनर सूरा।
बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइय पारा।

'भुज-सागर' 'सुर, नर सूरों का डूबना' बीसभुजा रूपी समुद्र की अगाधता एवं वीरों द्वारा दुर्लंघ्य—पदों मे सरोपालक्षणा है जिसका क्रमशः अर्थ है—भुजाओं में अगाध शक्ति है और भुजाओं में निहित पराक्रम के कारण देव, नर

एवं योध्याओं को पछाड़ता हूँ। अगाध शक्तियुक्त मेरी बीसों भुजाओं में निहित शक्ति का पार पाना योद्धाओं के लिए सम्भव नहीं है। यहाँ इस तद्योग से भी अर्थ स्पष्ट नहीं हो रहा है। यह राम के प्रति व्यंग्योक्ति है। साधारण-सा समुद्र बाँध लेने वाले राम मेरी बीस भुजा रूपी अजेय तथा अगाध शक्ति युक्त समुद्र से टक्कर लेंगे तब शक्ति का पता चलेगा। बड़े-बड़े वीर, योद्धा-देवातादि इसी समुद्र में डूब गए, हे अंगद! इन राम की क्या हैसियत?

व्यंग्यसम्भवा आर्थी व्यंजना—व्यंग्यार्थ की प्रतीति जहाँ अपने में निहितार्थ को स्पष्ट कराने में असमर्थ हो, वहाँ उसी को आधार बनाकर वक्ता, बोधव्य काकु आदि के माध्यम से निहित व्यंग्यार्थ को स्पष्ट किया जाए, वहाँ व्यंग्य-सम्भवा आर्थी व्यंजना होती है। यथा—

तुम आनन्द करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन कहुँ आए।

सीता-वियोग के समय राम को विलाप करते हुए मृग एवं मृगी विकल भाव से उन्हें देख रहे हैं। पशु आदि की मानव वियोग में विकलता स्वयं व्यंग्य व्यापार है। फिर भी, इस 'विकलता' से 'राम के असह्य वियोग सी तीक्ष्णता' व्यंजित नहीं हो पा रही है।' 'धनुष बाण युक्त' होने के कारण विलपित राम को देखकर मृगियों से साथ मृग किंचित् भयग्रस्त दिखाई पड़ते हैं। उनको सम्बोधित करके राम की यह स्वयं अपने प्रति कही गई उपलक्षण से परिपूर्ण उक्ति है। मानो भगने को तत्पर मृगों को देखकर उनकी पत्नियाँ उन्हें सान्त्वना देती हैं कि तुम भागो मत, ये पशुचर्म युक्त मृग नहीं खोज रहे हैं, ये 'कनक चर्म' युक्त मृग खोज रहे हैं। 'कनक चर्ममय' हिरण को देखकर भ्रमित होने के कारण पत्नी खो बैठने वाले राम प्रकारान्तर से इस कथन द्वारा अपने भ्रमित होने के प्रति परिहास एवं अपने प्रति ही कटूक्ति का प्रयोग करते हैं। व्यंजना का आधार वहाँ अन्यसन्निधि है। 'स्वर्ण हिरण' के बहाने 'आत्म प्रवंचना एवं ग्लानि' का शोकयुक्त कथन यहाँ व्यंग्य है।

आर्थी व्यंजना के सन्दर्भ में विचारणीय समस्या यह है कि 'व्यंजना' के इन दसों साधनों यथा वक्तृ बोधक काकूनां (आदि) के आधार पर प्रत्येक भेद के दस-दस उपभेद किए जाते हैं और इस प्रकार आर्थी व्यंजना के तीस भेद हैं।

ध्वनि

ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना का प्रयोजन क्या था ? यह बहुत स्पष्ट नहीं हो सका है, किन्तु इस सिद्धान्त की स्थापनाओं को देखकर इतना तो निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि भामह, वामन, उद्‌भटादि आलंकारिकों के द्वारा निर्दिष्ट अलंकार की सर्वत्रस्थित प्रतिष्ठा को समूल समाप्त करने एवं रस सिद्धांत के प्रति बरती जाने वाली उपेक्षा को समाप्त करके उसे वर्चस्व दिलाने के साथ-ही, साथ अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य से भिन्न व्यंजना जैसी शक्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए आनन्दवर्धनाचार्य ने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ के द्वारा इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया। परवर्तीकाल में अभिनवगुप्त, मम्मट एवं प्रतिहारेन्दुराज आदि ने अपने सबल तथा अकाट्य तर्कों से इसे साहित्य के सर्वोच्च सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया।

'ध्वनि' शब्द का सामान्य प्रयोग 'उच्चरित' नाद के लिए किया जाता है। 'नाद' एवं 'ध्वनि' प्रारम्भिक अर्थ की दृष्टि से परस्पर पर्याय हैं। आनन्दवर्धन ने जिस ध्वनि सिद्धान्त को स्वीकार किया है, वह व्याकरण एवं शैव दर्शन पर आधारित है। वे वैयाकरणिक आधार को स्वीकार करते हुए कहते हैं—

"प्रथमो विद्वांसो हि वैयाकरणाः। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति"।

अर्थात्, वैयाकरण श्रूयमाण वर्णों में ध्वनि का व्यवहार बताते हैं। 'श्रूयमाण वर्ण' ध्वनि सिद्धान्त का मूलाधार है; व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों से। पतंजलि ने महाकाव्य में नादात्मक ध्वनि का उल्लेख करते हुए बताया है कि—

'प्रतीतपदार्थ को लोकेध्वनिः शब्द इत्युच्यते'

लोक में पद तथा अर्थ की प्रतीति कराने वाले श्रूयमाण नाद को ध्वनि कहते हैं। 'प्रतीत' शब्द अर्थ ज्ञापक तत्त्व है। पद तथा अर्थ ज्ञाप्य है, कारण श्रूयमाण ध्वनि है। यद्यपि ध्वनि के लिए सैद्धान्तिक आधार इससे पूर्णतः सिद्ध

नहीं होता फिर भी पतंजलि ने महाभाष्य में ध्वनि सिद्धान्त के लिए आधारभूत तत्व 'स्फोट' का उल्लेख किया है—

'स्फोटस् तात्वान् एव ध्वनि कृता वृद्धिः'

यही नहीं, वे अर्थ को नित्य मानते हुए उच्चरित होने वाले शब्दों की ध्वनि रूप अनित्यता एवं अर्थ ज्ञापन की अशक्यता तथा एक बार में एक ही वर्ण के उच्चरित हो सकने के व्याकरण सम्मत सिद्धान्त को मानते हैं—

'एकैक वर्णवर्तिनी वाङ् न द्वौ युगपद् उच्चारयति'

जैसा कि 'शब्दशक्ति' के प्रारम्भ में बताया जा चुका है, कि 'स्फोट सिद्धांत' की चर्चा 'यास्क' से ही शुरू हो जाती है। पतंजलि ने इस स्फोट सिद्धान्त को व्यवस्थित किया था। ध्वनि सिद्धान्त का वैयाकरणिक आधार यही 'स्फोट सिद्धान्त' ही है। 'स्फोट' शब्द को स्पष्ट करते हुए बताया गया है—'स्फुटयति अर्थः अस्मात् इति स्फोटः अर्थात्—जिससे अर्थ स्फुटित (प्रकट) हो, वह स्फोट हो। इस प्रकार प्रकारान्तर से उच्चरित होने वाली विखर ध्वनि (कंठ के ऊपर स्थित) ही अर्थ के स्फोट (प्राकट्य) का कारण है। स्वरतंत्रियों से उच्चरित होने वाली ध्वनियाँ ही अर्थ स्फोट के लिए भूल हेतु हैं। 'ध्वनि' इस प्रकार व्यंजक है और व्यंग्य है 'स्फुटित होने वाला अर्थ'। ध्वनि विकार धर्मा, अनित्य एवं आभास रूप व्यंजक है, व्यंग्य अर्थ नित्य, शाश्वत् एवं अक्षयधर्मा है। यह संस्कार रूप में सहृदय के हृदय में सनातन रूप में वर्तमान है। उच्चरित ध्वनि इस अर्थ को दीपक की भाँति प्रकाशित करती है। ध्वनि की अनित्यता एवं अर्थ की सहृदय के हृदय में वासना की भाँति सनातन रूप में होने को 'प्रदीप घट न्याय' से इन वैयाकरणों और ध्वनिवादियों सिद्ध करने की चेष्टा की है—

स्वज्ञानेनान्यधी हेतुः सिद्धऽर्थे व्यंजको मतः।
अथादीपोऽन्यथा भावे को विशेषोऽस्य कारणात्॥ आनन्दवर्धन

वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोटं च पद वाक्ययोः।
व्यंजयन्ति व्यंजकत्वेन यथादीप प्रभादयः॥ भर्तृहरिः

इसी को अभिनवगुप्त स्पष्ट करते हुए पुनः कहते हैं —

यथैव हि प्रदीपद्वारेण घट प्रतीतौ उत्पन्नायां न प्रदीप प्रकाशो निवर्तते तद्वत् व्यंग्य प्रतीतौ वाच्यावभासः।

ध्वान्यालोकलोचन में स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त बताते हैं—

न तु वाच्यस्य सर्वथा अनवभासः। अतएव तृतीयोद्योते घटप्रदीपदृष्टान्त-बलात् व्यंग्यप्रतीति कालेऽपि वाच्यप्रतीतिर्न विघटति इति वक्ष्यति, तेन सः

अस्य ग्रन्थस्य न विरोधः ।[1]

द्वितीय स्तर पर उच्चरित या श्रूयमाणध्वनि एवं अर्थ के बीच वैयाकरणों ने व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध माना है । ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए यह मूलाधार है—

ग्रहणग्राह्यो सिद्धा नियतयोग्यता यथा ।
व्यंग्यव्यंजकभावेन तथा स्फोटनादयो ॥

नाद एवं स्फोट के बीच व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध है । नाद ध्वनि है और स्फोट स्फुटित शब्द या अर्थ । व्यंग्य को आलोक स्फुट करके प्रतीति का विषय बनाता है, इसलिए आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं—

ध्वनति यः स व्यंजकः शब्दो ध्वनिः ।

स्फोट का तीसरा तत्त्व श्रयमाण वर्णों की निरन्तरता है । वर्ण एक दूसरे के उच्चरित होने पर क्रमशः नष्ट होते जाते हैं, इस सम्बन्ध में स्फोटवादी स्वीकार करते हैं कि उच्चरित वर्णों की पूर्वापरता से श्रोता के मन में अनुभव का संस्कार उत्पन्न होता है और पद के अन्तिम वर्ण के उच्चारण के बाद मन में स्थित पद तत्पश्चात् पदार्थ की प्रतीति होती है । अर्थ का सम्बन्ध ध्वनि से उसी प्रकार है, जैसे प्रदीप के आलोक का घट से । अर्थ पहले ही श्रोता के हृदय में वासना की भाँति वर्तमान है । ध्वनि दीपक-प्रकाश की भाँति अंधकार में स्थित घटादि रूप अर्थ को आलोकित मात्र करते हैं । इसीलिए ध्वन्यर्थ को व्यंग्य, प्रतीयमान, भासित, आलोकित अर्थों की संज्ञा दी जाती है ।

ध्वनिवादी आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मटाचार्य काश्मीर के शैवागम सिद्धान्त के समर्थक रहे हैं । व्याकरण के स्फोटवाद एवं वाच्य से व्यंजित व्यंग्य को पुष्टि के लिए इन्हें व्यक्तिगत शैवागम सिद्धान्त भी मिला । 'शिव' एवं 'शक्ति' को परम्परा में क्रमशः अर्थ और ध्वनि (वाणी) का प्रतीक माना गया है । ज्ञान, इच्छा, क्रिया रूप शक्ति ही समग्र वाणी व्यापार के प्रेरक रूप में है । शिव तत्त्व 'परावाक्' के रूप में मात्र आस्वाद्य है । परा, पश्यन्ति, वैखरी परावाक् के हेतु है । 'परावाक्' की स्थिति में पहुँचकर वाणी व्यापार का कार्य समाप्त हो जाता है । 'परावाक्' वाणी रहित वाणी है । वह मूलतः परा, पश्यन्ति, वैखरी के परिणाम रूप में 'आस्वाद्य स्वरूप' शिव तत्त्व है । रस आस्वाद्य रूप ध्वनि का इतर पयार्य है जो इस परावाक् रूप शिव तत्त्व का ठीक समानार्थी प्रतीत है । साधना में आस्वाद्य रूप 'परावाक्' ही काव्य साधना के आस्वाद रूप रस (ध्वनि)

---

१. ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ३२

का अर्थ देता है। अतः ध्वनि सिद्धान्त के पोषण में शैवमत' की स्थापनाएँ विशेष रूप में सहायक दिखाई पड़ती हैं। श्री पी०वी० कणे ने ध्वनि को वेदांत पर आधारित बताया है।[1]

जैसा कि निर्दिष्ट किया जा चुका है, ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तकार आचार्य आनन्दवर्धन ने विधि एवं निषेध दो तत्त्वों के माध्यम से अपनी ध्वनि विषयक स्थापना को रखा है। विधि रूप स्फोटवाद है। यह ध्वनि सिद्धान्त का मूलाधार है। निषेध रूप में, वे सिद्धान्त हैं, जो या तो अभिधा, लक्षणा से इतर व्यंग्य (ध्वनि) शक्ति को मानते ही नहीं, या लक्षणाशक्ति में इसका अन्तर्भाव मानते हैं, या ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार तो करते हैं किन्तु उसे विश्लेषण का विषय नहीं मानते। प्रथम मत के समर्थक मीमांसक हैं, जो अभिधा शक्ति के अन्तर्गत ही ध्वनि का समाहार कर लेते हैं। मीमांसक कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकर भट्ट ने क्रमशः अपने सिद्धांतों को अभिहितान्वयवाद' तथा' अन्विताभिधानवाद के माध्यम से 'तात्पर्य' के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए स्पष्ट रूप से प्रतिपादत करते हैं कि व्यंजना या ध्वनि जैसी कोई शक्ति नहीं है।२ आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट तात्पर्य का खण्डन करते हुए व्यंग्य रूप ध्वनि के अस्तित्व का निभ्रान्त शब्दों में प्रतिपादन करते हैं।

शब्द शक्ति के सन्दर्भ में 'उपचार शक्ति' का निरूपण किया जा चुका है। लक्षणावादी आलंकारिक व्यंग्य व्यापार को 'उपचार' आक्षेप, समासोक्ति या 'अलंकार्य' तत्त्व के रूप में इसे स्वीकृति प्रदान करते हैं।

रसवादी आचार्य व्यंग्य रूप रस का सम्बन्ध केवल आस्वादन से मानते हैं। उनके अनुसार यह आस्वादन भोग का विषय है, बुद्धि का नहीं, इसलिए इसका विश्लेषण सम्भव नहीं है।

आचार्य आनन्दबर्धन की ध्वनि-सिद्धान्त-स्थापना में सर्वप्रथम निषेध रूप में इन तीनों मतों का उल्लेख करते हैं—

> काव्यस्यात्मा ध्वनिरित बुधैर्यसमम्नात पूर्व—
> स्तस्याभावं जगदुरपरेभाक्त माहुस्तमन्ये।
> केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं,
> तेनब्रूमः सहृदयमनः प्रतीये तत्स्वरूपम्॥

इस श्लोक में क्रमशः अभाववाद एवं अनिर्वचनीयतावाद के नाम से ऊपर

---

१. देखिए, Histroy of sanskrit poetics. Kane. Dwani School

२. द्रष्टव्य-'व्यंजना प्रकरण'

निर्दिष्ट निषेधों का उल्लेख किया गया है। आचार्य आनन्दवर्धन के पश्चात् ध्वनि सिद्धान्त को काव्यशास्त्रीय जगत में पर्याप्त विरोध का सामना करना पड़ा था। प्रमुख विरोधियों में भट्टनायक, अलंकारवादी कुंतक, मीमांसक मुकुलभट्ट, नैयायिक महिमभट्ट आदि ने ध्वनि सिद्धान्त का कट्टरतापूर्वक विरोध किया। जयरथ 'अलंकार सर्वस्व' की टीका के अन्तर्गत अपने पूर्ववर्ती किसी शास्त्रकार के दो श्लोकों का उल्लेख करते हैं, जिसके अनुसार ध्वनि के १२ विरोधीमत सिद्ध होते हैं—

तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमितीद्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचिन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः॥
रसस्यकार्यताभोगः व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः। [1]

१. तात्पर्य (मीमांसा) २. अभिधा (प्राचीन मीमांसक तथा मुकुलभट्ट), ३. लक्षणलक्षणा ४. जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था दो प्रकार की लक्षणाएँ ५, ६. दो प्रकार के अनुमान ७. अर्थापत्ति ८. तन्त्र—श्लेषादि द्वयर्थक प्रयोग कौशल ९. समासोक्ति तथा अन्य अलंकार १०. रसकार्यता (दण्डी एवं भट्ट लोल्लट मत) ११. भोग व्यापार (भट्टनायक) १२. व्यापारान्तरबाधनम् (अलंकार्यः कुन्तक)

आनन्दवर्धन जिस ध्वनि को स्थापित करते हैं, वह न तात्पर्य है, न लक्षणा है, न अनुमान है, न अनिर्वचनीय रस रूप है, न अलंकार्य है, न अर्थापत्ति है, और न अलंकार रूप। वह इनमें अन्तर्भुक्त भी नहीं है। ध्वनि इन सबसे भिन्न स्फोट स्वभाव से मण्डित विशिष्ट तत्त्व है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

जहाँ अर्थ स्वयं को अथवा शब्द अपने को गौणीभूत करके उस अर्थान्तर विशेष को अभिव्यक्त करे वह काव्यभेद वैयाकरणों द्वारा ध्वनि के नाम से पुकारा जाता है।

यहाँ दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं—

१. अर्थ का अपने को गौण बनाना तथा शब्द का अपने को गौण बनाना

२. एक अन्य अर्थ विशेष को व्यक्त (व्यजित) करना

अन्य अर्थ विशेष का 'व्यंजित' होना—इस व्यंजित होने वाले अर्थ विशेष के आनन्दवर्धन "प्रतीयमान" की संज्ञा देते हैं। इस 'प्रतीयमान' का अर्थ है,

---

१. श्रृंगार प्रकाश, डॉ० वी० राघवन्, पृ० १४०

भासित या आलोकित अर्थ, जैसे स्फोट सिद्धान्त के अन्तर्गत आलोक से 'घट' ज्ञान आभासित होता है। यह अर्थ सहृदय संस्कारजन्य है, सहृदय में वासना रूप में स्थित यही 'प्रतीयमान' आलोकित है। ध्वन्यालोक में इसे स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं—

आलोकार्थी यथादीपशिखायां यत्नवान जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥
यथा पदार्थ द्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥
स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थप्रथयन्नपि।
यथा व्यापार निष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते॥

यही नहीं, इस 'प्रतीयमान' का स्वरूप क्या है? क्या यह शब्द, अर्थ एवं भावना व्यापार से भिन्न कोई अन्य तत्त्व है। आचार्य अभिनव गुप्त इस 'सः' की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि—

"अर्थो वा, शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनितीति, शब्दोऽप्येवम्। व्यंग्यो वा ध्वन्यते इति व्यापारो वा शब्दार्थमोर्ध्वननम्। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्"। इस प्रकार वह प्रतीयमान, अर्थरूप, शब्द रूप, व्यापार रूप तीन प्रकार का है। इसीलिए अभिनवगुप्त ध्वनि की जब व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा देते हैं, तो इस प्रतीयमान का कार्यक्षेत्र अत्यधिक विशद हो उठता है—

१. ध्वनतीति ध्वनिः, यह कर्तृव्युत्पत्तिमूलक प्रतीयमान है।
२. ध्वन्यते इति ध्वनिः, यह शब्दार्थ एवं वाच्यार्थ रूप प्रतीयमान है।
३. ध्वनयति इति ध्वनिः—यह भी कर्तृव्युत्पत्तिमूलक प्रतीयमान है।
४. ध्वन्यतेऽस्मिन् इति ध्वनिः यह काव्य रूप प्रतीयमान है।

इस प्रकार, व्यापार भेद से ध्वनि के पाँच व्यावहारिक भेद होते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त इसे स्पष्ट करते हुए बताते हैं—

'अत्रोक्तप्रकार इति पंचस्वर्थेषुयोज्यम्। शब्देऽर्थे व्यापारे व्यंग्ये समुदाये च'।

१. शब्द रूप ध्वनि—"ध्वनति ध्वनयति वा वाचको शब्दः ध्वनिः" अर्थात् जो ध्वनित होता है या ध्वनित करता है, वह वाचक शब्द ध्वनि है। शब्दशक्ति उद्भव ध्वनि का आधार यही तत्त्व है। यह अनुस्वानाभ या संलक्ष्य क्रम के भेद के रूप में वर्णित है। जहाँ 'शब्द' मात्र से 'वस्तु' एवं 'अलंकार' व्यंजित हो वह शब्द रूप ध्वनि है।

२. **अर्थ रूप ध्वनि**—जहाँ अर्थ व्यापार से वस्तु, अलंकार परस्पर व्यंजित हों उसे अर्थ रूप ध्वनि के रूप में स्वीकार किया जाता है।

३. **व्यापार-रूप**—यह व्यापार रूप 'ध्वनि' अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा आदि से भिन्न चतुर्थ व्यापार ध्वनन, द्योतन, व्यंजन, प्रत्यायन, अवगमन आदि रूपों में अर्थ समावाय व्यापार से सम्बद्ध अभिप्राय को व्यक्त करता है।

४. **व्यंग्य रूप ध्वनि**—विशेष रूप स व्यंजित वह तत्त्व जिसे असंलक्ष्य या रस रूप कहा जाता है। यह शब्द, अर्थ व्यापार में निहित होता हुआ भी, अनिर्वचनीय तत्त्व के रूप में सहृदय के हृदय में आलोकित तथा आभासित होता है। इसके लिए अन्तिम प्रमाण सहृदय का हृदय ही है। पद, वाक्यादि उसको आलोकित कराने के साधन मात्र हैं।

समुदाय रूप—प्रबन्ध ध्वनि ही अन्तिम समुदाय स्वरूप ध्वनि है। काव्य के उद्देश्य एवं अङ्गिन् रस के रूप में अभिव्यक्त तत्त्व इसी समुदाय रूप ध्वनि का उदाहरण माना जाता है।[1]

आचार्य मम्मट ध्वनि के तीसरे परिभाषाकार है। वे इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः

अर्थात् "वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य के अधिक चमत्कार युक्त होने पर यह काव्य उत्तम होता है, और विद्वानों ने इसे ध्वनि (काव्य) के नाम से पुकारा है।

आचार्य मम्मट की यह परिभाषा काव्यमूलक है। काव्य की परिभाषा के पश्चात् वे इसे ध्वनि सिद्धान्त के आलोक में तीन भागों में विभक्त करते हैं—उत्तम (ध्वनि काव्य), संकीर्ण या गुणीभूत व्यंग्य एवं अवर या चित्रकाव्य। उत्तम या ध्वनिकाव्य का विवेचन ध्वनि के आलोक में करते हैं—परिणामस्वरूप ध्वनि की परिभाषा एवं व्याख्या के लिए भी पर्याप्त स्थान मिल जाता है।

'वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का अतिशयित होना' यह आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त की मान्यताओं का ही शब्देतर से पुनराख्यान मात्र है। ध्वनि वहाँ भी रूप में नहीं है, जहाँ वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ के सदृश लोकोत्तर एवं चमत्कारी हो इनके अनुसार यह स्थिति गुणीभूत व्यंग्य एवं चित्र काव्य की है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ही ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य एवं चित्र को ध्वन्यालोक में मान्यता दी थी, इसी मान्यता के आलोक में आचार्य मम्मट एवं पण्डितराज जगन्नाथ

---

१. देखिए आनन्दवर्धन—रेवाप्रसाद द्विवेदी

ध्वनि की एवं उत्तम काव्य की परिभाषा दोनों एक साथ प्रस्तुत करते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ उत्तमोत्तम काव्य रूप ध्वनि (काव्य) के लिए प्रायः आनन्द-वर्धन की ही पुनरावृत्ति करते हैं—

"जिसमें शब्द एवं अर्थ दोनों अपने को अप्रधान बनाकर किसी चमत्कारपूर्ण अर्थ को व्यंजित करें वह उत्तमोत्तम काव्य है।"

ध्वनि की परिभाषा, इस प्रकार दो अभिप्रायों से युक्त है—

१. जहाँ शब्द एवं अर्थ अपने को अप्रधान बनाकर उस (प्रतीयमानः व्यंग्य) अर्थ को व्यक्त करें, वह प्रतीयमान अर्थ विशेष ध्वनि है।
२. जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अतिशयित या उत्कर्ष प्रधान हो,—वह ध्वनि है।

इन दोनों कथनों में शब्दभेद मात्र परिलक्षित होता है। शब्द एवं अर्थ के स्वार्थ की प्रधानता का अर्थ वाच्यार्थ है। यह वाच्यार्थ जब भी प्रधान होगा, निश्चित रूप से अन्य अर्थ व्यंजित होगा और दोनों अर्थों के बीच ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध होगा। ज्ञाप्य नष्ट नहीं होता और ज्ञापक के साथ ही वह व्यंजित होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'शब्द एवं अर्थ' के सन्दर्भ में 'ध्वनति' 'ध्वनयति' यः स वाचको शब्दो अर्थो वा ध्वनिः।" अर्थात् वह वाचक शब्द या अर्थ जो ध्वनित होते हैं, या ध्वनित कराते हैं उसे ध्वनि कहा है। एक वाचक शब्द 'ध्वनित' कैसे होगा, इसका उदाहरण साहित्यशास्त्र में नहीं मिलता और ध्वनित होने वाले शब्द का स्वरूप क्या होगा, अर्थात् वह अभिधेय होगा, या व्यंग्य। वह वस्तुतः अभिधेय ही होगा। सम्भव है, गुणीभूत व्यंग्य को ध्वनि में समाहित करने के लिए इस प्रकार की स्थिति निर्दिष्ट की गई हो।

ध्वनि की उपर्युक्त परिभाषा में गुणीभूत व्यंग्य एवं चित्रकाव्य का समाहार उसमें निभ्रान्त रूप से नहीं हो पाता। कारण-स्पष्ट है, गुणीभूत व्यंग्य को परि-भाषित करते हुए ध्वनिकार बताता है—

"काव्य का एक अन्य प्रकार का भेद गुणीभूत व्यंग्य है, जहाँ व्यंग्यार्थ के संस्पर्श से वाच्यार्थ का चमत्कार उत्कर्षवान हो उठता है।"

इस कथन का अभिप्राय यह है कि शब्द एवं अर्थ वाच्यार्थ का परित्याग नहीं करते, फिर भी, उनमें रमणीकता एवं चारुत्व की निष्पत्ति होती है, व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान) के सम्बन्ध से। जब शब्द एवं अर्थ स्वार्थता का परित्याग नहीं करेंगे, तो प्रनीयमान की निष्पत्ति कैसी होगी? और जब, निष्पत्ति नहीं होगी तो, वह अभिधेयार्थ का संस्पर्श कैसे करेगा? शायद, आनन्दवर्धन काव्य में निहित तात्पर्य रूप अभिप्राय को जहाँ व्यंग्य या प्रतीयमान की संज्ञा देते हैं। यदि ध्वनि

की यह तात्पर्य रूप संज्ञा होगी तो 'स्वार्थ' का परित्याग कैसे होगा, इसीलिए अभिनवगुप्त ने सम्भवतया व्यापार रूप ध्वनि की कल्पना की। इस व्यापार रूप ध्वनि को स्पष्ट करते हुए आचार्य भोज ने 'शृंगार प्रकाश' में बताया है—

तात्पर्यमेववचसि ध्वनिरेव काव्ये,
सौभाग्यमेव गुणसम्पदि वल्लभस्य।
लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनायाः,
शृंगार एव हृदि मानवतो जनस्य।

वैसे, व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट गुणीभूत व्यंग्य की इस असंगति को एक महत्त्वपूर्ण आधार मानते हुए, ध्वनिकार की ध्वनि व्याप्ति एवं औचित्य विषयक मान्यताओं का खण्डन करते हैं—

यदि काव्ये गुणीभूत व्यंग्येऽपीष्टैव चारुता।
प्रकर्षशालिनी, तर्हि व्यर्थ एवादरो ध्वनौ।
न हि काव्यात्मभूतस्य ध्वनेस्तत्रास्ति सम्भवः।
तेन निर्जीवतैवास्य स्यात् प्रकर्षे कथैव का॥

अर्थात्—यदि गुणीभूत व्यंग्य काव्य में भी प्रकर्षयुक्त चारुता मान्य ही है, तो फिर इसका ध्वनि में आदर व्यर्थ है। यही नहीं, जब गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि नहीं है तो काव्यात्मा भी नहीं है, अतः यह निर्जीव सिद्ध है, फिर इसके अर्थ के प्रकर्ष की चर्चा करना निरर्थक है। कुछ भी हो, गुणीभूत-व्यंग्य एवं चित्रकाव्य दोनों में चारुता एवं चमत्कृति की स्थिति उसे काव्यत्व की सीमा में रखती है।

ध्वनि तथा काव्यात्मा की समस्या

काव्य की आत्मा ध्वनि है, इसे आनन्दवर्धन ने निभ्रान्त शब्दों में स्थापित किया है। यही नहीं, उन्होंने यह भी बताया है, कि बुधजन इसे बहुत पूर्व स्थापित कर चुके हैं—

'काव्यस्यात्माध्वनिरितिबुधैर्यःसमन्नात् पूर्व'।

परम्परा में, वैयाकरणों का स्फोटवाद मिलता है, जो काव्य से किंचित्रूपेण सम्बद्ध नहीं है। अलंकार, रीति, गुण, रस सिद्धान्त के विवेचकों ने काव्य में निहित प्रधानभूत व्यंग्य तत्त्व की स्थापना विविध शब्दों एव विविध रूपों में की है, किन्तु ध्वनि का उल्लेख इस रूप में नहीं किया है। ध्वनिकार के इस मन्तव्य से कि दूसरों ने उसे भक्ति कहा, किसी ने उसके तत्त्व को वाणी के अविषय रूप में स्थित माना और किसी ने उसे पूर्णतया अस्वीकार करते हुए उसके स्थान पर प्रतिस्तूपमा, पर्यायोक्ति, समासोक्ति, आक्षेपादि को व्यंग्य एव काव्य की मूल चम-

त्कारिक चेतना के रूप में स्वीकृति दी । आचार्य आनन्दवर्धन इस प्रारम्भिक श्लोक की प्रथम पंक्ति में काव्यात्मा के रूप में स्थित उसके पूर्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं कर पाते । इस तथ्य को वे ध्वन्यालोक के अन्तिम उद्योत को पुनः स्पष्ट करते हैं—

विमति विषयो यः आसीन् मनीषिणां सततमविदितस्तत्त्वः
ध्वनि संज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यंजितः सोऽयम् ॥

जो सतत् रूप में विद्यमान होते हुए भी मनीषियों के लिए सतत् अविद्यमान जैसा है काव्य के उस स्वरूप का ध्वनि संज्ञा से वर्णन किया गया है ।

आचार्य आनन्दवर्धन का यह कथन प्रथम श्लोक की प्रथम पंक्ति के मन्तव्य को ओर संकेत करता है कि शब्दार्थ से अभिव्यक्त होने वाले वे विशिष्ट तत्त्व जिनको काव्य के मूलतत्त्व के रूप में इनके पूर्ववर्तियों ने स्वीकार कर रखा है, प्रकारान्तर से उसे एक व्यवस्थित सिद्धान्त का रूप देकर ध्वनिकार उसी का विधिवत् विवेचन करता है । काव्यात्मा से सम्बन्धित ध्वनिकार के अन्य दो श्लोक और भी हैं—

अर्थसहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्यभेदावुभौ स्मृतौ ॥

× × ×

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे पुरा ।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

अर्थ जो सहृदय श्लाघ्य होने के कारण काव्य की आत्मा माना गया है, उसके वाच्य और प्रतीयमान नायक दो भेद माने गये हैं ।

वही अर्थ काव्य की आत्मा है, (और वह वैसा ही लोक में देखा जाता है) पहले आदि कवि का क्रौंच के जोड़े के वियोग से उत्पन्न शोक ही श्लोक के रूप में उत्पन्न हुआ ।

सहृदय श्लाघ्य प्रतीयमान अर्थ क्या स्वतः सत्त्वोद्रेक से स्फूर्त होने वाला रस है, ऐसी बात नहीं है । आनन्दवर्धन 'रस' को प्रधानरूप से ग्रहण करते हैं, साथ-ही-साथ काव्य में शब्दार्थ के स्वार्थत्याग से निष्पन्न होने वाले व्यंजना-प्रपंच को भी प्रमुखता के साथ स्वीकृति प्रदान करते हैं । यह सत्य है कि शब्दार्थ के स्वार्थ त्याग से अभिव्यक्त वस्तु एव अलंकार ध्वनि मूलतः रसध्वनि के हेतु के रूप में हैं । 'वस्तु एव अलंकार' भी अपने स्वार्थ का परित्याग करके रस को ही अन्ततया व्यक्त करते हैं, अतः 'सहृदयश्लाध्य अर्थ', काव्यात्मा के लिए हेतु भी है, और अपने में शब्दार्थ के स्वार्थ त्याग से अभिव्यक्त लक्ष्य भी । इस प्रकार काव्या-

त्मा के रूप में सत्त्वोद्रेक से उत्पन्न रस को ही ग्रहण किया जा सकता हैं, यद्यपि ध्वनिकार 'सहृदयश्लाघ्य अर्थ' एव रस को प्रतीयमान के रूप स्वीकार करके उसे लवण्य की भाँति शरीर के अवयव विशेष से विलक्षण मानता है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेववस्त्वस्तु वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत्प्रसिद्धमवयवातिरिक्तं विभातिलावण्यमिवाङ्गनासु ।।

एक स्थल पर स्पष्ट करते हुए उस प्रतीयमान को 'युवतियों में स्थित लज्जा आभूषण' के समान माना है—

मुख्यामहाकवि गिरामलंकृतिभृतामपि,
"प्रतीयमानात्वन्यैव भूषा लज्जेव योषिताम्"

योषिताओं में अन्य से भिन्न 'लज्जा' की भाँति या अवयवादि से भिन्न 'लावण्य' की भाँति प्रतीयमान (व्यंग्य) ही काव्यात्मा है। काव्य के सन्दर्भ में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

१. गुण विशेष	(शरीर गुण की भाँति)	= गुण स्वार्थ का परित्याग करके अन्य के लिए = प्रतीयमान
२. रीति	(अंग संस्थान की भाँति)	= रीति रीति के लिए नहीं अन्य प्रतीयमान के लिए
३. अलंकार	(अलंकार की भाँति)	= अलंकार अलंकार के लिए नहीं अपितु अन्य प्रतीय-मान के लिए
४. शब्द रचना	= शरीर रचना	= शब्द रचना मात्र शब्द रचना के लिए नहीं अन्य प्रतीयमान के लिए
५. अर्थ रचना	= आन्तरिक शरीर रचना	= अर्थ रचना मात्र अर्थ रचना के लिए नहीं वरन् अन्य प्रतीयमान के लिए

इस तर्क संगति में दोनों स्थितियाँ स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। काव्य में गुण, रीति, अलङ्कार, शब्द एवं अर्थ मात्र स्वार्थ के लिए रचे जाते हैं तो काव्य का स्वरूप निश्चित ही स्खलित होगा। कविता में रीति विन्यास केवल रीति के लिए, गुण विन्यास केवल गुण प्रदर्शन के लिए या अलंकार रचना केवल अलङ्कार प्रदर्शन के लिए होंगे तो निश्चित हो काव्य श्लाघ्य नहीं होगा। रीति का लक्ष्य-रीति से भिन्न गुण का प्रयोजन गुणेतर की अभिव्यक्ति एवं अलङ्कार

रचना का प्रयोजन किसी अन्य अलङ्कार्य के अभिव्यक्त होने पर ही वह काव्य सहृदयश्लाघ्य होगा। यह सहृदयश्लाघ्य अर्थ रीति, गुण एवं अलङ्कार में अधिष्ठित होते हुए भी रीति, गुण एवं अलङ्कार से भिन्न कुछ अन्य है। यही अन्य ही प्रतीयमान है, अङ्गादि में स्थित लावण्य की भाँति अङ्गादि से व्यतिरिक्त है। यही अर्थ काव्यात्मा है। यही अर्थ सहृदयों के लिये आस्वाद्य होकर रस रूप में अभिव्यक्त होता है। किसी काव्य में रीति, गुण, अलङ्कारादि आस्वाद्य नहीं होते, आस्वाद्य तो उनमें निहित प्रतीयमान होता है। प्रतीयमान का यह आस्वादन ही रसास्वादन की उच्चतम विश्रान्ति भूमिका है। रीति, गुण, अलंकारादि अपनी संकीर्ण सीमा में आस्वादन के विषय बन सकते हैं। उनमें निहित लेशमात्र चमत्कार भी मन के आवेश एवं कौतूहल की शान्ति कर सकते हैं, गुणीभूतव्यंग्य एवं चित्रकाव्य की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है।

ध्वनिकार ने काव्यात्मा की समस्या का समाधान दो रूपों में किया है—

१. ध्वन्येतर अन्य सिद्धान्तों की स्वायत्तता का खण्डन करके

२. ध्वनि में अन्य सिद्धान्तों का समाहार करके

१. ध्वन्येतर अन्य सिद्धान्तों की स्वायत्तता का खण्डन

आचार्य आनन्दवर्धन ने रस को छोड़कर अन्य शेष अलङ्कार, रीति एवं गुण सिद्धान्तों की स्वायत्तता का खण्डन किया है। इसके अनुसार अलङ्कार अपने में स्वतन्त्र रहकर चारुत्व का हेतु नहीं बनता। वह रस को उद्दीप्त कराने का एक साधन मात्र है। रस इनके अनुसार ध्वनि की आत्मा है। इस आत्म के सुकरता पूर्वक अभिव्यक्त होने में वह माध्यम बनता है—

तमर्थमलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्या कटकादिवत्॥

उस प्रधानभूत अङ्गिन् के आश्रित रहने वाले जो माधुर्यादि हैं, उन्हें गुण कहते हैं, और जो अङ्ग (शब्द तथा अर्थ) में आश्रित रहते हैं, उन्हें कटकादि अलङ्कार के सदृश अलङ्कार कहते हैं। इस प्रकार 'शब्द एवं अर्थ' के आश्रित रह कर गुणादि के माध्यम से ये प्रधानभूत रस से जुड़ते हैं। आगे चल कर, आचार्य मम्मट ने इसे स्पष्ट करते हुए बताया है।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गाद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

जो शब्दार्थ रूप अङ्ग के द्वारा कभी-कभी अङ्गीभूत रस का उपकार करते हैं, वे अनुप्रास उपमादि हारादि के समान अलङ्कार है।

आचार्य आनन्दवर्धन के मन्तव्य को मम्मट ने और स्पष्टतापूर्वक रखने का प्रयास किया है। इससे स्पष्ट है कि अलङ्कार का मुख्य कार्य काव्यात्मा रूप रस की अभिव्यक्ति के लिए परिस्थिति निर्मित करना है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने रूपकादि अलङ्कारों की रसाभिव्यक्ति की परिस्थिति के निर्माण की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। उन्होंने बताया है कि इन अलङ्कारों का रसभिव्यक्ति के संदर्भ में मात्र इतना ही औचित्य है—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन्।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥
निर्व्यूढापि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकारादिलंकार वर्गस्याऽङ्गत्वसाधनम् ॥

अलङ्कारादि के स्वस्थ प्रयोग की ओर संकेत करते हुए उन्होंने बताया है :—

रसभावादि तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वेषामलंकारत्वसाधनम् ॥

अर्थात्, अलङ्कार का प्रयोगौचित्य इतना ही है कि वह रस भावादि का अङ्ग बन कर रहे। यही नहीं, उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि यदि अलङ्कार रस या व्यंग्य बनकर रहता है, तभी वह ध्वनि (उत्तम काव्य) का विषय भी है, अन्यथा नहीं—

अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नाऽसौ मार्गोध्वर्नेमतः ॥

आचार्य आनन्दवर्धन का मुख्य उद्देश्य अलङ्कार सिद्धान्त के बढ़ते हुए महत्त्व को समाप्त करना था। इनके इस सिद्धान्त-संस्थापन से सबसे बड़ी क्षति इसी सिद्धान्त को उठानी पड़ी। वह जो काव्य की ग्राह्यता का एकमात्र आधार था, ध्वनिकार की मान्यताओं से उसे कविता कामिनी की ग्रीवा या भुजमूलों तक सीमित हो जाना पड़ा। अलङ्कार की अङ्गभूतता के लिए ध्वनिकार द्वारा दिये गये सबल-प्रबल तर्क निश्चित ही प्रभावशाली हैं।

गुण-सिद्धान्त की भी यही स्थिति दिखाई पड़ती है। आचार्य वामन ने रीति को काव्यात्मा घोषित करते हुए गुण को रीति की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। रीति में प्राण प्रतिष्ठा गुण से ही होती है, और इस प्रकार गुण तथा रीति के बीच निहित अनिवार्य सम्बन्ध के कारण रीति गुणाश्रित समझी जाती थी। आनन्दवर्धन ने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए बताया है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ॥

उस प्रधानभूत अङ्गी रस के आश्रित रहने वाले गुण अपने में स्वतन्त्र नहीं हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे स्पष्ट करते हुए बताया है—

वस्तुतो माधुर्यनाम् शृङ्गारादेः रसस्यैव गुणाः। मधुर शृंगार-रसाभिव्यक्ति समर्थता शब्दार्थयोः माधुर्यमिति। ओज, प्रसाद एवम् माधुर्य द्रुति, दीप्ति एवम् व्यापकत्व धर्म के द्वारा शृङ्गार, करुण, रौद्र, वीभत्स, भयानकादि रसों को व्यक्त करते हैं, इसको गुण सिद्धान्त के सन्दर्भ में स्पष्ट किया जा चुका है। आचार्य मम्मट ने 'रीति एवं गुण' के नित्य सम्बन्ध को खण्डित करते हुए ध्वनि के रस से अनिवार्य आश्रित धर्म के रूप में इसे जोड़ा।

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादिव आत्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

यही नहीं, रस एवं गुण के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए वे बताते हैं—

आह्लादकत्व माधुर्यं शृंगारे द्रुति कारणम्।
करुणेविप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥
दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।
वीभत्स रौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥
शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥[1]

करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार एवं शान्त में वह अधिक चमत्कारजनक होता है। चित्त के द्रवीभाव का कारणभूत आह्लादकत्व जिस प्रकार माधुर्य गुण कहलाता है, उसी प्रकार वीर रस में रहने वाला चित्त के विस्तार का हेतुभूत ओज है।

वीभत्स एव रौद्र रसों में इसका आधिक्य रहता है। सूखे ईंधन में अग्नि के सदृश धुले हुए वस्त्र में जल के सदृश चित्त में सहसा व्याप्त हो जाने वाला तथा समस्त रसों में वर्तमान प्रसादगुण कहा जाता है।

आचार्य मम्मट ने, अन्त में, यह भी स्वीकार किया है गुणवृत्ति अर्थात् उपचार वृत्ति (मुख्यार्थबाध दृष्टि से) से यह शब्दार्थ में भी रहता है।

आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा निर्दिष्ट गुण गौणता का यह सिद्धान्त मम्मट द्वारा व्यस्थित रूप से विवेचित किया गया और आज भी प्रायः यही मान्य है।

रीति सिद्धान्त की स्वायत्तता का भी खण्डन ध्वनिकार ने स्पष्ट शब्दों में

---

१. काव्य प्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ६८-७०

किया है। रीति पद संघटना रूप में गुणों के आश्रित रहकर परोक्षतः रस को अभिव्यक्त होने के लिये परिस्थिति का निर्माण करती है। उसे वृत्ति के नाम से पुकारते हुए उपनागरिका (वैदर्भी), परुषा (गौड़ीया), कोमला (पांचाली) के रूप में प्रतिष्ठित करके शब्द संघटन के धर्म के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं—

गुणानामाश्रित्यतिष्ठन्ती माधुर्यादीनव्यनक्ति सा।
रसान्······।

वह प्रत्यक्षतः रस से भी नहीं जुड़ी हुई है। उसका कार्य केवल गुण को शक्ति प्रदान करना है, और गुण रस के धर्म के रूप में उसे अभिव्यक्त करने के माध्यम बनते हैं। वह प्रत्यक्षतः काव्यात्मा ध्वनि (रस) के समीप तक नहीं फटक पाती। परवर्ती आचार्यों में अभिनवगुप्त, मम्मट और साहित्य दर्पणकार ने प्रकारान्तर ने इसी मान्यता का पोषण किया है।

अलङ्कार, गुण एवं रीति के इस विवेचन से स्पष्ट है कि ये काव्य के प्रधान भूत तत्त्व नहीं हैं। प्रधानभूत तत्त्व प्रतीयमान एवं उसमें विशिष्ट रस है। उस विशिष्ट आत्मा रूप प्रतीयमान तत्त्व के पोषण के हेतु के रूप में वर्तमान अलङ्कार, गुण एवं रीति काव्य के साध्य नहीं हो सकते। अतः ध्वनिकार इन्हें काव्यात्मा के रूप में स्वीकृति देना समीचीन नहीं समझता। इस प्रकार, ध्वनि से भिन्न अलंकार, गुण तथा रीति सिद्धांतों की पूर्व आचार्यों द्वारा निर्धारित स्वयत्तता स्वतः समाप्त हो जाती हैं। ये ध्वनि की अभिव्यक्ति के माध्यम या साधन मात्र हैं।

ध्वनि में शेष सिद्धान्तों का समाहार

आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की स्वायत्तता का खण्डन करने के पश्चात् वाच्य या व्यंग्य रूप में उन्हें ध्वनि में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया है। ध्वनि सिद्धान्त के दोनों पक्ष—वाच्य एवं व्यंग्य के बीच उद्भासक एवं उद्भासित का सम्बन्ध है। वाच्य व्यंग्य को आलोकित करता है, और यहाँ दोनों की सत्ता बनी रहती है, जिसमें लक्ष्य व्यंग्य रूप आलोकित तत्त्व ही है, किन्तु वाच्य का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्व गुण, रीति, अलंकार, रस एवं शब्द शक्ति सिद्धान्त प्रचलित थे। उन्होंने सम्पूर्ण सिद्धान्तों को ध्वनि में समाविष्ट करने की चेष्टा की।

गुण तथा रीति सिद्धान्त—गुण सिद्धान्त का अन्तर्भाव उन्होंने अभिधामूला

ध्वनि के अन्तर्गत (संलक्ष्य क्रम के अन्तर्गत) किया है । वे गुण के सम्बन्ध में बताते हैं—

माधुर्य—

> शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः ।
> तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतिष्ठिति ।
> शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्
> माधुर्यमार्द्रतां याति यतः तत्राधिकं मनः

शृङ्गार ही परम मधुर और अत्यन्त आह्लादक हैं, उस प्रकार के काव्य को आत्मभूत करके प्रसाद गुण आश्रित रहता है ।

प्रसाद—

> सम्पर्कत्व काव्यस्य यतु सर्वरसान् प्रति ।
> स प्रसादोगुणो ज्ञेयो सर्वसाधारणक्रिय ।।

सभी रसों के प्रति काव्य के सम्पर्कत्व उत्पन्न करने वाला एवं सभी रसों में निहित गुण प्रसाद के नाम से जाना जाता है ।

ओज—

माधुर्य गुण—चित्त में आह्लाद एवं आर्द्रता की उत्पत्ति — शृङ्गार रस
प्रसाद गुण—चित्त विगलन — समस्त रस
ओज गुण—चित्त दीप्ति — वीर एवं रौद्र

गुण एवं रस के बीच में समवाय-समवायि सम्बन्ध (बिना एक दूसरे के अस्तित्व की समाप्तिके बिना) है, किन्तु, दूसरी ओर इसका सम्बन्ध संघटना रीति से भी है । रीति को स्पष्ट करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन बताते हैं—

> असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
> तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ।।

(१) समासरहित (माधुर्य) (२) स्वल्पसमास युक्त (प्रसाद)
(३) दीर्घसमास युक्त (ओज)

यह संघटना गुणाश्रित होती है । गुण के संदर्भ में पुनः इसका क्रम इस प्रकार बनाया जा सकता है—

१. समासरहित पदबन्ध—माधुर्य—चित्र में आह्लाद एवं आर्द्रता—शृङ्गार रस
२. स्वल्प समासबन्ध प्रसाद—चित्त विगलन—समस्त रस
३. दीर्घसमासबन्ध ओज—चित्त दीप्ति—वीर एवं रौद्र रस

बन्ध का सम्बन्ध वर्ण योजनाओं से है, अतः इसे पूर्णतः वर्ण योजना पर आश्रित माना जा सकता है। ध्वनि के संदर्भ में 'व्यंग्य रस' तीन माध्यमों से अभिव्यक्त होता है, प्रथम, 'पद रचना' का बाह्य वशिष्ट्य, द्वितीय अर्थ रचना के वाह्य वैशिष्ट्य की संगति के साथ तादाम्य भाव रूप में एवं तृतीय नूतन एवं नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से अनुस्यूत अर्थ स्वरूप में। प्रकारान्तर से शब्दार्थ स्वभाव एवं अर्थ स्वरूप, ये दो अभिव्यक्त रस ध्वनि के लिए आधार हैं। काव्य में रस निष्पत्ति में अर्थ के रूप की भूमिका के साथ-साथ उसके स्वभाव का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। स्वभाव का निर्माण वर्ण, पद, पदांश, संघटना एवं गुण करते हैं। इसके बीच क्रमशः व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध है, ये क्रमशः उत्तरोत्तर एक दूसरे के लिए वाच्य एवं व्यंग्य हैं। ये सब अन्ततया ध्वनि रूप व्यंग्य में अन्तर्भूत होकर अपने व्यक्तित्व का संम्यक्रूपेण विलयन कर देते हैं—

वाच्य = वर्ण एवं पद = व्यंग्य = पद संघटना

वाच्य = पद संघटना = व्यंग्य = गुण

वाच्य = गुण = व्यंग्य = रस

क्रमशः वर्ण एवं पद 7 संघटना 7 गुण 7 रस व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध से अन्ततया रस में विलयन करते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने शब्दालंकारों की भी यही भूमिका निर्धारित की है। अनुप्रास, यमक, श्लेषादि ये वर्ण एवं पद द्वारा एक ओर अर्थ स्वभाव की रचना करते हैं और दूसरी ओर उसके स्वरूप की।

इस प्रकार, गुण, रीति एवं शब्दालंकारों का अपने में कोई विशेष महत्त्व नहीं है! इनकी खायत्तता के त्याग का औचित्यपूर्ण अर्थ भी यही है कि ये अपने रूप का ही त्याग नहीं करते प्रतीयमान को सार्थक बनाने के लिए सर्वथा अपने अस्तित्व का समर्पण भी कर देते हैं। इसीलिए इनका प्रयोग काव्य में इस रूप में किया जाना चाहिए कि ये स्वतन्त्र न प्रतीत हों।

अलंकार एवं ध्वनि—

ध्वनि सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य अलंकारों के बढ़ते हुए महत्त्व को समाप्त करना था। आचार्य आनन्दवर्धन इस कार्य में अधिक सफल हुए। इसको उन्होंने दो रूपों में किया। प्रथम, रस की सर्वोच्चता स्थापित करके, द्वितीय ध्वनि में अलंकार का समाहार करके। जैसा कि, अभी निर्दिष्ट किया जा चुका है, जिस प्रकार शब्द अर्थ के स्वभाव का सम्बन्ध रीति एवं गुण से है, ठीक उसी प्रकार अर्थ के स्वरूप का सम्बन्ध अर्थालंकार से है। आनन्दवर्धन के मन में इन अलंकारों के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार की धारणा वर्तमान थी—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वार्य सोऽलङ्कारो ध्वनै मतः ॥

वे मुख्यतः अलंकार प्रयोग के औचित्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

विवक्षा तत्परत्वेन, नाङ्गित्वेन कदाचन् ।
काले च ग्रहण त्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ।
निर्व्यूढ़ापि च अङ्गत्वे यत्नेनप्रत्यवेक्षणम् ॥
रूपकादिरलंकार वर्गस्याऽङ्गत्व साधनम् ॥

१. रस की प्रधानता का ध्यान २. अलंकारों के अङ्गिरूप में प्रयोग का त्याग ३. यथावसर ग्रहण तथा त्याग ४. प्रयोग की अत्यधिकता का त्याग ५. प्रयोग में अत्यावश्यक होने पर भी इसे केवल अप्रधान रूप में देखना ।

अलंकार विषयक इस धारणा में तथ्य इतना ही है, कि अलंकार ध्वनि के अन्तर्गत तभी स्वीकृत हो सकते हैं, जब वे स्वार्थ का परित्याग कर उस प्रतीयमान (रस) के पोषण के निमित्त प्रयुक्त हों ।

इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने संलक्ष्य क्रम में 'अर्थ शक्ति उद्भव' की कल्पना की । अर्थ शक्ति उदभव संलक्ष्य क्रम ध्वनि के तीन भेद—स्वतः सम्भवी, कवि प्रौढ़ोक्ति एवं कवि निबद्धमान पात्र प्रौढ़ोक्ति इन तीन भेदों के अन्तर्गत, सामान्य, संश्लिष्ट एवं दुरूह सभी प्रकार के अर्थ रूपों को समेटते हैं । यही नहीं, प्रत्येक के चार उपभेदों की कल्पना—१. वस्तु से वस्तु, २. वस्तु से अलंकार, ३. अलंकार से वस्तु एवं ४. अलंकार से अलंकार की कल्पना करके और उन्हें क्रमशः पदगत, वाक्यगत एवं प्रबन्धगत, फिर संकर एवं संस्सृष्टि की कल्पना करके पूर्णरूपेण ध्वनि में अन्तर्भुक्त कर दिखाया । अलंकारों का संबंध अर्थ रचना से है, अर्थ रचना के लघुतम एवं वृहत्तम स्वरूप को निर्दिष्ट करके उसके सरल, वक्र, संश्लिष्ट, साहश्यगर्भित आदि प्रकारों को ध्वनि के अन्तर्गत समाविष्ट किया । संलक्ष्यक्रम ध्वनि के अन्तर्गत इस अर्थ ध्वनि को अपने आप में लक्ष्य नहीं माना है, लक्ष्य तो असंलक्ष्य क्रम रूप रस ध्वनि ही है, जिसकी सहज एवं निभ्रान्त प्रतीति के लिए व्यंग्य रूप ये अर्थ प्रकार वाच्य बन जाते हैं । ये अन्ततया वाच्य ही बन कर रस रूप प्रतीयमान को व्यंजित करते हैं ।

शब्द शक्ति—शब्द शक्ति का प्रकरण मुख्यतः ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उठाया गया है, फिर भी, उसका लक्षणा प्रकरण अलंकार विषयक धारणा के अधिक समीप है । ध्वनि के प्रमुख भेद—शुद्धा, गौणी, सरोपा, साध्यवासना, उपादान एव लक्षण लक्षणाओं तथा प्रारम्भिक चार अलंकार के अन्तर्गत आ जाते हैं । शेष दो, उपादान एव लक्षण लक्षणा को लक्षणामूलाध्वनि के अन्तर्गत रखकर

अर्थान्तर संक्रमित तथा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का नाम वह दे देता है। 'अभिधा व्यापार' को 'शब्द शक्ति' उद्भव संलक्ष्य क्रमध्वनि के रूप में ध्वनिकार प्रस्तुत करता है तथा व्यंजना शक्ति साक्षात् ध्वनि ही है। अतः ध्वनिकार बड़ी ही कुशलतापूर्वक शब्दशक्ति का ध्वनि में अन्तर्भाव करता है।

रस सिद्धान्त—ध्वनिकार रस को ध्वनि की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करता है। यदि काव्य की आत्मा ध्वनि है तो ध्वनि की आत्मा रस। ध्वनि के स्वरूप को पूर्ण सार्थकता रस सिद्धान्त से मिलती है तथा रीति, गुण, अलंकारादि द्वारा इसके उपेक्षित स्वरूप को इसके द्वारा पुर्नप्रतिष्ठा दी गई।

रस 'वाच्य' नहीं है। रस का 'वाच्य' होना स्वशब्द—वाच्यत्व दोष है। 'शब्द' अपने तथा 'अर्थ' अपने स्वरूप का परित्याग करके जिस प्रतीयमान को अन्ततया व्यंजित करते हैं, वह 'रस' ही है। वही काव्य में निहित लावण्य रूप शब्दार्थ शरीर से भिन्न, उनमें स्थित किन्तु उनसे भिन्न प्रतीत होने वाला परम आह्लाद तथा आस्वाद रूप है। वही उसकी सार्थकता तथा रमणीकता का आधार है। वह उसमें होता हुआ भी, उससे भिन्न प्रतीत होता है। रस का स्वभाव ही अभिव्यक्त होना है। आचार्य अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने इसी स्वभाव को आधार बनाकर उसकी परम अलौकिकता का विवेचन किया है अभिनव के अनुसार यह काव्य का मूल बीज एव परमब्रह्म के स्वाद की भाँति सर्वथा काम्य है "सत्त्वा दीनां चांगागिभाववैचित्र्यस्यानन्त्याद् द्रुत्यादित्वेनास्वादगणना न युक्ता। परब्रह्मास्वाद ब्रह्मचारित्व चास्तत्वस्य रसास्वादस्य।"

आचार्य मम्मट भी अभिव्यक्त रस स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बताते हैं—

"हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मस्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः।"

रस के इसी स्वभाव को ब्रह्मास्वाद सहोदर बताते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्व प्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मस्वाद सहोदरः॥
लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

रस की इस अलौकिकता का निर्वचन उसकी 'निष्पत्ति प्रक्रिया' तथा 'आस्वाद स्वरूप' को ध्यान में रखकर किया गया है। रस की निष्पत्ति-प्रक्रिया निश्चित ही विलक्षण एवं ध्वनि सिद्धान्त की प्रकृति के ठीक अनुकूल है।

विभावानुभाव व्यभिचारि आदि वाच्य हैं। काव्य में वर्णित कल्पना विलास (संलक्ष्यक्रम प्रक्रियादि द्वारा) तथा अर्थ रचना, कथा प्रसंगादि सर्वथा काव्य में अभिधेय वाच्य व्यापार बनकर पाठक के हृदय में संचित् रस वासना को जाग्रत करके उसे आनन्दित करते हैं। पाठक के हृदय में संचित् यह अनादिकालीन वासना उसी प्रकार जागृत हो उठती है, जैसे प्रथम दौंगरें का स्पर्श करके पृथ्वी की गर्भ से सोंधी गन्ध। यह अभिव्यक्ति नितान्त सहज एवं स्वभावतः होती है।

वाच्य रूप विभावादि के सम्पर्क में आकर व्यंग्य रूप रस ध्वनि की अभि-व्यक्ति नैसर्गिक रूप में होती है। यह इसी प्रकार नैसर्गिक है—

यथा इन्दुसन्निधेः गण्डकः स्यन्दते
यथा अर्क सन्निधेः सूर्यकान्त ज्वलति
यथा कर्पूर सन्निधेः स्फटिको विलीयते ॥

जैसे चन्द्र की किरणों का सन्निध्य पाकर चन्द्रकान्त मणि पिघल जाती है, जैसे सूर्य की किरणों के सम्पर्क से सूर्यकान्तमणि दाहक हो उठता है और कर्पूर का सान्निध्य पाकर स्फटिक विगलित हो जाता है, वैसे ही वाच्य रूप विभा-वादि के सम्पर्क से अभिभूत पाठक के हृदय में स्वगततत्व, परगतत्त्व, लोक व्यापार बोध का भंजन करते हुए इन्द्रिय, बुद्धि ज्ञान आदि के मण्डल को छिन्न करते हुए यह रस दशा मन को उस भाव दशा तक ले जाती है, जिसे भाव योग की संज्ञा दी गई हैं। भाव योग का यह आस्वाद निर्विकल्पक समाधि के आस्वाद जैसा है। समाधि की इस दशा में जिस प्रकार साधक को न स्व का ज्ञान है, न पर का ज्ञान, न देह का ज्ञान है, न मनस् व्यापार का, न ब्रह्म का ज्ञान है, न अनुभव का ज्ञान। हृदय की यही मुक्तावस्था रसदशा है। इस रसदशा में पहुँचकर वह सर्वथा लोक, अध्यात्म, काव्य, अकाव्य के ज्ञानात्मक अनुभव से शून्य अभिभूत काल में समाधि-तन्मय साधक की भाँति रसास्वादन में लीन ज्ञाता-ज्ञेय के सम्बन्ध से विरहित रस समाधि को प्राप्त होता है। रस की इसी विलक्षणता के कारण उसे 'परब्रह्मस्वादभिवानुभावयन्' जैसे विशेषणों से उपमित किया गया है। रस व्यापार की यह सिद्धि आध्यात्मिक न होकर शुद्ध लोकात्मक एवं मनोवैज्ञानिक है, किन्तु उसका स्वभाव एवं आस्वादन विलक्षण है। उसके कारण कहीं अन्यत्र है, और वह उत्पन्न कहीं अन्यत्र होता है—

"तैसहि कवित सुकवि बुध कहहीं।
उपजहि अनत अनत सुखलहहीं॥"

वाच्य रूप विभावदि से पाठक के हृदय में अभिव्यक्त होने वाली यह रस-ध्वनि ही ध्वनि एवं काव्य की आत्मा है।

इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत गुण, रीति, अलंकार, शब्द शक्ति एवं रस सिद्धान्तों का समाहार बड़ी कुशलतापूर्वक किया गया है। ध्वनि सिद्धान्त मूलतः परम्परा के इन काव्य सिद्धान्तों का एक समाहार मात्र है किन्तु इस समाहार में ध्वनिकार आनन्दवर्धन की एक बहुत बड़ी बौद्धिक कुशलता दिखाई पड़ती है, वह है, सम्पूर्ण काव्य व्यापार में वाच्य एवं व्यंग्य की परिकल्पना। शब्द व्यापार में वर्ण, पद, रचना, रीति, गुण एवं अर्थ व्यापार के अन्तर्गत शब्द शक्ति एवं अर्थालंकार के विविध रूप भाव व्यापार में रस, भाव, रसाभास, भावाभास, रसवत्, प्रेयस् आदि प्रबन्ध व्यापार में रचना, प्रसंग एवं सम्पूर्ण प्रसंगादि को वाच्य एवं व्यंग्य (शब्द एवं अर्थ के स्वार्थ का त्याग तथा रसादि) की कल्पना से मण्डित करके उन्होंने ध्वनि का प्रसाद खड़ा किया। यह आनन्दवर्धन की अपूर्व कल्पना का प्रतिफल है। काव्य का औचित्य भी 'वाच्य' एवं 'व्यंग्य' का समर्थन करता है। 'शब्दार्थ के स्वार्थ का त्याग एवं भोग' काव्य रचना की मूल कलात्मक की समस्या है। काव्य किसके लिए, मूलतः काव्य क्या शब्द अर्थ में केवल शब्द अर्थ रचना तक ही सीमित है, शब्दार्थ रचना में रचना के बाद निश्चित ही ऐसे निसचेष्ट-सचेष्ट तत्त्व उत्पन्न होते हैं जो 'शब्दार्थ-स्वार्थ भोग' से भिन्न हैं। शब्दार्थ रचना से निश्चित ही भिन्न होकर कोई-न-कोई तत्त्व उत्पन्न होगा, चाहे वह शब्दार्थ रचना का चमत्कार ही क्यों न हो, ऐसी दशा में वही काव्य में शब्दार्थ द्वारा व्यंजित होगा। वाच्य रूप शब्दार्थ रचना (काव्य) हो ही नहीं सकती; ध्वनिविहीन काव्य चित्रादि भी किसी-न-किसी उपचार रूप अभिप्राय को व्यक्त करते हैं। उनमें भी वाच्य तथा व्यंग्य की स्थिति वर्तमान है। सैद्धान्तिक रूप से 'व्यंग्यविहीन' काव्य की कल्पना आकाश कुसुम जैसी कल्पना है।

निष्कर्षतः ध्वनिकार ने वाच्य एवं व्यंग्य की परिकल्पना करके जिस ध्वनि सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है उसमें सम्पूर्ण पूर्ववर्ती काव्य सिद्धान्त न केवल निहित हैं, अपितु अपनी उचित सार्थकता भी प्राप्त करते हैं। व्यंग्य रूप में निहित ध्वनि तत्त्व के अतिरिक्त काव्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः ध्वनि में न केवल सम्पूर्ण काव्य सिद्धान्त अपितु काव्य प्रकार एवं रूप आदि भी समाविष्ट हैं।

ध्वनि और उसके भेद

ध्वनि के भेद निरूपण के लिए व्यंग्य ही मूल आधार है। परवर्ती विवेचनों द्वारा आनन्दवर्धन द्वारा निर्दिष्ट भेदों को प्रायः तद्वत् स्वीकार किया गया है,

किन्तु उपभेदों के विवेचन में अधिक विस्तार दिखाई पड़ता है। अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम पदगत एवं वाक्यगत उपभेदों की चर्चा करके इसे विस्तार दिया। आगे चलकर, आचार्य मम्मट ने पद, वाक्य एवं प्रबन्ध तथा संकर, संसृष्टि भावों के योग से इसके भेदों की संख्या सहस्राधिक निर्धारित की। आचार्य मम्मट की प्रणाली 'वर्गगुणन' की है।' आचार्य विश्वनाथ ने भी ध्वनि के भेदों की संख्या सहस्राधिक ही बताई किन्तु उनकी प्रणाली संकलन की है। पण्डितराज जगन्नाथ मम्मट की ही प्रणाली को प्रामाणिक मानते हैं।

ध्वनि के भेद निरूपण के चार आधार रहे हैं—

१. उपचार ध्वनि, २. वस्तु ध्वनि, ३. अलंकार ध्वनि, ४. रस ध्वनि।

समग्र काव्य प्रपंच को उन्होंने इसमें अन्तर्भूत करके निम्न भागों में विभक्त किया है।
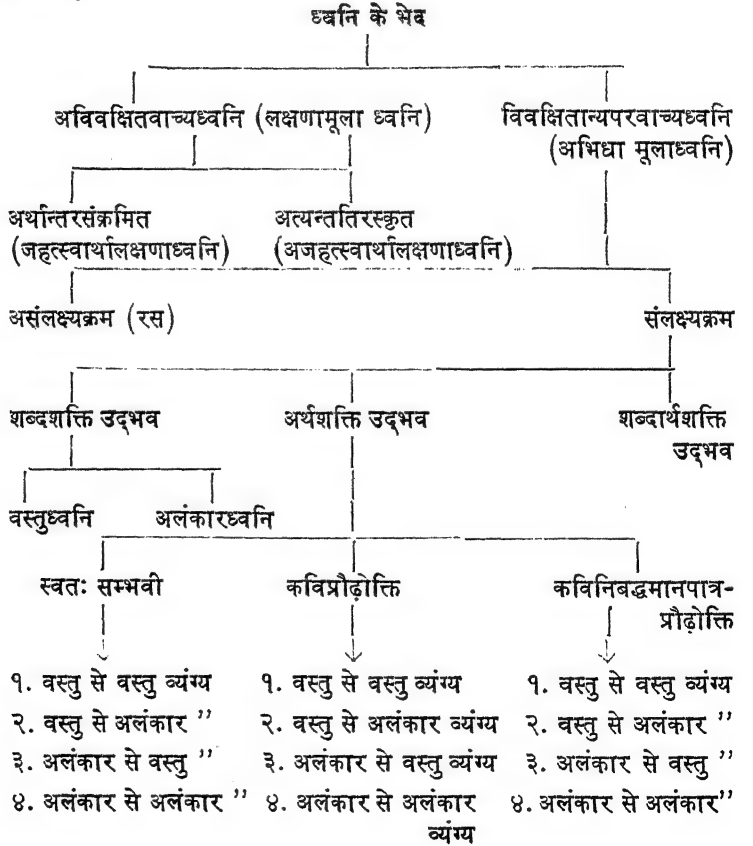
ध्वनि के प्रमुख भेद यहीं हैं। वैसे ध्वन्यालोकलोचन द्वारा इसके ७४२० भेदों का निर्देश किया गया है। आचार्य मम्मट अपनी गुणन प्रणाली से इसके १०४५५ भेदों एवं आचार्य विश्वनाथ ने संकलन प्रणाली से इसके ५३५५ भेदों का निर्देश किया है। सामान्यतया, इन्हीं प्रमुख भेदों का विवेचन यहाँ अभीष्ट है।

१. **अविवक्षितवाच्य ध्वनि**—अर्थात् जिसमें वाच्य अविवक्षित अर्थात् उसके कहने की इच्छा (अभीष्ट) कवि को न हो। आचार्य महिमभट्ट ने वैसे इस भेद को दोषपूर्ण बताया है क्योंकि 'मुख्य तात्पर्य का वाधित' होना ही स्वार्थ का त्याग है, जो ध्वनि विशेष का लक्षण है। जो ध्वनि विशेष का लक्षण है, वह उसके भेद का लक्षण कैसे हो सकता है? फिर भी, यहाँ ध्वनिकार का मन्तव्य 'मुख्यार्थ बाधा' से उत्पन्न तात्पर्य विशेष है। इसमें गौणी, शुद्धा, सरोपा एवं साध्यवसाना आदि का पर्यवसान रूपक, अतिशयोक्ति, हेतु, पर्यायोक्ति आदि अलंकारों में हो जाता है, किन्तु उपादान (स्वसिद्धये पराक्षेपः) एवं लक्षण (परार्थे स्व समर्पणम्) की प्रकृति का अन्तर्भाव किसी विशिष्ट अलंकार वर्ग में नहीं हो पाता। वाच्यार्थ अपने अर्थ का परित्याग करके अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाता है, अर्थात् परार्थ के लिए स्वार्थ का समर्पण कर देता है, और दूसरे अर्थात् अत्यन्त-तिरस्कृत ध्वनि में वाच्यार्थ अन्य अर्थ को स्वार्थ की सिद्धि के लिए अपने में अन्तर्मुक्त कर लेते हैं, प्रकारान्तर से 'स्वसिद्धयेपराक्षेपः' ही इसकी प्रकृति है। इसके उदाहरण भी पर्यायोक्ति, समासोक्ति आदि में अर्न्तभुक्त लिए जा सकते हैं, किन्तु निहित लक्षणामूलक प्रवृत्ति की सशक्तता तथा ध्वनि लक्षण की नितान्त समीपता के कारण इसे ध्वनि भेद के रूप में ग्रहण किया गया हैं।

उदाहरण—

१. अर्थान्तर संक्रामित अविवक्षित वाच्य ध्वनि

सीताहरन तात जानि, कहेउ पिता सन जाइ।
जौ मै राम तु कुल सहित कहहिं दसानन आइ॥

'राम' शब्द का अर्थ मात्र दशरथ पुत्र नहीं है। सर्वथा शक्ति, सामर्थ्य युक्त, प्रतापी रघुवंश में उत्पन्न, पत्नी के अपहरण का बदला लेन वाला' आदि अनेक अर्थ 'राम' शब्द में संक्रमित होते हैं।

२. अत्यन्तरिस्कृत वाच्य ध्वनि

वाउ कृपा मूरति अनुकूला।
बोलत बचन झरत जनु फूला॥

यहाँ 'फूल' शब्द का अर्थ फूल न होकर 'शूल' है। आपकी वाणी से फूल झड़ रहे हैं, काकु वैशिष्ट्य से इसका अर्थ शूल (शल्य) की भाँति चुभ (कष्ट दे रहे हैं) रहे हैं। यहाँ 'फूल' शब्द नितान्त 'तिरस्कृत' होकर, अपने कोशगत अर्थ का परित्याग करता हुआ विलोमार्थी बन गया है।

२. **विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि**—(अभिधामूलाध्वनि) विवक्षित अन्य परवाच्य। आचार्य महिम भट्ट ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है। अन्यपरत्व का अर्थ है अन्य के प्रति अङ्ग बनाना—अन्यपरत्वं ह्यन्यास्याङ्ग भावो भव्यते। इस प्रकार विवक्षित अर्थात् साक्षात् वाच्य रूप अभिप्राय का ही अङ्ग बनकर जो व्यंग्य उपस्थित होता है, उसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहते हैं। अभिधा मूला ध्वनि इसे इसीलिये कहते हैं, क्योंकि इस प्रकार की स्थिति में व्यंग्य अभिधेय के साथ निरन्तर अङ्ग बनकर वर्तमान रहता है। आस्वाद या चमत्कार की दशा में उससे मुक्त होने के बाद भी वह उससे मुक्त नहीं होता। इसके दो भेद किए गए हैं :—

१ असंलक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि

२ संलक्ष्यक्रम विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि

असंलक्ष्य क्रम—(रस ध्वनि) आनन्दवर्धन ने इसे शतपत्रसूची भेद न्याय से समझाया है। जिस प्रकार कमल में सूचिका भेद के बाद यह निश्चित करना अनिश्चित है कि कौन-सा पत्र सूचिका द्वारा कब बिद्ध हुआ, यद्यपि बिद्ध होना उसकी एक अनिवार्यता है, ठीक उसी प्रकार विभावानुभावव्यभिचारि के संपर्क में आगत पाठक के मन में रस निष्पत्ति कब हुई, यह कह सकना कठिन है, किंतु रस निष्पत्ति अपने में एक वास्तविकता है। असंलक्ष्य क्रम में क्रम वर्तमान रहता है किन्तु त्वरित रूप में अभिव्यक्ति होने के कारण उसे निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता है। आचार्य मम्मट इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

अपितु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः स तु लाघवान्न लक्ष्यते।

रसों की प्रतीति में क्रम अनिवार्ययतः है किन्तु त्वरा के कारण लक्षित नहीं होता। किसी रचना के अध्ययन काल में कब रसाभिव्यक्ति हुई, यह लक्षित करना असंभव एवं रस दोष है, इसीलिए इसे असंलक्ष्य क्रम के नाम से पुकारा जाता है।

इस असंलक्ष्य क्रम ध्वनि के आठ भेद होते हैं, और उनके अवयवों को मिलाकर अनेक रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसीलिए आचार्यगण सभी को मिलाकर एक इकाई के रूप में इसे विवेचित करते हैं। रस एवं भाव वैविध्यों को समझने के लिए ही इसके आठ भेद किए जाते हैं—

रस, भाव, रसाभास, भावाभास,
भावशबलता, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति[1]

रस—विभावानुभावव्यभिचारि के संयोग से पाठक के हृदय में रस की अभिव्यक्ति होती है। विभावानुभावव्यभिचारि आदि कल्पना के रूप में कवि रचित वाच्य व्यापार हैं। यह वाच्य व्यापार पाठक की निर्विघ्न प्रतीति का विषय बनकर, स्थायीभाव रूप रस की अभिव्यक्ति कराकर पाठक द्वारा स्थायी रूप रस के रूप में आस्वाद्य होता है। आचार्य मम्मट इसीलिए रस को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

विभावानुभावस्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः

विभावादि वाच्य रूप में कारण हैं तथा स्थायीभाव रूप में व्यक्त (अभिव्यक्त) प्रतीयमान रूप रस अस्वाद्य है।[2]

संलक्ष्य क्रम ध्वनि—सम्पूर्ण अर्थ वैचित्र्य को ध्वनिवादियों ने संलक्ष्य क्रम ध्वनि में समाहित किया है। वस्तु व्यापार, आलंकारिक अर्थ रचना तथा काव्य में अभिव्यक्त होने वाले उसके वैशिष्ट्य संलक्ष्य क्रम ध्वनि के प्रमुख रूप हैं। वस्तु तथा अलंकार ध्वनि का विवेचन इसका मुख्य उद्देश्य है। ध्वनिवादियों ने इसे तीन भागों में विभक्त किया गया है :—

१ शब्दशक्ति उद्भव संलक्ष्य क्रम
२ अर्थशक्ति उद्भव संलक्ष्य क्रम
३ शब्दार्थशक्ति उद्भव संलक्ष्य क्रम

आचार्य मम्मट ने इसे 'अनुस्वनाभ' ध्वनि का भी नाम दिया है।

१—शब्द शक्ति उद्भव संलक्ष्य क्रम ध्वनि—आचार्य मम्मट इसे परिभाषित करते हुए बताते हैं—

अलंकारोऽर्थं वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवोद्विधा॥

प्रधान रूप से प्रतीत अलंकार अथवा वस्तु व्यापार का बोध जहाँ 'शब्द' मात्र से हो वह शब्द शक्ति उद्भव ध्वनि है। यह दो प्रकार का है—

१—वस्तु ध्वनि
२—अलंकार ध्वनि

---

१. विशेष के लिए देखिए, लेखक कृत काव्यांग परिचय
२. इसके विशेष विस्तार के लिए देखिए, रस अध्याय

वस्तु ध्वनि—जहाँ प्राकरणिक अर्थ के साथ अन्वय आदि के माध्यम से अन्य अप्राकरणिक अर्थ की सिद्धि हो—

चिरजीवौ जोरि जुरै क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि वे वृषभानुजा वे हलधर के बीर॥

'राधा और कृष्ण' की सर्वथा समरूपता की सिद्धि 'हलधर के बीर = बैल और वृषभ अनुजा = गाय में होती है।

अलंकार ध्वनि—जहाँ विशिष्ट शब्द प्रयोग के कारण प्रधान रूप से अलंकार का बोध हो, उसे अलंकार ध्वनि कहा जाता है।

बन्दौ मुनि पद कंज रामायन जेहिं निरमयउ,
सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित।

वस्तु ध्वनि वाल्मीकि के महत्त्व का प्रतिपादन है। यह रामायण खर दूषण की कथा से युक्त है। किन्तु—'सरवर—सुकोमल एवं दोष रहित, दूषन सहित' में विरोधाभास अलंकार व्यंग्य है, अतः 'सखर' (सखर अर्थात् अत्यन्त कर्कश एवं खर की कथा सहित और दूषन सहित अर्थात् दोष युक्त या खर के भ्राता दूषण सहित) में दोनों अर्थ दो विशिष्ट शब्दों पर आधारित सचेष्टतः विरोधी-भास अलंकार को व्यक्त कराने के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। अतः यहाँ शब्दशक्ति उद्भव के अन्तर्गत अलंकार ध्वनि है।

२. अर्थशक्ति उद्भव संलक्ष्य क्रम ध्वनि

जहाँ सम्पूर्ण अर्थ व्यापार प्रधान रूप से वस्तु तथा अलंकार में निहित व्यंग्य को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होता है, उसे अर्थ शक्ति उद्भव संलक्ष्यक्रम कहा जाता है। इसके अन्तर्गत कवि कल्पना से मण्डित रमणीक अर्थ व्यापार और उसकी मौलिक भंगिमाओं को रखा गया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्या लोक के अन्तर्गत सर्वप्रथम बार अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्य क्रम के अन्तर्गत कवि की उस मौलिक कल्पना शक्ति को स्थान दिया है जो प्रायः इनके पूर्ववर्ती शास्त्र-कारों द्वारा कहीं भी विवेचित नहीं है, या यदि कहीं है भी तो अलंकार के चौखटे में बन्द दिखाई पड़ता है। कवि की भव्य कल्पना से निष्पन्न रमणीकार्थ ध्वनि काव्य के अन्तर्गत विशेपरूप से विवेचित किया गया। परवर्तीआलंकारिकों ने वक्रोक्ति तथा कवि समय के अन्तर्गत इन्हें रखने का प्रयास किया, किन्तु उन्हें सार्थकता नहीं प्राप्त हो सकी। आनन्दवर्धन के अनुसार कवि की रमणीक कल्पना की तीन कोटि है—

१. लोक में प्रतीत सत्य जो काव्य जगत में तद्वत चित्रित किया जाता है।

२. वह सत्य जो लोक में नहीं है किन्तु काव्य लोक के यथार्थ से सम्बद्ध है, जिसकी सत्यता पर अविश्वास नहीं किया जाता और कवि की उस कल्पना को सत्य की भाँति स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ता है।
३, कवि प्रतिभा से निर्मित अनेक सूक्ष्म अशरीरी भावों, मनोविकारों, वस्तुओं को प्राणियों की भाँति एक शरीरी व्यक्तित्व देकर उसके आचरण की स्वीकृति देना।

इन्हीं को क्रमशः ध्वन्यालोककार ने स्वतः सम्भवी-अर्थशक्ति उद्भव, कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अर्थशक्ति उद्भव एवं कवि निबद्धमान पात्र प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अर्थ-शक्ति उद्भव संलक्ष्यक्रम के नाम से पुकारा है। वस्तु एवं अलंकार के भेद से पुनः इनके चार-चार भेद होते हैं।

स्वतः सम्भवी

१ वस्तु से वस्तु — २ वस्तु से अलंकार
३ अलंकार से वस्तु — ४ अलंकार से अलंकार

कवि प्रौढ़ोक्ति

१ वस्तु से वस्तु — २ वस्तु से अलंकार
३ अलंकार से वस्तु — ४ अलंकार से अलंकार

कवि निबद्धमान पात्र या वक्तृ प्रौढ़ोक्ति सिद्ध

१ वस्तु से वस्तु — २ वस्तु से अलंकार
३ अलंकार से वस्तु — ४ अलंकार से अलंकार

इसके ये विशिष्ट बारह भेद पुनः संकलन या गुणन प्रक्रिया से अनेक उपभेदों में बँट जाते हैं।

स्वतः सम्भवी

विप्र बंश कै यह प्रभुताई।
अभय होई जो तुमहिं डराई॥

'लोक में ब्राह्मण की प्रतिष्ठा' वस्तु है जिसे विरोध अलंकार के माध्यम से व्यक्त किया जा रहा है। 'अभय होने और डरने के बीच' कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित किया जा रहा है, जो विपरीतधर्मी है, किन्तु लोक में ब्राह्मणत्व प्रतिष्ठा

को ध्यान में रखकर देखने में असंगति की प्रतीति नहीं होती। यहाँ अलंकार से वस्तु की व्यंजना कराई जा रही है।

कवि प्रौढ़ोक्ति

लगति सुभग सीतल किरन, निसि सुख दिन अवगाहि।
माह ससी भ्रम सूर तन रही चकोरी चाहि।।

किरणें रमणीक एवं शीतल लगती हैं जिसके कारण दिन में ही रात्रि सुख का का अनुभव करती हुई चकोरी माघ मास में शशि के भ्रम से सूर्य को आसक्त भाव से देख रही थी।

चन्द्र किरणों के प्रति चकोरी की आसक्ति कवि समय है, और इसके माध्यम से कवि हेमन्त ऋतु में सूर्य से दाहकता के अभाव का चित्रण करता है। माध्यम है, भ्रान्तिमूलक अपह्नुति अलंकार। इस अलङ्कार के माध्यम से वस्तु रूप हेमंत ऋतु में सूर्य-किरणों की दाहकता व्यंग्य है।

कवि निबद्धमानपात्र या वक्तृ प्रौढ़ोक्तिसिद्ध

छायावादी काव्य का सम्पूर्ण मानवीकारण अलङ्कार इसके अन्तर्गत आता है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भी इसके रमणीक उदाहरण मिल जाते हैं—

नेकु न झुरसी बिरह झर, नेह लता कुम्हिलात।
नित-नित होति हरी-हरी, खरी झाँखरति जाति।।

विरह की ज्वाला के रूप में और स्नेह को लता के रूप में कल्पित करना, कवि निबद्धमानवक्तृ प्रौढ़ोक्ति है। यहाँ रूपक अलङ्कार सामान्य माध्यम है, जिसके द्वारा विभावन। (उपयुक्त हेतु से विपरीत परिणाम) अर्थात् अलङ्कार से अलङ्कार व्यञ्जित है।

३. शब्दार्थ शक्ति उद्भव

शब्द एवं अर्थ की उभयात्मक शक्ति से व्यञ्जित शब्दार्थ शक्ति उद्भव के भेदोपभेद नहीं होते—,

अरुन सरोरुह कर चरन दृग खंजन मुख चन्द।
समै पाइ सुन्दरि सरद काहि न करत आनन्द।।

रूपक (उपमा) या दीपक अलंकार व्यंग्य है। शरद् का अर्थ दीपक एवं सुन्दरी का अर्थ उपमा या रूपकगर्भित है।

शरत् ऋतु—जिसके पास नायिकाओं के हथेली एवं चरण के सदृश अरुण कमल हैं, जिसके पास नायिकाओं के दृग के सदृश खंजन पक्षी हैं, जिसके पास नायिका के मुख के सदृश चन्द्र हैं, ऐसी शरद् ऋतु अपने समय पर आकर किसे आनन्दित नहीं करती।

सुन्दरी पक्ष—जिसके चरण एवं हथेली अरुण कमल के रूप में है (या उपमा के सन्दर्भ में सदृश है), जिसके दृग खंजन रूप (सदृश) है, जिसका मुख चन्द रूप (सदृश) है, ऐसी सुन्दरी शरद् के रूप (सदृश) में अपने युवा काल में किसे आनन्दित नहीं करती।

आचार्य मम्मट ने ध्वनि भेदों का वर्गीकरण करके पद, पदांश, वर्ण, वाक्य, रचना तथा प्रबन्ध के द्वारा असंलक्ष्यक्रम के व्यंजित होने की चर्चा की है। ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम इस ओर संकेत करते हुए यह स्वीकार किया कि 'रस निष्पत्ति' मात्र प्रबन्ध या नाट्य से ही सम्बन्धित नहीं हैं। वह मुक्तकादि में भी व्यंजित होती है और उसकी निष्पत्ति कराने में पद, पदांश, वर्ण तक माध्यम हो सकते हैं। रचना एवं प्रबन्धादि नाट्य एवं प्रबन्धात्मक रूपों में रस के आधीन होते हैं। आचार्य मम्मट ने पद से एक देश, प्रत्यय, वचन, पुरुष, विभक्ति, उपसर्ग, निपात् अदि के विविध उदाहरणों से व्यक्त रस व्यंजकता का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि रस निष्पत्ति में विभावादि की लम्बी प्रबन्धात्मक व्यवस्था आवश्यक नहीं है।

रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण सर्वथा मौलिक एवं प्रबन्ध तथा नाट्यादि तक रसास्वाद को सीमित रखने वालों के लिए एक चुनौती का कार्य करता है। रसास्वाद एवं स्थायी समाधि दशा की भाँति चित्त को एक केन्द्र पर भावित करने के कारण नहीं हैं। प्रबन्धादि के आस्वाद की निरन्तरता के कारण थोड़ी देर तक के लिए मानसिक स्थिरता देखी जाती है किन्तु वह एक सान्द्र तथा एक विन्दु पर केन्द्रित तत्त्व न होकर मन की भावात्मक धारावाहिकता है। मुक्तकादि में एक क्षण के लिए उसमें विशिष्ट सन्निविष्ट तत्त्व मन को उस आस्वादन की उच्च समाधि दशा तक पहुँचाकर पुनः शान्त हो जाते हैं।

मैं मुरलीधर की मुरली लई मेरी लई मुरलीधर माला।
मैं मुरली अधरान ठई उन कंठ ठई मुरलीधर माला।
मैं मुरलीधर की मुरली दई मेरी दई मुरलीधर माला।
मैं मुरलीधर की मुरली भई मेरी भये मुरलीधर माला।

इसमें मात्र 'मुरलीधर' एवं 'माला' शब्दों की आवृत्ति मात्र मन को आस्वादन भूमि पर प्रतिष्ठित कराती है। इन दोनों की विशिष्ट आवृति 'रसास्वादन' के

लिए पर्याप्त है। इस प्रकार ध्वनिवादी रीति, गुण एवं अलंकारवादियों की भाँति मात्र भाषिक सर्जना से उत्पन्न तत्व को भी रचना की आस्वादमूलक सार्थकता के लिए आधार मानते हैं। रीति, गुण एवं अलंकार के समर्थक इसे आस्वाद का नाम न देकर चमत्कृति, वैचित्र्य आदि के रूप में देखते हैं किन्तु ध्वनिवादी इन्हें रस व्यंजकता से जोड़ने के पक्षपाती हैं। यह सत्य है कि पद, पदांश, वर्ण, वाक्य गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र के साथ जुड़कर चमत्कृति की निष्पत्ति करते हैं किन्तु ध्वनि काव्य में इनका मुख्य व्यापार रस व्यंजकता ही है।

गुणीभूत व्यंग्य

गुणीभूत व्यंग्य मूलतः ध्वनि काव्य से भिन्न किन्तु उसके संस्पर्श से चमत्कारादि को व्यक्त करने में सक्षम होता है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि की प्रमुसता को ध्यान में रखकर सम्पूर्ण काव्य को तीन भागों में विभक्त किया है—

१. ध्वनि काव्य
२. गुणीभूत व्यंग्य
३. चित्र काव्य

इसके पूर्व ध्वनि काव्य का प्रपंच विवेचित किया गया है क्योंकि इनमें व्यंग्यार्थ वाच्यानुयायी होते हैं। आचार्य मम्मट इसे स्पष्ट करते हुए बताते हैं—

"इदमुक्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिबुधैः कथितः"

अर्थात्, वाच्य से व्यंग्य के अधिक उत्कर्षवान होने से यह उत्तम काव्य होता है और विद्वान् उसी को ध्वनि कहते हैं। किन्तु, ठीक इसके विपरीत काव्य की एक अन्य स्थिति भी है, जहाँ व्यंग्य वाच्य से अधिक उत्कर्षवान नहीं होता' अर्थात्,

अताहृशि गुणीभूत व्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्'

अर्थात्, व्यंग्य के वाच्य से अधिक उत्कर्षवान न होने से वह मध्यम कोटि का काव्य गुणीभूत व्यंग्य के नाम से पुकारा जाता है।

व्यंग्य से वाच्य अधिक उत्कर्षवान होता है, या व्यंग्य वाच्य से अधिक उत्कर्षवान नहीं हो पाता या व्यंग्यार्थस्फुट नहीं हो पाता—यह स्थिति मूलतः काव्यार्थ की सहजता, अस्पष्टता, भावादि की अभिव्यक्ति में असामर्थ्य रसवत्, प्रेयस् आदि भावालंकारों से सम्बद्ध हो सकती है।

आचार्य आनन्दवर्धन गुणीभूत व्यंग्य को परिभाषित करते हुए 'विवहन्-प्रवृत्त भ्रत्यानुयायिराजवत्' न्याय से इसे स्पष्ट करते हुए बताते हैं—

प्रकारोऽन्यो गुणीभूत व्यंग्य : काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्य चारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ।।

काव्य का एक दूसरा अन्य प्रकार गुणीभूत व्यंग्य भी दिखाई पड़ता है। यहाँ व्यंग्यान्वय (व्यंग्य के सम्बन्ध) से वाच्य का चारुत्व प्रकर्षवान हो उठता है।

वस्तुतः चमत्कार 'वाच्य' का है, किन्तु वह किसी-न-किसी रूप में व्यंग्य का संस्पर्श प्राप्त करता है। इसीलिए इसमें व्यंग्यभाव है और जब इस गुणीभूत व्यंग्य के माध्यम से रसादि को व्यंजित किया जाता है तो पुनः यह ध्वनिरूपता को प्राप्त हो जाता है—

प्रकारोऽयं गुणीभूत व्यंग्योऽपि ध्वनिरूपतां ।
धत्तेरसादितात्पर्य पर्यालोचनया पुनः ।।

यह गुणीभूत व्यंग्य का प्रकार भी रसादि के तात्पर्य के विचार से पुनः ध्वनि-रूपता को प्राप्त करता है।

आचार्य मम्मट ने 'सहृदय' की अर्थ प्रतीति के आधार पर 'कामिनी कुच-कलशन्याय' से गुणीभूत व्यंग्य को सार्थक माना है। वे वताते हैं—

"कामिनी कुच कलशवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यमान-मिति गुणीभूतमेव।"

महाराष्ट्रादि देश की कामिनियों के कुच के समान गूढ़ और आन्ध्रादि प्रदेश की रमणियों के कुच के सदृश अगूढ़ अर्थात् स्फुट वाच्य प्रतीति के कारण गुणीभूत व्यंग्य होता है।

आचार्य पण्डित राज जगन्नाथ गुणीभूत व्यंग्य को उत्तम काव्य एवं ध्वनि को उत्तमोत्तम काव्य की संज्ञा देते हैं।

गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद किए गए हैं—

अगूढमपरस्यांङ्ग वाच्यसिद्धयंगमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ।।

१. अगूढ़, २. अपरांग, ३. वाच्यसिद्धभंग, ४. अस्फुट, ५. सन्दिग्ध, ६. तुल्यप्राधान्य, ७. काक्वाक्षिप्त, ८. असुन्दर।

१. **अगूढ़**—आचार्य मम्मट ने कामिनी कुच कलश न्याय से अगूढ़ को अंशतः गूढ़ एवं अशंतः अगूढ़ व्यंजित किया है। अगूढं तु स्फुटतया वाच्यमानमिति' से पुनः व्यंजित होता है कि जो व्यंग्य अत्यधिक स्पष्ट होने के कारण वाच्य-सा प्रतीत होता है, वह अगूढ़ नामक गुणीभूत व्यंग्य है।

उदा०— पहुला हार हिये लसै, सन की बेंदी भाल।
राखति खेत खरी-खरी, खरे उरोजनि बाल।

ग्राम्या का उदाहरण है। इसमें उसके ग्राम्य उपकरणों से अलंकृत होने की चर्चा की गई है।' खरी-खरी (खड़े-खड़े) शब्दों से खड़ी होकर प्रतीक्षा करने का सामान्य व्यंग्य निकाला जा सकता है।

अपरांग—आचार्य मम्मट अपरांग को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

'अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अङ्ग रसादि
अनुरणन रूपं वा'

रस का या वाच्य के वाक्यार्थ विषयीभूत अन्य वाच्य का अंग रसादि होने पर अपरांग नामक गुणीभूत व्यंग्य होता है। यह केवल रस एवं भाव से ही सम्बन्धित नहीं है, व्यंजित अर्थ भी अपरांग के रूप में व्यक्त होता है। रस के अंग के कारण रसांग एवं वाच्यार्थ के अंग के कारण इसे वाच्यांग कहा जाता है।

उदा०— तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेजहीन पावक ससि तरनी।
सेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सो तनु भूमि परेउ भरि छारा।
बसन कुबेर सुरेस समीरा। रन सम्मुख धरि काहु न धीरा।
राम विमुख भा हाल तुम्हारा। रहा न कुल कोउ रोवनिहारा।
रुदन करत देखीं सब नारी। भयउ विषीषन मन दुख भारी।

शौर्य (उत्साह), विषाद, मति ये सभी करुण रस के अङ्ग हैं। रावण वध के पश्चात् उसकी पत्नी मंदोदरी का यह विलाप अन्ततया करुणात्मक ही है, शेष उसके अंग हैं।

रस के साथ ही, भाव, भावाभास, भावसन्धि, भाव-शबलता, भावोदय, उर्जस्वन् रसवद्, रसाभास, प्रेयस् आदि दृष्टियों से भी इस पर विचार किया जा सकता है।

वाच्यसिद्धयंग—यह वाच्यांग से भिन्न है। वाच्यांग में परस्पर वाच्य और व्यंग्य एक दूसरे के अंग बनते हैं। किन्तु जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग बने, वहाँ वाच्य सिद्धयंग नामक गुणीभूत व्यंग्य होता है। समासोक्ति, अन्योक्ति आदि अलंकारों में जहाँ अप्रस्तुत से (व्यंग्य से) प्रस्तुत (वाच्य) को व्यंजित करने की चेष्टा की जाती है, इस भेद की स्थिति आती है।

नहिं पराग नहिं मधुप मधु नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सो बंध्यौ आगे कौन हवाल॥

महाराज जयसिंह को 'प्रबोधन देना' यदि वाच्य है तो रस लम्पट भ्रमर एवं

अविकसित पुष्प (कली) व्यंग्य के रूप में उस वाच्य को इंगित करता है। 'बंध्यौ' शब्द 'बँधने' एवं आसक्ति में 'फँसने' का अर्थ दे रहा है।

अस्फुट—नितान्त गूढ़ होकर व्यंग्य जहाँ समझने में अत्यधिक क्लिष्टता का अनुभव कराए, उसे अस्फुट नामक गुणीभूत व्यंग्य कहा जाता है।

जनि हठ करहु सारंग नैनी।
सारंग ससि सारंग पर सारंग ता सारंग पर सारंग बैनी।

सन्दिग्धप्राधान्य—जहाँ यह स्पष्ट न हो पाए कि वाच्य प्रधान है, या व्यंग्य, वहाँ सन्दिग्ध प्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य कहा जाता है।

घाम घरीक निवारिये, कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तीर तमाल तरु, मिलत मालती कुंज॥

यहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण व्यंग्य है या 'अभिसरण' का या दोनों यह स्पष्ट नहीं है। ऊष्मा से सन्तप्त के लिए प्राकृतिक वातावरण रमणीक है किन्तु 'निवारिये' एवं 'मिलन' में 'अभिसरण' का भाव व्यंजित है या ऊष्मा से सन्तप्त सामान्य जन के लिए 'क्लेश निर्वारण' का भी भाव निकलता है।

तुल्यप्राधान्य—जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ के चमत्कार में तुल्यता, समानता (एक-सा होना) बनी रहे, उसे तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यंग्य कहा जाता है।

उदा०—प्रगट भये द्विजराज कुल सुबस बसे ब्रज आय।
मेरे हरौ कलेस सब, केसो केसौ राय॥

यहाँ 'मेरे हरौ कलेस सब' इस व्यंग्य की सिद्धि के लिए' केसौ-कृष्ण एवं केसौराय (कवि का पिता, केशवराय) पदों का एक समान उपयोग किया गया है।

काक्वाक्षिप्त—यदि कंठगत विशेषता पर ध्यान न दिया जाए तो वाक्य में वाच्यार्थ ही प्रभावी दिखाई पड़ने लगता है। कंठगत विशेषता, बलाघात् आदि से व्यंग्यार्थ उद्घाटित होता है।

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुम्हहिं उचित तप मो कहँ भोगू॥

'सुकुमारि' और 'नाथ बन जोगू' एवं 'उचित तप'—'मो कहँ भोगू' पद कंठगत विशेषता से विपरीत अर्थ के बोधक न होकर परस्पर पयार्य हैं। यहाँ काकु के आधार पर अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि व्यञ्जित है।

असुन्दर—जहाँ वाच्य का चमत्कार व्यंग्य के चमत्कार से अधिक सुन्दर

हो, उसे असुन्दर नामक गुणीभूत व्यंग्य की संज्ञा दी जाती है या व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भी स्पष्ट हो जाए—

डॉ० भगीरथ मिश्र ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

बिहग सोर सुनि सुनि समुझि पछवारे की बाग।
जाति परी पियरी खरी, प्रिया भरी अनुराग ॥[1]

काव्य में गुणीभूतव्यंग्य की स्थिति क्या है? यह अभी तक एक विचारणीय प्रश्न है। अतिशय महत्त्व देते हुए अभिनव गुप्त इसे समस्त अलंकारों के साधारण धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं, फिर भी, इनकी स्थिति स्पष्ट नहीं होती। महिमभट्ट गुणीभूत व्यंग्य का अस्तित्व ही नहीं मानते क्योंकि वाच्य के चारुत्व के प्रकर्ष से ध्वनि का स्वरूप खण्डित होता है। पण्डितराज जगन्नाथ इसे उत्तम काव्य के रूप में स्वीकार करते हैं।

चित्रकाव्य : अवर काव्य

ध्वनिकाव्य में 'चित्र' को तीसरी श्रेणी में रखा गया है। आचार्य मम्मट गुणीभूत व्यंग्य का लक्षण देने के पश्चात् कहते हैं—

शब्द चित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।[2]

चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। अव्यंग्यमिति स्फुट प्रतीयमानार्थरहितम् अवरम् अधमम्।

व्यंग्य से रहित शब्द चित्र एवं अर्थ चित्र अवर (अश्रेष्ठ) काव्य कहा गया है।

चित्र गुण एवं अलंकार से युक्त है। यह अव्यंग्य है, अर्थात् स्फुट (स्पष्ट) रूप से यह प्रतीयमान अर्थ से रहित है, अतः अवर (अश्रेष्ठ, अधम) है।

इस प्रकार आचार्य मम्मट के अनुसार प्रतीयमान अर्थ से रहित अवर या अधम काव्य ही चित्र काव्य है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अर्थ और शब्द चमत्कार में अन्तर उत्पन्न करते हुए बताया है कि जहाँ अर्थ चमत्कार की प्रधानता हो वहाँ मध्यम और जहाँ

---

१. काव्यशास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ २६०—इसका अर्थ इस प्रकार होगा—पिछवाड़े की बाग नायिका का संकेत स्थल है, वहाँ किसी के आजाने के कारण पक्षी समूह शोर करने लगे, इसलिए अनुराग भरी प्रिया पीली पड़ने लगी।

२. हिन्दी रसगंगाधर, पृष्ठ ४६

शब्द चमत्कार की प्रधानता से ही उसे अवर काव्य की संज्ञा दी जानी चाहिए। वस्तुतः चित्रकाव्य के दो भेद हैं, अर्थ चित्र तथा शब्द चित्र। वे इनमें शब्द चित्र को ही अवर काव्य की संज्ञा देते हुए बताते हैं—

"जिस काव्य में शब्द का चमत्कार प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार शब्द के चमत्कार को शोभित करने के लिए हो वह अवर (अधम) काव्य कहलाता है।"

आचार्य आनन्दवर्धन ने चित्रकाव्य को परिभाषित करते हुए बताया है—

गुणप्रधानभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यत् यत् तच्चित्रमभिधीयते॥

जिस प्रकार व्यंग्य के प्रधान होने से और गौण भाव से स्थित होने पर वे दोनों काव्य (ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य) होते हैं, उनसे भिन्न (अर्थात्, व्यंग्य एवं गौण भाव के अभाव में) काव्य की प्रतिकृति (चित्र) मात्र होने के कारण इसे चित्र काव्य कहा जाता है।

आचार्य अभिनवगुप्त एवं विश्वनाथ रस न होने से इसे काव्य ही नहीं मानते।

आचार्य आनन्दवर्धन ने अलंकार के क्रम में 'शब्द चित्र तथा अर्थ चित्र' के रूप को स्वीकार करते हुए दो भागों में विभक्त किया था—

चित्रं शब्दार्थ भेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किंचित् शब्द चित्रं वाच्य चित्रमतः परम्॥

शब्दार्थ भेद से चित्र दो प्रकार से व्यवस्थित हैं—प्रथम शब्द चित्र एवं द्वितीय अर्थ (वाच्य) चित्र। परवर्ती आचार्यों ने अवर काव्य के सन्दर्भ में इसी को स्वीकार किया।

उदाहरण—

शब्द चित्र

रे रे रामा में रमै रोम रोम में रारि।
रमौ रमा मै राम मै मार मार रे मारि॥

यहाँ कवि का उद्देश्य 'र' तथा 'म' इन दो वर्णों में काव्य को पूरा करना ै। 'र' 'म' वर्णों का चमत्कार प्रदर्शन कवि का लक्ष्य है।

अर्थ चित्र

कहा जगत आधार, कहा आधार प्रानकर।
कहा बसत विधु मध्य, दीन बोलत कह घर-घर।

कहा करत तिय रूसि, कहा जाचत जाचक जन ।
कहा बसत मृगराज, कहा कागज कर कारन ।
धीर-वीर विलसत कहा, सेनापति आनन्द घन ।
चारि वेद गावत कहा, अन्त एक माधव सरन ।।
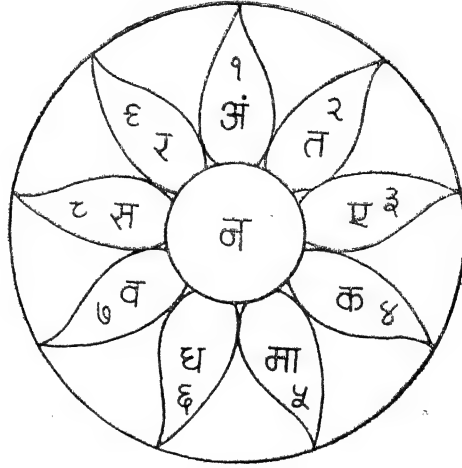
नौ पंखुरियों के कमल में छन्द के अन्तिम बन्द को लिखकर इससे पूँछे गए नौ प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार क्रमशः दिया जाता है—

१. कहा जगत आधार = प्रश्न , उत्तर = अन्न (१)
२. कहा आधार प्रानकर = " , " = तन (२)
३. कहा बसत विधु मध्य = " , " = एन (कालाहिरण) ३
४. दीन बीनत कह घर घर," , " = कन (अन्न कण) ४
५. कहा करत तिय रूसि " , " = मान ५
६. कहा जाचत जाचक जन " , " = धन ६
७. कहा बसत मृगराज " " = वन ७
८. कहा कागज कर कारन " " = सन ८
९. धीर वीर विलसत कहा " " = रन = ९

अन्तिम प्रश्न का उत्तर दिया हुआ है, जिसकी सहायता से उक्त छन्द में शेष प्रश्नों के उत्तर मिलते हैं।

प्रश्नोत्तर के द्वारा 'अर्थ ज्ञापन' के कारण इसे अर्थ चित्र की संज्ञा दी गई है।

रस सिद्धान्त

भाव तथा रस स्वरूप

रस सिद्धान्त यद्यपि काव्य के लिए केन्द्रीय आधार है, फिर भी, इससे सम्बन्धित विभिन्न मान्यताओं के सन्दर्भ में आज तक विवाद बना हुआ है। इस विवाद के प्रमुख विषय हैं, भावों का स्वरूप एवं संख्या, रस संख्या, रसास्वाद एवं साधारणीकरण, आस्वाद की सुख-दुखात्मकता आदि। इन विवादों से हटकर या उनसे कोई सर्वमान्य सिद्धान्त निकालकर हल देने का प्रयास डॉ० नगेन्द्र ने अपने 'रस सिद्धान्त' शीर्षक ग्रन्थ में किया है, किन्तु समस्याएँ अपने स्थान पर तद्वत् बनी हुई हैं।

रस सिद्धान्त के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण समस्या भाव विवेचन की है। इस समस्या के विषय में आचार्य भरत स्वयं सचेष्ट थे। उन्होंने भाव विवेचन के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप में अपनी मान्यताएँ रखी हैं—

> किं भवन्तीति भावाः किं वा भावन्तीति भावाः।
> उच्यते वागंग सत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीतिभावाः ॥

'भाव' शब्द के मूल में 'भू' धातु है। घञ् प्रत्यय लगाकर इस शब्द का निर्माण किया गया है। इसके दो अर्थ हैं—

१. होना

२. जो भाव को भावित या वासित करे अर्थात् तृतीया विभक्ति (करण) से अनुप्रेरित।

भाव का प्रथम अर्थ लोकार्थक है; सृष्टि में सुख दुखात्मक घटित वासना-अनुप्रेरित समस्त भाव होने के अर्थ में है, जिसके लिए आचार्य भरत कहते हैं 'किं भवन्ति इति भावाः' अर्थात् जो लोक में घटित घटना व्यापार के साथ संबद्ध कर्माशय से जुड़े हुए भाव व्यापार है, क्या वे काव्य (नाट्य) के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त करते हैं। आचार्य भरत उनका निषेध करते हुए कहते हैं, नहीं, वे नहीं, अपितु जो भावित या वासित करें वे भाव हैं अर्थात् जो वाणी, अंग एवं सत्त्व से

सम्बन्धित अभिनयों द्वारा हृदय को भावित या वासित करते हैं, वे भाव हैं। आचार्य भरत अर्थ को वासित करने वाले इस भाव को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

भू इति करणे धातुस्तथा ये भावितं, वासितं कृत्यमित्यर्थान्तरम्। लोकेऽपि च प्रसिद्धं। अहो ह्यनेन गंधेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थम्।

'भू' धातु के करण (तृतीयाविभक्ति) की सिद्धि के लिए भाव शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है भावित या वासित। लोक में भी कहा जाता है कि इस गंध तथा रस से सब कुछ भावित (वासित) हो उठा है। इस प्रकार भाव शब्द वासित या वासना की सर्वव्याप्ति के अर्थ में है।

वासना को सर्वव्याप्ति का अर्थ है जितना भी उसके सम्पर्क में है, सब का उससे अनुवासित होना, जैसे एक पुष्प की गन्ध से समग्र घट का वासित होना। एक भाव विशेष से सहस्रों प्रेक्षकों, सहृदयों के हृदय का प्रेक्षण (काव्य अध्ययन, श्रवण) काल में भावित होना।

अतः आचार्य भरत 'भाव' शब्द का प्रयोग इसी भावित के रूप में करते हैं। आचार्य भरत इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि काव्यार्थ को भावित करने वाले तत्त्व का नाम ही भाव है।

लोक और काव्य में भिन्नता न स्वीकार करने के कारण अनेक भ्रम खड़े होते हैं। आचार्य भरत ने भाव विवेचन के द्वारा सर्वप्रथम इसी अन्तर को स्पष्ट करने की चेष्टा की। परवर्ती आचार्यों में (भाव के लोकात्मक विवेचकों को छोड़कर) सभी ने काव्य में वर्णित भावों को लोकात्मक सरणि से भिन्न कोटि में रखा है। उदाहरणार्थ पण्डितराज जगन्नाथ इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं—

"विभावादिकों द्वारा ध्वनित किए जाने वाले हर्षादिकों में से अननन्यतम (कोई एक) भाव कहा जाता है।

जैसा कि कहा भी है, "व्यभिचारिअञ्जितो भावः" अर्थात् ध्वनित होने वाले व्यभिचारी भाव को भाव कहते हैं।"[1]

यहाँ भाव का अर्थ व्यभिचारी भाव से है। ये स्थायी भावों की भाँति व्यंग्य एवं वासनाओं के रूप में सहृदय के हृदय में सनातन काल से वर्तमान रहते हैं। व्यभिचारी भाव की सीमा में समस्त स्थायी तथा समस्त सात्त्विक आ जाते हैं। संचारी स्थायी नहीं हो सकते किन्तु स्थायी एवं सात्त्विक संचारी हो जाते हैं।

---

१. हिन्दी रसगंगाधर, पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, पृष्ठ १७६

इस प्रकार आचार्य भरत ने जिन आठ स्थायी भावों, आठ सात्त्विकों तथा तैंतीस संचारियों का उल्लेख किया है, वे सभी भाव ही हैं।

आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार लोक के विविध भावों के बीच एक विकासात्मक क्रम देखा जाता है। साहित्य में भी इसी की समान क्रम में अभिव्यक्ति होती है। किसी प्रबन्ध काव्य में 'शीलदशा' का निर्माण इसके विकास क्रम में होता है। उनके अनुसार यह क्रम इस प्रकार है—

इन्द्रियजन्यसंवेदन > वासना > भाव > स्थायीदशा > शीलदशा

शीलदशा तक पहुँचकर आलम्बन पाठक भी सत्त्व दशा से जुड़ जाता है, इसीलिए शुक्ल जी आलम्बन को विशेष महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार भाव की यही लोकात्मक स्थिति काव्य में व्यंजित होती है। वे 'रस मीमांसा' में कहते हैं—"इस बात को बराबर ध्यान में रखने का अनुरोध किया जा चुका है कि साहित्य के आचार्यों का सारा भाव निरूपण रस की दृष्टि से—अर्थात् किसी भाव की व्यंजना श्रोता या दर्शक में भी उसी भाव की प्रतीति के विचार के किया गया है।"

लोकात्मक भावों की प्रतीति का क्रम लोकात्मक एवं यथार्थपरक है, किन्तु काव्यात्मक भाव की प्रकृति न तो लोकात्मक है और न यथार्थपरक। जीवन में 'भय' की अनुभूति आस्वाद न होकर एक 'घटना' है और मन के 'भय भाव केन्द्र' से प्रत्यक्षतः जुड़कर अपनी प्रकृति के अनुकूल प्रभावित करती है किन्तु काव्य का भय सहृदय के आस्वाद का एक अंग है। उसका लोकात्मकता एवं यथार्थपरकता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार काव्य में वर्णित भावों का स्वभाव लोक में व्याप्त भावों के स्वभाव से भिन्न है।

इस सन्दर्भ में यह भी एक विचारणीय तथ्य है कि काव्य में वर्णित भाव व्यापार लोकेतर नहीं हैं। आचार्य भरत ने इसके लिए 'लोकानुर्वतन' या 'लोका-नुकीर्तन' शब्द का प्रयोग किया है। कवि लोक में घटित भाव को ही रचनाकार बनकर अपनी शब्द रचना, कल्पना, स्मृति, कलात्मक अभ्यास आदि के माध्यम से पुर्नसृजित करता है। काव्य या नाट्य 'लोकभाव' की ही 'पुर्नरचना' है। रचनाकार एक अभिनव जगत की सृष्टि अवश्य करता है कि उसमें वर्तमान सम्पूर्ण भाव समूह इसी लोक के ही हैं—

त्रैलोकस्यायं सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।
नानाभावोपन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्॥

अनेक अवस्थाओं में घटित अनेक भावना समूहों के 'अनुकीर्तन' का तात्पर्य

यही है कि कवि अपने विविध रचनात्मक कौशल के माध्यम से यथार्थतः 'भाव समन्वित' लोक की पुर्नरचना मात्र करता है। पुर्नरचना होने के कारण यह सुख या दुःख का हेतु न होकर 'आस्वादन' का हेतु बनती है, क्योंकि इसमें 'कला' का धर्म आस्वादित या आनन्दित करने का गुण निहित है। रचनाधर्मिता से उत्पन्न काव्य के आस्वाद को आचार्यों ने रस की संज्ञा दी है।

आचार्य महिमभट्ट इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

न च लोके विभादयो भावा वा सम्भवन्ति हेत्वादीनामेव तत्र सम्भवात्। न च विभादयो हेत्वादयश्चेत्येक एवार्थ एव मन्तव्यम्। अन्ये हेत्वादयोऽन्य एव विभावादयो तेषां भिन्न लक्षणत्वात्।

लोक में विभावादि भावों का होना सम्भव नहीं है। लोक में केवल हेतु आदि ही सम्भव हैं। यह माना नहीं जा सकता कि विभावादि और हेतु आदि अभिन्न हैं। हेतु आदि भिन्न हैं और विभावादि भिन्न क्योंकि उनके लक्षण भिन्न हैं।

विभाव—

लोक में विभाव के आधार घटना के भोक्ता हैं किन्तु काव्य में वे इस प्रकार के भाव के रूप में स्वीकृत लिए जाते हैं, जिनसे विभावन व्यापार होता है। काव्य में वे अर्थ विभावन के कारण बनते हैं—

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागगांभिनयाश्रया।
अनेन तस्मात् तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥

अनुभाव—

कार्यरूप जो उनकी लोकात्मक घटनाएँ हैं, वे ही काव्यादि में दिखाई जाने पर 'अनुभावयन्ति तांस्तान् भावान्' अर्थात् उन भावों का अनुभव कराती हैं; इस व्युत्पत्ति से अनुभाव हैं। लोक में आचरणकर्ता के आवरण के साथ जो भाव व्यक्त होते हैं, उनसे इनकी स्थिति भिन्न होती है क्योंकि ये यहाँ अर्थ का अनुभावन कराते हैं।[1]

आचार्य भरत ने इन्हें स्पष्ट करते हुए बताया है—

वागंगसत्त्वाभिनयैर्यस्मादर्थोऽनुभाव्यते।
वागंगोपांग संयुक्तो सोऽनुभाव रति स्मृतः॥

---

१. व्यक्ति विवेक, महिम भट्ट—व्याख्याकार, प्रो० रेवा प्रसाद द्विवेदी

और जो उन्हीं भावों के हेतुओं द्वारा उत्पन्न लहरों के समान बीच-बीच में उत्पन्न होने वाली अस्थिर मनोदशाएँ हैं, वे ही अपने-अपने विभाव और अनुभावों द्वारा प्रदर्शित किए जाने पर 'विशेषेण अभिमुख्येषु' चरन्ति तेषु भावेषु' विशेष रूप से उन्मुख होकर संचरित होते रहते हैं, इस व्युत्पत्ति से वे संचारी भाव कहलाते हैं किन्तु ये लोक में कार्य के अभिप्राय को प्रकट करने के लिए कर्ता विशेष के मनोविकार मात्र हैं।

आचार्य भरत ने इसलिए लोकभाव को काव्य में वर्णित भाव से भिन्नता सिद्ध करने के लिए इन तीन आद्य श्लोकों को रखा है—

विभावैराहृते योऽर्थो अनुभावैस्तु गम्यते ।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ।।
वागंगमुख रागेण सत्त्वेनाभिनयेन च ।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ।।
नानाभिनय सम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मदमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ।।

विभाव द्वारा उत्पन्न, अनुभाव द्वारा गम्य, चर्तुविध अभिनयादि द्वारा कवि के हृदय में निहित भाव का सहृदय के हृदय में निहित वासना का विषय बनना तथा काव्यार्थ रूप रस को सहृदय के हृदय में भावित कराना, भाव का लक्षण है। लोकात्मक भाव का स्वभाव इस प्रकार का नहीं है। काव्य एवं लोकभाव की भिन्नता को निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है।

लोकभाव अपने संवेदन की प्रकृति के अनुरूप कर्ता, द्रष्टा तथा वातावरण पर प्रभाव डालता है। यही नहीं, इसमें भोक्ता कर्ता है, द्रष्टा में सह-अनुभूति मात्र होती है और वह कर्त्ता के भावात्मक सम्बन्धों के अनुक्रम में ही सुख-दुःखात्मकता का अनुभव करता है। लोकभाव के सन्दर्भ में द्रष्टा में इस प्रकार केवल संसक्त, अनासक्त, उदासीन एवं निरपेक्ष दशाएँ देखी जा सकती हैं, किन्तु रसदशा इस प्रकार की नहीं है। निर्दिष्ट तालिका से दोनों की तुलना करने पर यह तथ्य नितान्त स्पष्ट है।

लोकभाव

कार्य	कारण	शारीरिक दशा	सात्त्विक दशा	मनः दशा	स्वगत परिणाम	परगत परिणाम
दशरथ का शोक	पुत्र-वियोग	रुदन, विलाप, भूमि पर गिरना आदि।	अश्रु, वैवर्ण्य, स्तभ आदि	शोक से मुक्ति के लिए निरंतर सचेष्टता	दु:खभोग	द्रष्टा या श्रोता को शोकानुभूति

काव्यभाव

विभाव	उद्दीपन	अनुभाव	संचारी	स्थायी	सत्त्वदशा
दशरथ व्यक्ति नहीं, शोक के लिए कल्पित एक आलम्बन	पुत्र-वियोग की कल्पना जिसे उद्दीपन कहा गया है।	वियोग के कारण अंगों के शिथिल होने, स्तम्भ, अश्रु, वैवर्ण्य, स्वरभंग आदि का काल्पनिक वर्णन	निर्वेद, मोह, विषाद, दैन्य भय आदि का बार-बार जागरण एवं शान्ति का वर्णन	काव्य के सम्पर्क में आने वाले पाठक की लोकात्मक चेतना का तिरोधान एवं सत्त्वस्थ होने के कारण निरपेक्ष शोक वासना का जागृत होना	शोक वासना का पाठक द्वारा आस्वादन

इस प्रकार 'रस' लौकिक सुख-दुःखानुभूति रूप में नहीं है। आचार्यों ने इसे 'लोकोत्तर' शब्द से अभिहित किया है। लोकोत्तर शब्द के कई अर्थ निकाले गए हैं—

१. क्या काव्यानुभूति आध्यात्मिक आनन्द की भाँति लोकातीत अनुभव है ?

२. क्या काव्यानुभूति आध्यात्मिक एवं लोकात्मक दोनों प्रकार के अनुभव भेदों से भिन्न विलक्षण स्वभाव की है ?

३. क्या काव्यानुभूति लोकाश्रित होते हुए भी लोकानुभव से किंचित् व्यापक है ?

भारतीय काव्यशास्त्र में अनेकानेक विद्वानों द्वारा रस से सम्बन्धित इन समस्याओं पर अनेकधा विचार किए गए हैं। संक्षेप में, इनसे सम्बन्धित अभिमत इस प्रकार हैं।

प्रथम का प्रारम्भ भट्टनायक करते हैं। उनके अनुसार—

"सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय निजसंविद्विश्रान्ति लक्षणेन परमब्रह्मास्वाद संविधेन परं भुज्यते इति"

मम्मट कहते हैं कि अभिनवगुप्त के अनुसार—

"ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन अलौकिक चमत्कारकारी श्रृंगारादिको रसः"

आचार्य विश्वनाथ कहते हैं—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्व प्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तर स्पर्श शून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥

आचार्य मम्मट ने रस की अलौकिकता की सिद्धि के लिए तीन युक्तियाँ दी हैं—

स च न कार्य,: विभावादि नाशेऽपि तस्य सम्भव प्रसंगात्। नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपि तु विभावादिर्भिव्यंजितश्चर्वणीयः।

कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टिमिति चेत् न क्वचिद् दृष्टमित्य लौकिकत्वसिद्धर्भूषणभेतन्न दूषणम्।

चर्वणनिष्पत्या तस्य निष्पत्तिरूपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। लौकिक प्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञान वेद्यान्तरसंरचर्श रहित स्वात्ममात्र पर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदन विलक्षणो लोकोत्तर स्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्॥

और वह (रस) कार्य नहीं है क्योंकि विभावादि के नाश हो जाने पर

(कुम्भकार की मृत्यु हो जाने पर जैसे घड़ा बना रहता है, उस प्रकार) उसकी स्थिति सम्भव हो आएगी (जो कि होती नहीं है) इसलिए रस कार्य नहीं है और उसके पूर्वसिद्ध (अनुभव के पहले विद्यमान) न होने से वह ज्ञाप्य भी नहीं है अपितु विभावादि से व्यंजित और आस्वाद योग्य (अर्थात् आस्वादकाल में भी विद्यमान रहता) है।

कारक तथा ज्ञापक (हेतुओं) के अतिरिक्त (व्यञ्जक आदि हेतु) कहाँ पाए जाते हैं, यह प्रश्न करो तो (हमारा उत्तर यह है कि) कहीं नहीं पाए जाते हैं, यह बात तो अलौकिककत्व की सिद्धि का भूषण है, दूषण नहीं। इसलिए रस वस्तुतः न कार्य है, और न ज्ञाप्य, बह अलौकिक है।

आस्वाद की उत्पत्ति होने के उपचार से इसकी भी उत्पत्ति कही जा सकती है, इसलिए (रस को उपचार से) कार्य भी कहा जा सकता है। और १. लौकिक प्रत्यक्षादि से (भिन्न) २. बिना प्रमाणों की सहायता के (प्रमाण ताटस्थ्य) होने वाले मितयोगिज्ञान ३. वेद्यान्तर के संस्पर्श से रहित स्वात्म (साक्षात्कार) मात्र में पर्यवसित, परिमित से भिन्न योगियों (अर्थात् युक्त योगियों) के ज्ञान से भिन्न लोकोत्तर अनुभूति का विषय होता है, इसलिए (रस को उपचार से) ज्ञेय भी कहा जाता है (परन्तु वस्तुतः वह न कार्य है और न ज्ञाप्य अपितु अलौकिक है।)

तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।

[रस की प्रतीति में] विभावादि के परामर्श की प्रधानता होने से निर्विकल्पक ज्ञान से उसका ग्रहण नहीं हो सकता है और आस्वाद्यमान अलौकिक आनन्दमय (रस) के स्ववेदनसिद्ध होने से सविकल्पक ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता है तथा उभयाभावस्वरूप का (अर्थात् निर्विकल्पक-सविकल्पक दोनों से भिन्न उस रस का) उभयात्मकत्व (अर्थात्, निर्विकल्पक-सविकल्पक) भी पहले के समान लोकोत्तरता को बोधित करता है, विरोध को नहीं। यह अभिनवगुप्त पादाचार्य का मत है।[1]

इन सम्पूर्ण मतों के द्वारा रस की लोकोत्तर विलक्षणता सिद्ध की गई है।

---

१. काव्य प्रकाश : चतुर्थ उल्लास—व्याख्यकार—आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ११२

इन व्याख्याओं का तात्पर्य यह है कि रस आध्यात्मिकता की ओर अभिमुख होते हुए भी आध्यात्मिक नहीं है।

सामान्य लोकज्ञान कार्य कारण से प्रभावित होते हैं। वह ज्ञाता द्वारा जाना जाकर ज्ञाप्य बनता है। ज्ञानकाल में ज्ञाता उस ज्ञान के प्रमाता रूप में विद्यमान रहता है तथा ज्ञान की उत्पत्ति के क्षण बुद्धि द्वारा वह विश्लेष्य एवं प्रमाणों द्वारा दूसरों के ज्ञान का विषय बनाया जाता है। ज्ञान लोकोत्तर न होकर लोक का ही विषय है। ज्ञान का प्रमा द्वारा बोध होता है तथा अनेक तर्कों द्वारा उसे सिद्ध किया जाता है। लोक ज्ञान की ये सम्पूर्ण विशिष्टताएँ बुद्धि व्यापार द्वारा ग्राह्य हैं, किन्तु 'रसास्वादन' के लिए लोकात्मक ज्ञान की ये विशिष्टताएँ चरितार्थ नहीं होतीं।

वह न उत्पन्न होता है, न कार्य कारण सम्बद्ध का सर्वथा अनुसरण करता है, न ज्ञाताज्ञेय ज्ञाप्य सम्बन्धों के बन्धन में बँधता है, योगदशा की भाँति आस्वादन काल के पश्चात् वह निष्पन्न हुआ समझा जाता है, अविद्या-लोकालक बुद्धिप्रपंच के आवरण के विनष्ट हो जाने पर सत्त्व के आवेग से उसकी उत्पत्ति है, लोकानुभवों की भाँति वह लोकात्मक सुख दुःखात्मकता से विगत, अखण्डित आस्वाद रूप, तर्कातीत केवल भावात्मक आस्वाद रूप में स्थित है। लोकात्मक ज्ञान एवं भाव प्रपंचों के सर्वथा विलक्षण स्वभाव होने के कारण उसे लोक विलक्षण कहा जाता है।

परम्परा में, कुछ ऐसे भी मत हैं, जो रस को आध्यात्मिक सन्दर्भ प्रदान करते हैं। अग्निपुराण का मत इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन्।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य चमत्कार रसाह्वया।

अक्षर ब्रह्म का आनन्द स्वाभाविक धर्म है। उसी की अभिव्यक्ति का नाम चैतन्यचमत्कार या रस है।

रस की अलौकिकता की व्याख्या के लिए योगभूमि की कल्पना भी इसी प्रकार की है। पतंजलि योगसूत्र के व्याख्याता आचार्य वाचस्पति मिश्र ने योग की पाँच भूमियों की कल्पना की है—अनभीष्ट, मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका एवं संस्कारशेषा। साधारणीकरण की अवस्था में मन भी क्षिप्तता के लिए मधुमती भूमिका की भी संज्ञा दी गई है।

आचार्य भट्टनायक ने जिस 'रजस्तमोनुवेध' की चर्चा की है, उसके सम्बन्ध में योगशास्त्र बताता है—

"तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यता—ख्यातिमात्रं धर्ममेघ ध्यानोपगमं भवति ।"

वही चित्त, जब उस रजोगुण के लेशमात्र से भी रहित हो जाता है, तब अपने सत्त्वात्मक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी को 'धर्ममेघ समाधि' कहा जाता है। आचार्य भट्टनायक के अनुसार यह सत्त्वमयता रस दशा में आती है, अतः चित्त को लोकोत्तर आनन्द मिलता है।

डॉ० निर्मला जैन ने अभिनव गुप्त के सम्बन्ध में उल्लेख किया है कि वे आनन्द की आठ कोटियाँ स्वीकार करते हैं—

"प्रागानन्द, निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द, चिन्दानन्द तथा जगदानन्द।

इनमें से चमत्कार की भूमिका को वे प्रागानन्द मानती हैं।

× × ×

प्रागानन्द आनन्दमय विश्व का प्रवेश द्वार है। काव्य का रसास्वादन करते समय रसिक भी इसी चमत्कार भूमि पर आरूढ़ होता है।"[1]

आचार्य महिम भट्ट ने बौद्ध मत के विज्ञानवाद के प्रकाश में बताया है कि रस के ज्ञान का प्रमाण स्वयं रसास्वादन ही है। वह ज्ञान का ही एक रूप है, वह स्वतः स्वानुभूति रूप है—

"भावानां विभावानुभावव्यभिचारिणां संयोजनया व्यंग्यो व्यक्तिवादिना तथात्वेनाभिप्रेत इह दर्शने तु उपचरित व्यंग्यभावः तथाभूतः—सन् परसंवित्ति-गोचरः लोकोत्तरायाः प्रतीतेरभिन्नोऽपि साकारतया विषयत्वेन स्फुरन्नास्वाद-स्वभावः।"

यही नहीं, महिमभट्ट ने एक स्थल पर रसानन्द के इस स्वभाव को योगि-जन की समाधि दशा की तृप्ति के आस्वाद से उपमित किया है—

न च तस्य विशेषःसम्भवति निरतिशय सुखास्वाद लक्षणत्वात् तस्ययदाहु—

पाठ्यादथ ध्रुवागानात् ततः सम्पूरिते रसे।
तदास्वादभरैकाग्रो हृष्यत्यन्तर्मुख क्षणम्॥
ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितौ निजः।
व्यज्यते ह्लादनिष्यन्दो येन तृप्यन्ति योगिनः॥

---

१. रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, डॉ० निर्मला जैन, पृ० ७३

"उस रस में कोई वैशिष्ट्य नहीं रहता क्योंकि वह निरतिशय सुखास्वाद स्वरूप है। जैसा कि, कहा गया है, उसके बाद पाठ्य से और ध्रुवागान से रस सम्पूरित हो जाने पर आस्वादयिता अन्तर्मुख होकर एक क्षण के लिए उस घनानन्द से एकाग्र हो जाता है और प्रहर्ष का अनुभव करता है। उसके पश्चात्, उस वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य आस्वादयिता में स्वरूप मात्र से अवस्थित होने पर (अपने) आनन्द निष्यन्द की अभिव्यक्ति होती है, जिससे योगिजन तृप्ति लाभ करते हैं।"[१]

इस प्रकार अलौकिकतावादियों का एक अन्य मत भी है जो रस को आध्यात्मिक भूमि पर प्रतिष्ठित करता है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य मत काव्यानुभूति को लोकात्मक भाव जैसा स्वीकार करता है। आचार्यद्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र का उल्लेख इसी क्रम में किया जाता है। भाव को पारिभाषित करते हुए वे कहते हैं—

"उपचयं प्राप्य रसरूपेण रत्यादिभवतीति भावः"[२] वे इसे और स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि रस ब्रह्मानन्द सहोदर न होकर लोकात्मक सुख दुःख की स्मर्यमाण वासना है। भ्रमवश व्यक्ति रस को लोकोत्तर कहते हैं, कविजन भी इसी रागद्वेषमय सुख दुःखात्मक भावों को काव्यरचना में व्यक्त करते हैं—

अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनट शक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। कवयस्तु सुख-दुःखात्मक संस्कारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नतः सुखदुःखात्मकरसानुबिद्धमेव ग्रथ्यन्ति।

उन्होंने रस को तीन भागों में विभक्त किया है—

१. नियत व्यक्तिविशेषविषयक

२. नियत सामान्यविषयक

३. सामान्य विशेषविषयक

यहाँ नियत व्यक्ति विशेष का अर्थ लोक में स्वपत्नी के विषय में रति या सामान्य-विशेष का अर्थ है लोक में अपने से भिन्न अन्य से (परकीया) सम्बन्धित रति।

काव्य के रसास्वादन के लिए नियत व्यक्ति, विशेष विषयक एवं सामान्य विशेष विषयक भाव ही आधार होते हैं—

---

१. व्यक्ति विवेक, व्याख्याकार प्रो० रेखाप्रसाद द्विवेदी, पृ० १००

२. नाट्यदर्पण, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, सम्पादक, डॉ नगेन्द्र, पृ० ५८८

ये पुनरपरमार्थ सन्तोऽपि काव्याभिनयाभ्यां सन्त इवोपनीता विभावास्ते श्रोतृ अनुसन्धातृ-प्रेक्षकाणां सामान्यविषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति। अत्र च विषयविभागानपेक्षी रसास्वादप्रत्ययः। न हि रामस्य सीतायां श्रृंगारेऽनुक्रियमाणे सामाजिकस्य सीता विषयः श्रृंगारः समुल्लसति। अपि तु सामान्यस्त्री विषयः। नियत विषयस्मरणादिना स्थायिनः प्रतिनियत—विषयतायां तु प्रति नियत-विषय एव रसास्वादः।

और वास्तविक रूप में न होने पर भी काव्य या अभिनय (नाटक) के द्वारा विद्यमान से प्रतीत होने वाले जो विभावादि हैं, वे (काव्य के) श्रोता, अनुसन्धाता (अर्थात् निर्माता) तथा प्रेक्षक (तीनों में) में सामान्य विषयक स्थायीभाव को ही रसरूपता को प्राप्त कराते हैं। यहाँ विषय विभाग की अपेक्षा न करने वाला रसास्वाद होता है। [अर्थात् काव्य नाटक आदि में सामान्य विषयक और विशेष विषयक दो प्रकार का रसबोध नहीं होता। राम के सीता विषयक श्रृंगार का अनुकरण होने पर सामाजिक में सीता विषयक (अर्थात् व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध) श्रृंगारानुभूति नहीं होती है अपितु सामान्य स्त्री विषयक श्रृंगार की ही अनुभूति होती है। लोक में नियत विषय के विद्यमान न होने पर भी नियत विषय के स्मरणादि से नियत विषयक (अर्थात् उस स्मर्यभाव व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध) ही रसास्वाद होता है।

उन्होंने लोक भाव के भोक्ता को—

१. नियत व्यक्तिविशेष विषयक

२. सामान्य विशेष विषयक—कहा है

और काव्यरसिक को—

३. सर्वरसिकसाधारण

इसके लिए वह अपना तर्क देता हुआ कहता है लोकात्मक चित्तवृत्ति के अनुभव के अभाव में तद् विषयक रसानुभूति का कोई आधार नहीं है। यदि चित्तवृत्ति में विशेष प्रकार के लोकात्मक भाव से सम्बन्धित सुख-दुःख नहीं हैं तो—रसानुभूति के लिए कोई प्रामाणिक आधार नहीं बनता। लोकात्मक घटना के भोक्ता की चित्तवृत्ति ही रस के लिए आधार है। चित्तवृत्ति ही रस है।

एवं च लोके काव्ये वा सर्वरसिकसाधारणो रसास्वादो न पुनः सर्वथाप्याधारानुल्लेखी। आधारोल्लेख निरपेक्षायाश्चित्रवृत्तेः कस्याचिदनुपलक्षणात्। चित्तवृत्तिविशेषश्च रसः।

इस प्रकार, आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र रस को पूर्णतः लोकात्मक आधार देते हैं।

इस विषय में एक तीसरा भी अभिमत है। रस के विषय में शब्दार्थवादियों एवं रसवादियों का विवाद प्रारम्भ से चला आ रहा है। शब्दार्थवाद (अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति) सभी काव्य में रस की निष्पत्ति एवं आस्वाद को स्वीकार करते हैं। इनकी रस विषयक व्याख्या वस्तुपरक है, और ये अर्थरस को ही काव्य रस मानते हैं। आचार्य भट्ट लोल्लट एवं शंकुक की धारणाएँ इसी मत से सम्बन्धित हैं। लोल्लट रस की निष्पत्ति ऐतिहासिक पात्र में एवं शंकुक नट में मानते हैं। आचार्य भामह, दण्डी, रुद्रट, वामनादि इसी परम्परा के हैं। वे सामाजिक से इतर तत्त्वों में रस की सत्ता मानते हैं—

मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यो रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता ॥

मधुर गुण के सन्दर्भ में वे कहते हैं—

"वाक्य तथा वस्तु (शब्द और अर्थ) में रस की सत्ता होती है और रसयुक्त ही माधुर्यगुण है।"

एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं—

कामंसर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निर्षिचति।
तथाप्यग्रामैतैवनं भारं वहति भूयसा ॥

"माना कि सभी अलंकार अर्थ में रस का संचार करते हैं, फिर भी, ग्राम्यता दोष का अभाव इस भार को अत्यधिक वहन करता है।"

दण्डी के ही सदृश आचार्य रुद्रट बताते हैं कि—

"विभावानुभाव सात्त्विक व्यभिचारिभावैरूपनीयमानः परिपूर्णः स्थायीभावो रस्यमानः रसः"

यह अभिमत, प्रकारान्तर भाव से आचार्य लोल्लट मत की पुष्टि करता है। मूलतः इनके अनुसार रस का अधिष्ठान काव्य में है या नट में या ऐतिहासिक पात्र में। आचार्य रुद्रट का निम्नलिखित कथन की वस्तुनिष्ठ सत्ता का सबसे बड़ा साक्ष्य है—

एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः,
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं,
काव्यं विधातुमलमत्र सदाद्रियेत ॥

निपुण कवि द्वारा सम्यक् रूप से स्फुट या चारु शैली में वर्णित ये रस रसिकों के मन का प्रसादन करते हैं। इनका ज्ञान किए हुए कवि सर्वथा रमणीक काव्य की रचना नहीं कर सकता। अतः इनका सदैव आदर करना चाहिए।

रस का अधिवास काव्य में है, प्राय: दण्डी, भामह आदि इसी की ओर संकेत करते हैं। आचार्य पतंजलि ने नट में रस का अधिवास स्वीकार किया है। आचार्य पाणिनि का सूत्र है—

'रसादिभ्यश्च'

मतुप् के अर्थ में ठन् प्रत्यय लगाकर, रस है जिसका या रस है जिसमें, उसे, पतंजलि ने रसिक माना है। इसको स्पष्ट करते हुए पतंजलि कहते हैं—"रसिको नटः" अर्थात्, रस की सत्ता नट में होती है या रस नट का है। रुट का विवेचन भी इसी प्रकार का है। अतः आचार्य भट्ट लोल्लट परम्परा के ही मत का अनुधावन करते हैं, और उनका रस के विषय का वस्तुपरक मत है। आचार्य अभिनव गुप्त एवं मम्मट दोनों इनके मत का उल्लेख करते हुए इसी तथ्य का समर्थन करते हैं।

जहाँ भट्टलोल्लट रस का अधिवास ऐतिहासिक पात्र या अनुकार्य में मानते हैं, वहीं शंकुक सामाजिकेतर नट में। इस प्रकार, इन मतों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि रस की सत्ता वस्तुपरक है। यह वस्तुपरकता निष्कर्षतया अर्थ-रूप रस को स्वोकृति देती है। काव्य में विभावादि की सिद्धि से निष्पन्न अर्थ रस ही सहृदय की वासना के आस्वादन का हेतु बनता है।

अर्थरस—यद्यपि अर्थरस की चर्चा ध्वनिवादी आचार्यों के पूर्व मिलती है, फिर भी उन्होंने भी इसकी ओर संकेत किया है—

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्यभेदावुभौस्मृतौ।

प्रतीयमान रूप होने के कारण अर्थ भी रस है और वह इस रूप में काव्यात्मा है।

आचार्य महिमभट्ट इस रस रूप काव्यार्थ को रचना का मुख्य लक्ष्य बताते हैं-

भावसंयोजना व्यंग्यपरसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥

आचार्य भरत विभाव का अर्थ "वहवोऽर्थो विभाव्यन्ते," अनुभाव का अर्थ-'अस्मादर्थोऽनुभाव्यते' ही करते हैं। कल्पनामण्डित होने के कारण विभाव एवं अनुभाव अन्ततया अर्थ का ही क्रमशः विभावन एवं अनुभावन करते हैं। इस अर्थ का निर्माण कवि कौशल का धर्म है। यह इतनी कुशलतापूर्वक रचा जाता है कि लोकात्मक पदार्थ की प्रतीति भी उसकी तुलना नहीं कर पाते—

कविशक्तिः अर्पिताभावास्तन्मयीभावयुक्तितः।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल ॥

आचार्य भरत ने बताया है कि काव्य का मुख्य लक्ष्य अर्थरस की ही निष्पत्ति है–

"न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"

आचार्य अभिनव गुप्त काव्य व्यापार के इस 'अर्थ रस' की चर्चा अभिनव भारती में इस प्रकार करते हैं—

"तत्काव्यार्थो रसः"

इस प्रकार, वस्तुवादी चिन्तक रस का अधिवास काव्य में ही मानते हैं। वही आगे चलकर अर्थरस के रूप में सामाजिक की वासना चर्वणा का हेतु स्वीकार किया गया।

इन तथ्यों पर विचार करने से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१. रस लोकानुभाव से विशिष्ट है। इसकी विशिष्टता के दो तथ्य हैं—
   क—लोकात्मक होते हुए भी लोक स्वभाव से भिन्न है।
   ख—रस ब्रह्मानुभूति से भिन्न है।
२. रसानुभाव लोकात्मक है।
३. रस लोकात्मकता एवं लोकेतरता से विलक्षण कृति का कलात्मक आस्वाद है।

आचार्य भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट एवं विश्वनाथ रस को सर्वथा लोक विशिष्ट आनन्द के रूप में स्वीकार करते हैं। इनकी व्याख्याओं से स्पष्ट है कि रस लोकस्वभाव से सर्वथा भिन्न है। यह लोकानुभव की भाँति कार्य, ज्ञाप्यादि सम्बन्धों से विशिष्ट, कार्य-कारणादि से भिन्न, उपचार मात्र से उत्पन्न होकर भ्रममूलक प्रमा के स्थान पर चित्त को योगियों जैसी समाधि दशा तक ले जाता है। डॉ० निर्मला जैन ने रस की लोकात्मक भाव से भिन्नता की सिद्धि के लिए 'रस सिद्धान्त एवं सौन्दर्यशास्त्र' शीर्षक ग्रन्थ में विभाव की अलौकिकता, स्थायी की विलक्षणता, रसिक की तन्मयता आदि आठ तर्कों को प्रस्तुत किया है। डॉ० नगेन्द्र ने भी अपने ग्रन्थ 'रस सिद्धान्त' के अन्तर्गत अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक रस एवं भाव व्यापार को लोक चेतना से भिन्न सिद्ध किया है। यही नहीं, रस का संबंध आध्यात्मिक आनन्द से भी नहीं है। सर्वथा लोकात्मक एवं सर्वथा आध्यात्मिक आनन्द से भिन्न कोटि के इस आनन्द को परिभाषित करते हुए डॉ० नगेन्द्र कहते हैं—

"इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि आचार्यों के अनुसार शब्दार्थ के माध्यम से विशुद्ध भावभूमिका में आत्म चैतन्य के आनन्दमय आस्वाद का नाम रस है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस अभिमत को वे स्वीकार नहीं करते कि रसानुभूति विशुद्ध लोकात्मक है।

शुक्ल जी ने रस मीमांसा में बताया है कि—

"मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप आनन्द शब्द से व्यक्त नहीं होता।"

किन्तु आचार्य शुक्ल काव्य परिभाषा को रस की इसी आनन्दात्मकता की विसंगति से ही सिद्ध करने का प्रयास करते हैं—

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है···।"

'हृदय की मुक्तावस्था में उत्पन्न दशा' क्या काव्य के रागात्मक आस्वाद की व्यञ्जना नहीं देती और लोकानुभव के बीच हृदय की यह मुक्तदशा क्या सम्भव है, फिर, आत्मा की मुक्तावस्थारूप ज्ञान दशा से इसकी तुलना कैसी ? काव्य व्यापार की दृष्टि से इसी को निःसंगता, अहं का विसर्जन या मम्मट के शब्दों में 'साधारण्युपायवलात्' शब्दों से विवेचित किया जा सकता था। 'हृदय की मुक्तावस्था रूप रस दशा' के लिए वे पुनः कहते हैं—

"इसी को चाहे रस का लोकोतरत्व कहिए या ब्रह्मानन्द सहोदरत्व कहिये, चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व।"

मूलतः भारतीय आचार्यों ने लोकानुभव एवं कलात्मक अनुभव के बीच स्पट विभाजन रेखा खींचकर उससे सर्वथा भिन्न एवं विलक्षण काव्यानन्द के स्वरूप का स्पष्टरूपेण बोध कराने के लिए अपने दार्शनिक मतवादों की पृष्ठभूमि में उसको विवेचित करने का प्रयत्न किया है। 'लोकोत्तर' एवं 'ब्रह्मानन्द' सहोदर का अर्थ आध्यात्मिक सन्दर्भ का नहीं है और न निर्दिष्ट आचार्य उसे संवित् के विषय व्यापार से भिन्न कोई लोक विलक्षण आस्वाद ही मानते हैं। लोकोत्तरता से उनका अभिप्राय वही है, जिसे शुक्ल जी ने 'लोकात्मक अहं का विसर्जन' या लोकवासनात्मक मन की निःसंगता कहा है।[1]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र जैसे विद्वान जब काव्यानुभव को लोकानुभव के रूप में विश्लेषित करने का प्रयास करते हैं, तब भी, बहुत सावधानी के बावजूद भी, रस की लोकविलक्षणता का स्वभाव प्रकारान्तर भाव से व्यञ्जित हो उठता है। एक स्थल पर वे कहते हैं—

> एवं नरोऽपि विप्रलम्भाद्यनुकुर्वाणः कदाचित्
> स्वयमपि तन्मयीभावमुपयात्यैवेति तद्गता अपि
> रोमांचादयस्तस्त्र रसं गमयेमुदेष।

---

१. रस सिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, पृ० १००

"नट भी रामादिगत विप्रलम्भ श्रृङ्गार का अनुकरण करते हुए कभी स्वयं भी तन्मयीभाव को प्राप्त हो जाता है।"[1]

आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र नाट्यदर्पण में पूर्वपक्ष की सही स्थापना करके रस के लोकोत्तर तत्त्व स्वभाव को दिग्भ्रमित करने का प्रयास करते हैं। आचार्य भरत से पण्डित राज जगन्नाथ पर्यन्त सभी आचार्य काव्य में वर्णित विभाव एवं अनुभाव को काल्पनिक बतलाते हैं। आचार्य भरत ने तो इन्हें वस्तु के स्थान पर अर्थ अर्थात् 'विभावार्थ' एवं 'अनुभावार्थ' कहा है। प्रस्तुत विवेचक भी इसे अविद्यमान रहने के कारण उसी सरणि में असत् तथा अस्पष्ट कहता है। उसकी अस्पष्टता एवं असत् स्वभावधर्मिता ही प्रमुख आचार्यों द्वारा साधारण्योपायबलात् लोकोत्तर चमत्कारिक कही गयी है। इस 'साधारण्योपायबलात्' अर्थात् साधारणीकरण के अभाव में लोकोत्तरधर्मिता का अन्य कोई अर्थ नहीं है। वह अस्पष्ट एवं असत् धर्मी होने के कारण लोकोत्तर नहीं है। काव्य का यही धर्म स्थायी एवं अन्य ४१ भावों की वासनाधर्मिता को उद्बुद्ध कर आस्वाद रूप लोकोत्तर कहलाता है।

यद्यपि रामचन्द्र-गुणचन्द्र की मान्यताओं का अन्य रीतियों से भी खण्डन किया जा सकता है, फिर भी उन्हीं के शब्दों में इसके नितान्त अलोकोत्तर न होने के स्वभाव का खंडन हो जाता है। इस प्रकार रस न शुद्ध लोकात्मक है और न ब्रह्मानन्दास्वाद के रूप में लोकविलक्षण ही।

ब्रह्मानन्दविषयक आध्यात्मिक आनन्द श्रेणी में भी रस को रखने की चेष्टा की गयी है। एक साक्ष्य भक्त आचार्यों द्वारा दिया जाता है। भक्त आचार्य भक्तिरस का आस्वाद आध्यात्मिक आनन्द के इतर रूप में स्वीकार करते हैं। भगवदालम्बन, उनकी विविध लीलाओं के अनुभाव से ब्रह्म विषयक रति इन काव्यों में भक्तिरस के रूप में आस्वादित होती है। क्या सचमुच भक्तिरस आध्यात्मिक आनन्द की ही अभिव्यक्ति है। भक्ति काव्य में अभिव्यक्त भक्तिरस का आस्वाद काव्य रस से थोड़ा-सा भिन्न है।

काव्य के विभावादि लोकाश्रित हैं। अनुभाव लोकाश्रित घटनाओं से जुड़े हुए भावों से ही सम्बद्ध है। रति आदि अनादि वासना के रूप में सहृदय के मन में आस्वादित होते हैं। किन्तु भक्तिकाव्य की स्थिति भिन्न है। अवतार आलम्बन है। वे पुरुष नहीं, छद्म पुरुष (नट-पुरुष) हैं। उनके अनुभावादि सात्विक सहित केवल लीलात्मक भाव दिखाने भर के ही लिए हैं। समस्त लोक काव्य के

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० २८६

स्थायी, सात्विक एवं संचारी भक्तिरसों के संचारी हैं। इन संचारियों द्वारा श्रृङ्गार, वात्सल्य, सख्य, दास्य एवं शान्त भक्ति रस पुष्ट होकर अभिव्यक्त होते हैं। इस सम्बन्ध में कई प्रश्न खड़े होते हैं—

१. क्या ईश्वर विषयक आसक्ति आदिवासना है। क्या उसे स्थायी भाव माना जा सकता है ?

२. प्रपञ्चात्मकता से सम्बद्ध आलम्बनादि विभाव एवं अनुभाव क्या रसदशा की निष्पत्ति करा सकते हैं ?

३. क्या सम्पूर्ण स्थायी भावों, सात्विकों एवं संचारियों का समाहार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं श्रृंगार में हो सकता है ?

मेरी दृष्टि में ईश्वर विषयक आसक्ति न तो रति आदि की भाँति सहृदय के हृदय में संचित् अनादि वासना है, न विभाव एवं अनुभाव प्रपञ्चात्मक रूप में रसाभिव्यक्ति के आधार हो सकते हैं और न भरत द्वारा निर्दिष्ट उनचास भावों का समाहार ही श्रृङ्गार, वात्सल्य, सख्य, दास्य एवं शान्त में हो सकता है। भक्ति साहित्य का सहृदय एक आस्तिक, ईश्वर में प्रबल प्रतिष्ठा रखने वाला एवं उस पर अनेक अलौकिक शक्तियों का आरोपण करके उनकी लोकात्मक लीलाओं से तथाकथित निष्पन्न काल्पनिक आनन्द का आरोपण अपने मन पर करने वाला व्यक्ति है। अतः "रसो वै सः, रसं ह्येवाय लब्धानन्दी भवति" आदि उक्तियों का अर्थ काव्य की दृष्टि से रसात्मक न होकर कुछ भिन्न ही है। तैत्तिरीयोपनिषद् की 'ब्रह्म बल्ली' के छठें अनुवाक में 'आनन्दमय' ब्रह्म का वर्णन अनेक मन्त्रों में मिलता है। सातवें अनुवाक में ब्रह्मसाक्षात्कार से उत्पन्न रसानुभूति की चर्चा की गयी है—

सैषाऽऽ नन्दस्य मीमांसा ँ सा भवति

× × ×

एतमानन्दमयमात्मानमुयक्रामति

× × ×

आनन्दो ब्राह्मणो व्याजनात्

× × ×

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन्

बताया गया है—

"रसो वै सः। रस ँ ह्येवाय लब्धानन्दी भवति।
को ह्येवान्यात्, कः प्राणयाद्,

यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।
एष ह्येवानन्दयति ।"

वह आनन्दमय ही रस स्वरूप है। वह जीवात्मा इस रस स्वरूप परमात्मा को पाकर आनन्दयुक्त हो जाता है। यदि वह आकाश की भाँति परिपूर्ण आनन्द स्वरूप परमात्मा नहीं होता, तो कौन जीवित रह सकता ? कौन प्राणों की क्रिया कर सकता ? सचमुच वह परमात्मा ही सबको आनन्द प्रदान करता है ।

श्रुतिवाक्यों में ब्रह्मानन्द के साक्षात्कार से उत्पन्न आस्वाद को 'रस' नाम से पुकारा गया है। ब्रह्मसाक्षात्कार से उत्पन्न इस आनन्दमय रसात्मक स्वरूप की चर्चा पंडितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में की है।

"चिद् का अर्थ है, प्रमा अर्थात् अज्ञानादि से आच्छादित ज्ञान । अन्तःकरण की वृत्ति के आनन्दमय हो जाने को रस चर्वणा समझना चाहिए। यह चर्वणा परब्रह्म के आस्वादरूप समाधि से विलक्षण है क्योंकि इसका आलम्बन विभावादि विषयों (सांसारिक पदार्थों) से युक्त आत्मानन्द है और समाधि के आनन्द के साथ रह नहीं सकते। यह चर्वणा केवल काव्य-व्यापार व्यञ्जना से उत्पन्न की जाती है ।"[१]

मूलतः चिदावरण भंग की, भरत की शब्दावली में भी, व्याख्या कर सकते हैं। काव्य के सम्पर्क में आने तथा सहृदय के सत्त्वस्थ हो जाने पर अर्थ एवं कल्पना के लोकात्मक विभावों के मायात्मक (प्रमात्मक) रूपों के विनष्ट हो जाने के कारण यह आनन्द रूप रस उत्पन्न होता है। यह ब्रह्मानन्द से भिन्न है, क्योंकि लोकात्मक बिभाव से उत्पन्न होता है, जबकि ब्रह्मानुभूति का सम्बन्ध योगात्मक वृत्ति से है। यही नहीं क्या भक्तिरस की अनुभूति ब्रह्मानन्द विषयक होगी ? इसका उत्तर है, नहीं, क्योंकि भागवत् पुरुष की लीला का आधार लोकात्मक व्यञ्जनाएँ ही हैं। उनका भक्तिरस इस लोकात्मक व्यञ्जना की सहज नहीं अपितु बलात् निकाली गयी आनन्दमूलक व्यञ्जना है। भक्तिकाव्य के अध्ययन से एक पाठक को साहित्य रचना के काव्यात्मक आस्वाद का ही आनन्द मिलता है। वह लीला एवं उसके लोकात्मक संदर्भों का व्यंग्यार्थ से रसभोग नहीं अपितु ज्ञान प्रक्रिया से आध्यात्मिक अनुभव मात्र करता है। भक्ति काव्य में अभिव्यक्त रस काव्यरस से विलक्षण न होकर कवि के कल्पना विलास से सम्पृक्त शब्दार्थ की कलात्मक रचना का ही धर्म है। वह साधना एवं समाधि के आनन्द से भिन्न काव्यार्थ का ही आनन्द है।

---

१. हिन्दी रसगंगाधर, पृ० ५५

जहाँ तक समाधि के आनन्द का प्रश्न है, उसका स्वभाव पूर्णतया भिन्न प्रकार का है।

भाष्यकार पतंञ्जलि ने समाधि के दो रूपों का उल्लेख किया है—

१. सम्प्रज्ञात समाधि

२. असम्प्रज्ञात समाधि

१. "अभ्यास तथा वैराग्य के उपायों से निरुद्ध चित्तवृत्ति वाले साधक की सम्प्रज्ञात समाधि किस प्रकार की कही गयी है"—यह बताते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

"वितर्क विचारानन्दाऽस्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः"

—समाधि पाद । १७

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता का अनुगम (साक्षात्कारोदय) होने से सम्प्रज्ञात समाधि होती है।

आनन्द को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि 'आनन्दोल्लादः' अर्थात् आह्लाद (रूप की परिपूर्णता, साक्षात् उपस्थिति) आनन्द है।

भाष्य सिद्धान्त में इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है—

"एकादशेन्द्रियाँ ही आनन्द हैं, क्योंकि वे सत्व प्रधान अहंकार के उत्पन्न होने के कारण सत्वप्रधान या सत्त्वरूप होती हैं, और सत्त्वगुण सुखात्मक होता है, इसलिए चित्त की पूर्णतः सुखकाराकारितता 'आनन्द' है।[1]

इस सम्प्रज्ञात समाधि से भिन्न द्वितीय प्रकार की समाधि असम्प्रज्ञात होती है। असम्प्रज्ञात के दो भेद, उपाय प्रत्यय तथा भाव प्रत्यय होते हैं। भाव प्रत्यय सर्वश्रेष्ठ है जो विदेहों एवं प्रकृतिलीनों में होती हैं। प्रकृति में लीन हो जाने पर साधक कैवल्य पद का अनुभव करते रहते हैं। काव्य की रसदशा में अनुविद्ध चित्त यहाँ तक नहीं पहुँच सकता।

काव्यरस के आनन्दास्वाद की तुलना सम्प्रज्ञात दशा के 'आनन्द' से की जाती है। आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि आभोग से भी रहित होती है। आभोग का अर्थ है, साधक के चित्त की पूणरूपेण 'सूक्ष्मकारकारिता' का विचार। अस्मिता भोग भी इसमें गौण रूप से है। अस्मिता योग का अर्थ है चित्त में प्रतिविम्बित पुरुष (ब्रह्म) की सत्ता अर्थात् पुरुष (ब्रह्म) प्रतिविम्बोपेतता ही अस्मितता है और यही अहंकार है। अस्मिता और अहंकार दोनों एक हैं। इस अस्मिता का तत्त्व गौण रूप से आनन्दानुगत रूप में प्राप्त होता है।

---

१. योगसूत्रभाष्यसिद्धि, डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, पृष्ठ ६६-६७

तात्पर्य यह कि ब्रह्म की प्रतिविम्बता के गौण कारण से अर्थात् अस्मिता या अहंकार के सामान्य उद्रेक से एकादश इन्द्रियों के सत्त्वस्थ हो जाने के कारण उत्पन्न चित्त की पूर्णतः सुखकारिता ही आनन्द है । यह आनन्द की सामान्य कोटि है ।

समाधि के इस सामान्ट कोटि वाले आनन्द की तुलना में काव्यानन्द को रखकर विचार करने से भी निम्नलिखित तथ्य प्रकाश में आते हैं—

	काव्य रस से सम्बन्धित आनन्द	समाधिगत आनन्द
१.	काव्यरस के लिए विशिष्ट साधना की आवश्यकता नहीं पड़ती । सहृदय के लिए अध्ययन, अनुशीलन एवं अभ्यास तक ही सीमित रहना पड़ता है । यही नहीं इनका मन विकारादि से परिपूर्ण रहता है ।	समाधिगत आनन्द की दशा तक पहुँचने के लिए तपस्या, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान अनिवार्य है, किन्तु यहाँ राग एवं क्लेशादि के मुक्ति के बाद ही समाधि की दशा आती है ।
२.	साधारण्योपायबलात् का मिथ्यात्व ही सहृदय के अन्तःकरण को सत्त्वस्थ करके आनन्द जैसी दशा में पहुँचाता है ।	साधक के चित्त पर ब्रह्म के प्रतिविम्बता के कारण पूर्ण सुखकारिता का स्वतः स्फुरण होता है ।
३.	'सद्यपरिनिवृत्ति' मात्र सामयिक होती है ।	साधना की प्रक्रिया से जुड़कर अखण्ड-भावेन साधक चित्त में ब्रह्म की प्रति-विम्बात्मकता का आस्वादन करता है ।
४.	कर्मवासना या कर्माशय संस्कार क्षरित नहीं होते ।	इसमें कर्मवासना एवं कर्माशय के संस्कार क्षरित होते जाते हैं ।
५.	यह आनन्द अपने-अपने काव्य के अन्तिम प्रतिफल के रूप में हैं । काव्यानन्द अपने आप में साध्य है ।	'आनन्द' अस्मिता एवं अन्य असम्प्रज्ञात समाधि दशा के लिए यह कारण है । यह अपने आप में साध्य नहीं है । यही नहीं वितर्क एवं विचार चित्तसमाधि में भी गौड़रूप में वर्तमान रहते हैं ।
६.	काव्य में मात्र 'तम' एवं 'रज' के अनुवेध होने से सत्त्वोद्रेक होता है इसी को भट्टनायक ने 'आस्वाद्य-रूप' रस कहा है । काव्य में एका-	'वितर्क' नामक समाधि की भी यही दशा होती है— (क) स्थूलाकारित्व में चित्त की स्थूल परिपूर्णता ।

कारिता की यह स्थिति आती है किन्तु वह कवि कल्पना, शब्दार्थ आदि से प्रेरित है।	(ख) आलम्बन में चित्त की पूर्णरूप से सूक्ष्माकारकारिता। इन दोनों में गौड़रूप से आनन्द विद्यमान है।

इस प्रकार काव्य का आनन्द, समाधिजन्य 'आनन्द' से भिन्न है। अतः उपनिषदों में प्रतिपादित आनन्दाधिक्य से परिपूर्ण ब्रह्म के स्वभाव से रसादि की तुलना का कोई अर्थ ही नहीं है। काव्य रस उस ब्रह्म के आनन्द धर्म के विम्ब का भी प्रतिबिम्ब नहीं है। इस दृष्टि से 'रस' को 'ब्रह्मानन्द' से उपमित करना ठीक नहीं है। 'ब्रह्मानन्द सहोदर' शब्द एक काव्योक्ति मात्र है, उसे इसी अर्थ में लेना चाहिए। इस शब्द का व्यंग्यार्थ है, सुख दुखात्मक लोकानुभूति से भिन्न स्वभाव वाला। इस दृष्टि से 'सत्त्वोद्रेकात् अखण्डस्व···' का अर्थ होगा—

कवि कौशल, कल्पना-विन्यास एवं विशिष्ट शब्दार्थ रचना के द्वारा—

१. सात्त्विक भाव दशा में चित्त के अधिष्ठित हो जाने के पश्चात् इसका जन्म होता है। 'सत्त्वोद्रेकात्' पद काव्य के सन्दर्भ में यही अर्थ देता है, व्यंजित अर्थ 'ब्रह्मानन्दसहोदर' है—जिसके प्रकाश में रजस्, तमस् के विनिष्ट हो जाने पर सत्वगुण के उद्रेक से आध्यात्मिक आनन्द का जन्म होता है। सात्त्विक भाव इसीलिए कहे गये हैं कि इनके जागृत होने पर इनके भोग काल तक चित्त लोकात्मक सुख-दुखात्मकता से मुक्त हो जाता है।

२. 'अखण्डस्व' शब्द का अर्थ है, 'कलास्वाद के रूप में' रसानुभूति अखंडित होती है। डॉ० पी० वी० काणे इसे स्पष्ट करते हुए बताते हैं—

Aesthetic pleasure or delight is one (Rasa is Really one) But as in the case of speech, where senses are derived from sentences and sentenses one split up into words and letters, so they held that the pleasurable feeling experience (संवेदन या अनुभूति) or effect could be distinguished as of eight of sorts.

इसके साक्ष्य में उन्होंने अभिनव भारती का दृष्टांत दिया है—

"तेन रस एव नाट्यं यस्य व्युत्पत्तिः फलमित्युच्यते। तथा च रसादृते इत्यत्र ॥ (नाट्यशास्त्रः ६, ३४) एक वचनोत्पत्तिः। ततश्च मुख्यभूतान्महारसात्स्फोटदृशीवासत्यानि वा अन्विताभिधानदृशीवोपायात्मकानि सत्यानि वा, अभिहितान्वयदृशीव तत्समुदायरूपाणि वा रसान्तराणि भागाभिनिवेश दृष्टानि रूप्यन्ते।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में इस महारस की चर्चा की है—महारसं महा-भोग्यं उदात्तवचनान्वितम् ।[1]

अतः विश्वनाथ द्वारा अखण्ड शब्द का प्रयोग रस की अखण्डता को ही व्यंजित करता है—

३. 'स्वप्रकाशानन्द' शब्द भी रस एवं ब्रह्मपरक भिन्नार्थों के लिए एक साथ प्रयुक्त है। काव्यानन्द के अर्थ में द्रुति, विस्तार, विकास के उदय होने पर आस्वादन के भोग काल में चित्त लोकात्मकता से मुक्त हो जाता है। आचार्य शुक्ल ने इसी को हृदय की मुक्तदशा कहा है। हृदय की मुक्तावस्था ही रस है जबकि समाधि दशा में वासना संस्कार आदि के क्षय हो जाने से पुरुष बुद्धि से उत्पन्न कर्माशय प्रपंच से मुक्त शुद्ध तथा स्वयं प्रकाशमय हो उठता है। वासना क्षय के पश्चात् विदेह दशा में ब्रह्ममयता वस्तुतः स्वयं प्रकाश है। इसी प्रकार 'चिन्मय' शब्द का अर्थ है, वासनाशून्य होकर चित्त का आत्ममय हो जाना। समाधि आनन्द में 'वितर्क' तथा 'विचार' अवस्था के प्रशमन के कारण यह स्थिति रहती है। काव्य में 'साधारण्योपायबलात्' या 'सामान्यगुणयोगवृत्ति' से विभावानुभाव की भ्रमात्मक सत्ता की समूल समाप्ति के बाद मन का आस्वाद दशा में पहुँच जाना ही, चिन्मयता है।

सभी प्रकार के ज्ञान-प्रपंच से मुक्ति का अर्थ 'ब्रह्मास्वाद' के सन्दर्भ में अविद्या, क्लेशादि रूप ज्ञान समुदायों का क्षय एवं काव्य के सन्दर्भ में विभावा-नुभाव के सुख दुःखादि ज्ञान लोक में जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति के आदि से उत्पन्न प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, स्मृति, संवेदन रूप ज्ञानात्मक प्रपचों से क्षण भर के लिए मुक्त होकर सहृदय काव्यास्वादन करता है।

४. 'लोकोत्तर चमत्कार से परिपूर्ण'—चमत्कार शब्द आध्यात्मिक सन्दर्भ में 'आनन्द' का पर्याय है। योग ने ब्रह्म को चैतन्य चमत्कार शब्द से अभिहित किया है। इसका अर्थ है, लोकोत्तर आनन्द से परिपूर्ण। काव्यानन्द अथवा रस के सम्बन्ध में इसका अर्थ 'लोकविलक्षणं' एवं ब्रह्मानन्द के सम्बन्ध में शुद्ध ब्रह्मानन्द है।

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ निम्नलिखित श्लोक से दुहरे अर्थ का विधान करते हैं—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्व प्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः॥

---

१. हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स, : पी० वी० कणे, पृष्ठ ३५९

लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।।

यहाँ 'ब्रह्मास्वादसहोदरः' शब्द का अर्थ है, ब्रह्मस्वाद के समान स्वभाव जैसा काव्य का स्वभाव ।

इस प्रकार काव्य के अध्ययन से सहृदय के हृदय में अस्वाद रूप में उत्पन्न 'आनन्द' लोकानुभूति से उत्पन्न आनन्द और ब्रह्मानन्द, स्वभाव तथा स्वरूप की दृष्टि से; दोनों से भिन्न एवं विलक्षण है । आचार्य विश्वनाथ के उपर्युक्त श्लोक में रस स्वभाव का प्रत्याख्यान ब्रह्मानन्द से भिन्न करके किन्तु उसी के सहयोग से समझाने का प्रयत्न किया गया है ।

भरत के रससूत्र की व्याख्या

आचार्य भरत ने रसाध्याय के अन्तर्गत महात्मा द्रुहिण (ब्रह्मा) द्वारा निर्दिष्ट प्रसिद्ध रससूत्र "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः" के द्वारा रस के स्वरूप एवं उसकी निष्पत्ति-प्रक्रिया का साक्ष्य प्रस्तुत किया है । आचार्य अभिनव-गुप्त के साक्ष्य से स्पष्ट है कि उनके पूर्ववर्ती तीन आचार्यों भट्ट लोल्लट, शंकुक एवं भट्टनायक ने इस सूत्र की व्याख्या करके निहित अभिप्राय को भिन्न-भिन्न ढंग से उद्घाटित करने की चेष्टा की है । अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती आचार्य आनन्द-वर्धन ने भट्टलोल्लट एवं शंकुक के मतों की ओर संकेत किया है । ये दोनों मत अर्वाचीन नहीं है । आचार्य रुद्रट ने भट्ट लोल्लट के मत का संकेत करते हुए उसकी प्राचीनता का साक्ष्य प्रस्तुत किया है । शंकुक द्वारा निर्दिष्ट मत भी सर्वथा प्राचीन मत है । रघुवंश में साक्ष्य है कि राम और सीता संकट की अव-स्थाओं के अरण्य चित्रों को देखकर सुख का अनुभव करते हैं । नट में रस होने की धारणा का अनुमोदन पतंजलि करते हैं । अतः भट्टलोल्लट एवं शंकुक के मत मूलतः प्राचीन आचार्यों की धारणाओं के अनुक्रम में हैं ।

जैसा कि, ऊपर आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट है—विभावानुभावव्यभिचारि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती हैं—के अनुक्रम में—

विभाव शब्द का अर्थ है, कवि कल्पना एवं कलात्मक कौशल से सृजित विभावन रूप अर्थ व्यापार, अनुभाव का अर्थ है, अनुभावन कराने वाले अर्थ, विभावन एवं अनुभावन को जीवन्तता प्रदान करने वाले वे भाव व्यापार जो मन को सत्त्व दशा तक ले जाते हैं, संचारी हैं । संयोग का अर्थ है, पदार्थों का अपने

स्वत्व के साथ विलयन करके एक अन्य विशिष्ट स्वाद को उत्पन्न करना। इस संयोग को आचार्य भरत ने चार दृष्टान्तों से समझाया है—

"यथाहि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिभवति, यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यै व्यंजनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वतन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।"

दूसरा दृष्टान्त देते हुए उन्होंने इस 'संयोग' शब्द को स्पष्ट किया है—

यथा हि, नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसास्वादयन्तिसुमनसः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभिनयव्यञ्जितान् वागंगसत्त्वोचेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।

संक्षेप में आचार्य भरत द्वारा संयोग के सन्दर्भ में ये चार दृष्टान्त देते हैं—

१. नाना व्यंजनों के संयोग से उत्पन्न स्वाद की भाँति

२. नाना औषधियों के संयोग से उत्पन्न आसवादि स्वाद की भाँति

३. नाना द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न सिद्ध रस पारदादि की भाँति

४. विकीर्ण-पुष्पों से सज्जित मालाकारिता रूप विभावानुभादि के समुचित संयोजन के सेवन से उत्पन्न सुख की भाँति

जैसे गुड़ादि द्रव्य, व्यंजन, औषधि को मिलाकर षाडवादि आस्वाद की दृष्टि से विलक्षण पेय बनते हैं, उसी प्रकार अनेकानेक भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं।

व्यंजनौषधि संयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत्।
एवं भाव रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्॥

एक अन्य स्थल पर आचार्य भरत पुनः कहते हैं—

"नानाभावाभिनय व्यंजितान् वागङ्ग सत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः तस्मान्नाट्य रसा इति व्याख्याताः।"

आचार्य भरत ने भावाध्याय में बताया है कि विभावादि के प्रयत्नपूर्वक सम्पन्न समुचित संयोग से रस निष्पत्ति होती है—

नाना भावार्थ सम्पन्नाः स्थायिसत्त्वाभिचारिणः।
पुष्पावकीर्णाः कर्तव्याः काव्येषु हि रसा बुधैः॥

पुष्पों को जिस प्रकार माले में सँजोकर एक भावित आकार दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार सहृदय, कवि, नाट्य प्रयोक्ता अनेकानेक भावों, अर्थों से सम्पन्न सात्त्विक तथा व्यभिचारी को यथोचित रूप से समायोजित करके रस निष्पत्ति की स्थिति उत्पन्न करते हैं। यथोचित् समायोजन के लिए 'पुष्पावकीर्णाकर्त्तव्याः' दृष्टान्त है।

भरत सूत्र में अन्तिम शब्द निष्पत्ति है। भरत ने निष्पत्ति शब्द का अर्थ 'उत्पत्ति' ही नहीं लगाया है। रसादि की प्रक्रिया की दृष्टि से द्रव्यादि से विलक्षण आस्वाद स्वभाव वाले रस की उत्पत्ति, बनना, आस्वादन आदि निष्पत्ति शब्द के अर्थ हैं। सहृदय प्रेक्षक स्थायी भाव का आस्वादन करते हुए हर्ष आदि को प्राप्त करते हैं—

"स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति"

के साक्ष्य के आधार पर निष्पत्ति का अर्थ है, हर्षादिक अवस्थाओं में मन का पहुँच जाना है।

हर्षादि तक पहुँचने के पीछे कौन-सा सिद्धान्त निहित है, इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य भरत कहते हैं—

"एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपञ्चाशद्भावः प्रत्यवगन्तव्याः। एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसाः निष्पद्यन्ते"

इस सिद्धान्त को एक अन्य स्थल पर दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

योऽर्थो हृदय संवादी तस्यभावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्ककाष्ठमिवाग्निना॥

रस प्रक्रिया के सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'स्थायी भाव' हैं और वही रसत्व के आधार हैं—

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह॥

आचार्य भरत के रस सूत्र के प्रथम ज्ञात व्याख्याता आचार्य भट्ट लोल्लट हैं। अभिनवगुप्त ने भट्टलोल्लट के मत को इस प्रकार उद्धृत किया है—

"अत्र भट्टलोल्लट प्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्यु—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावादिश्चित्तवृत्तेः स्थाप्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावश्च न रसजन्या अत्र विक्षिताः तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। अपि तु भावानामेव येऽनुभावाः। व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः। दृष्टान्तेऽपि व्यंजनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्, अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी त्वनुपचितः। स चोभयो रपि। मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसंधानबलादिति।"

अर्थात्, भट्ट लोल्लट आदि व्याख्याताओं ने इस सूत्र की इस प्रकार व्याख्या की है कि विभावादि का जो संयोग अर्थात् स्थायीभाव के साथ (विभाव, अनु-

भाव तथा व्यभिचारी भाव का संयोग) उससे रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है। उन (विभाव, अनुभाव, संचारी भावों) में से विभाव स्थायिभाव रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण होते हैं। अनुभाव शब्द से यहाँ रसजन्य (कटाक्षादि रूप) अनुभाव विवक्षित नहीं है: क्योंकि उन (रसजन्य अनुभावों) की गणना रस के कारणों में नहीं की जा सकती है, (वे तो रस के कार्यभूत होते हैं) अपितु (यहाँ रस के कारणभूत अनुभावों में इत्यादि स्थायी) भावों के ही जो (पीछे उत्पन्न होने के कारण) अनुभाव हैं (और उनका ग्रहण विवक्षित है—और (निर्वेदादि) व्यभिचारी भाव चित्तवृत्ति स्वरूप होने से— "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिमनसो लिंगम्" इस नियम के अनुसार रति रूप तथा निर्वेदादि रूप दो प्रकार की चित्तवृत्तियाँ एक समय में नहीं हो सकतीं हैं, यद्यपि स्थायिभाव के साथ नहीं रह सकते हैं, किन्तु यहाँ उस (स्थायी भाव) के संस्कार रूप में विवक्षित हैं। इसलिए रस के रूप में स्थित रत्यादि स्थायिभाव के साथ संस्कार रूप में निर्वेदादि व्यभिचारी भाव रह सकते हैं।

(रस के उपपादन के लिए आगे दिए जाने वाले व्यंजनादि रूप) दृष्टान्त में भी व्यंजनादि के बीच में किसी (रस) की स्थायि भाव के समान अनुद्भूत (वासनात्मक) रूप में स्थित होती है और दूसरे की व्यभिचारि भाव के समान उद्भूत रूप में। इसलिए विभाव, अनुभाव, संचारिभाव से परिपुष्ट किया हुआ स्थायि भाव ही रस है और अपरिपुष्ट (स्थायि भाव रस से भिन्न स्थायी भाव कहलाता) है। यह रस तथा स्थायि भाव का भेद है। वह (रस, अनुकार्य रामादि तथा अनुकर्ता नट) दोनों में रहता है तथा रामादिरूपता की प्रतीति होने के कारण (गौण रूप से) नट में भी (रस की प्रतीति होती है)। रस-सूत्र की यह व्याख्या भट्ट लोल्लटादि करते हैं।[1]

आचार्य मम्मट ने इस मत को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपन कारणैः, रत्यादिको भावो जनितः अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेप प्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लट प्रभृतयः"

विभावों [अर्थात् रस के आलम्बन तथा उद्दीपन के कारणभूत] ललना (आलम्बन विभाव) और उद्यान आदि (उद्दीपन विभावों) से रति आदि (स्थायी) भाव उत्पन्न हुआ (रति आदि की उत्पत्ति के) कार्यभूत कटाक्ष भुजा-

1. रस सिद्धान्त : डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १३९

क्षेप आदि अनुभावों से प्रतीति के योग्य किया गया और सहकारी रूप निर्वेदादि व्यभिचारी भावों से पुष्ट किया गया मुख्य रूप से अनुकार्य रूप रामादि में और उनके स्वरूप का अनुकरण करने से नट में प्रतीयमान (अर्थात्, आरोप्यमाण इत्यादि स्थायिभाव ही) रस (कहलाता) है। यह भट्ट लोल्लट आदि का मत है।

आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'रस निष्पत्ति' की जो भी व्याख्या की है, वह आचार्य भट्ट लोल्लट प्रभृत विद्वानों के मत के समीप है—

प्रतिक्षणमुदय व्ययधर्मकेषु बहुष्वपि व्यभिचारित्तवनुयायितयावश्यं तिष्ठतीति स्थायी। यद्वा तद्भाव एवं भावात् अभावे वा अभावात् रत्यादिर्व्यभिचारिणं ग्लान्यादिकं प्रत्यवश्यं स्थायी। उपचयं प्राप्य रसरूपेण रत्यादिभवतीतिभावं।[1]

विभावैर्ललनोद्यानादिभिश लम्बनोद्दीपनरूपै वाह्‌यैहेतुभिः सत एवाविर्भावाद् व्यभिचारिर्ग्लयादिभिः रसिकमनः शरीरवर्तिभिः परिपोषणाच्च। स्वीकृत साक्षात्कारित्वानुभूयमानावस्थो, यथासम्भवं सुख दुःखस्वभावो रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।

× × ×

३. रसश्च मुख्यलोकगतः प्रेक्षकगतः काव्यस्य-श्रोतृ अनुसन्धायकद्वयगतोवेत्ति।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस की लोकात्मक-उत्पतिमूलक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। अभिनवगुप्त एवं मम्मट दोनों केवल लोल्लट की नहीं अपितु 'लोल्लटादि' के मत के रूप में इसका उल्लेख करते हैं, रामचन्द्र-गुणचन्द्र कहते हैं—

१—एवं नटोऽपि रामादिगतं विप्रलम्भाद्यनुकुर्वाणः कदाचित् स्वयमपि तन्मयीभावमुपयात्यैवेति तद्‌गता अपि रोमांचादयस्तत्र रसं गमयेयुरेव, पृ० २९६

सामाजिक नटादि में आरोपित अनुकार्य (रामादि) की सत्यता क्यों स्वीकार कर लेते हैं, इस सम्बन्ध में रामचन्द्र-गुणचन्द्र चार मतों का उल्लेख करते हैं—

---

१. तुलना कीजिए—**भट्ट लोल्लट**—"तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः।"—**अभिनवगुप्त**

तुलना कीजिए—विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्वनोद्दीपन कारणै......
......व्यभिचारिभिर्निवेदादिभिः सहकारिभिरुपचित —काव्यप्रकाश

तुलना कीजिए—अभिनवभारती—भट्टलोल्लट मत—

...मुख्ययावृत्त्या रामादावनुकार्ये अनुकर्तरि च नटे रामादिरुपता—नुसन्धानवलादिति।"

पण्डितराज जगन्नाथ ने रस गंगाधर में लोल्लट का उल्लेख किए बिना उनके मत को इस प्रकार रखा है—

"मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादिः कमनीयविभावाद्यभिनय प्रदननकोविदे दुष्यन्तादि अनुकर्तरि नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते इत्येके। मतेऽस्मिन् साक्षात्कारो दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलादि विषयकरतिमानित्यादिःप्राग्बद्धर्म्यशे लौकिक आरोप्यांशे त्वलौकिकः।"

"दुष्यन्त आदि में रहने वाले जो रति आदि हैं, प्रधानतया वे ही रस हैं। उन्हीं को नाटक में सुन्दर विभाव आदि का अभिनय दिखाने में निपुण दुष्यन्त आदि का अभिनय करने वाले नट पर आरोपित करके हम उसकी अनुभूति कर लेते हैं" ऐसा कुछ लोगों का मत है।[1]

आचार्य भट्ट लोल्लट का यह मत सर्वाधिक प्राचीन परम्परा में सम्बन्धित है। यह उन्हीं का मत नहीं है, अपितु नाट्य परम्परा के अन्तर्गत, ऐसा प्रतीत होता है, आचार्य भरत कृत नाट्यशास्त्र के निर्दिष्ट सन्दर्भों के आधार पर यह मत प्राचीन काल से चला आ रहा है। आचार्य भट्ट लोल्लट की इस सम्बन्ध में कोई कृति नहीं मिलती। मीमांसाशास्त्र में इनके नाम से ग्रन्थों का उल्लेख अवश्य मिलता है। डॉ० पी० वी० कणे ने 'श्राद्ध प्रकरण' पर इनके द्वारा लिखे गए एक ग्रंथ का उल्लेख किया है।[2] यही नहीं, उन्होंने अभिनव भारती के साक्ष्यों के आधार पर 'नाट्यशास्त्र' के एकाधिक अध्यायों का व्याख्याता माना है। मम्मटाचार्य ने 'दीर्घदीर्घतरोव्यापार अभिधा, के माध्यम से भट्ट-लोल्लट मत की ओर संकेत किया है। हेमचन्द्र के काव्यानुशासन के पाँचवें अध्याय में इनके नाम से दो श्लोक आते हैं—जिनमें से प्रथम का उल्लेख 'आपराजिति' रचनाकार नाम से राजशेखर कृत काव्य मीमांसा में मिलता है। 'आपराजिति' नाम से इनके पुकारे जाने का अन्य कोई साक्ष्य नहीं मिलता। वामन झलकीकर ने काव्य प्रकाश की टीका में इन्हें मीमांसक माना है और यह साक्ष्य काव्यप्रकाशप्रदीप के रचनाकार गोबिन्द ठाकुर का है।

भट्ट लोल्लट प्रभृति कहकर आचार्य अभिनव गुप्त भरत के रस सूत्र की व्याख्या के जिन अंशों को प्रस्तुत करते हैं, उन पर अभिनव गुप्त की पाण्डित्य-पूर्ण शैली का प्रभाव अवश्य है। भरत के रससूत्र के इन प्राचीन व्याख्याकारों

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा : डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ३१६ तथा-पृष्ठ ३०२

२. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ५१

की दृष्टि में भाव एवं रसादि विषयक क्या दृष्टिकोण था, इसे अभिनवगुप्त ने स्पष्टरूपेण नहीं रखा है। भट्ट लोल्लट यदि मीमांसक थे तो वे क्या सभी इस परम्परा के आचार्य मीमांसक ही थे। आचार्य धनिक धनंजय शुद्ध कवि थे। जैन मतावलम्बी रामचन्द्र-गुणचन्द्र की भी नाट्य विषयक मान्यताएँ व्यञ्जना विरोधी हैं। इन्होंने 'रससूत्रेतर' रस समस्याओं पर अपने विचारों को रखा है, जिनसे उनकी निष्पत्ति विषयक मान्यताएँ अधिक स्पष्ट होती हैं। आचार्य अभिनव गुप्त ने इनकी इस धारणा को भलीभाँति स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने केवल 'रससूत्र की व्याख्या' से सम्बन्धित अंशों को अपने शब्दों में रखा है। उनके अनुसार भट्ट लोल्लट आदि भरत के रससूत्र की जो भी व्याख्या देते हैं, उनसे उनका मन्तव्य इस प्रकार स्पष्ट होता है—

१. विभावादि के स्थायी भाव से संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

२. निष्पत्ति शब्द का अर्थ उत्पत्ति है।

३. स्थायी भाव 'चित्तवृत्ति' विशेष है।

४. विभावादि का स्थायी भाव से 'संयोग' होता है।

५. संयोग शब्द का अर्थ है –विभाव, अनुभाव एवं संचारिभाव से उपचित (पोषित : पुष्ट, परिपुष्ट) किया जाना।

परिपोषण की यह प्रक्रिया विभाव, अनुभाव एवं संचारि के साथ एक जैसी नहीं होती, अपितु कार्यभेद से पोषण का स्वरूप भेद भी परिवर्तित होता है।

(१) विभाव चित्तवृत्ति रूप स्थायी भाव की उत्पत्ति का कारण बनता है।

(२) रसादि स्थायीभाव के उत्पन्न होते ही उनके पीछे-पीछे उत्पन्न होने वाले अनुभाव हैं। मम्मट के शब्दों में ये कार्यभूत कटाक्ष-भुजाक्षेप आदि से स्थायी भाव को प्रतीति का विषय बनाते हैं। विभाव से उत्पन्न रति ही है, जो इसकी प्रतीति कराती है।

(३) उद्भूत वासनात्मक वृत्ति से संचारी भावों का क्या सम्बन्ध है, इसे अभिनवगुप्त स्पष्ट नहीं करते। वे केवल इतना ही बताते हैं—"व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिता। दृष्टान्तेऽपि व्यञ्जनादि मध्ये कस्यस्चिद्वासनात्मकता स्थायिवत् अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्।"

चित्तवृत्तिरूप होने के कारण भी व्यभिचारी स्थायी भाव के सहभावी (साथ-साथ उत्पन्न) नहीं होते किन्तु यहाँ उस स्थायी भाव के संस्कार रूप में इनका कथन किया गया है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में लोल्लट मत का सांकेतिक रूप से उल्लेख करते हुए बताया है—

"...व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्त परिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः।"

व्यभिचारी भाव के सम्पात् इत्यादि के द्वारा परिपोष को प्राप्य होकर अनुकार्य में ही रस हो जाता है।[1]

आचार्य मम्मट भट्ट लोल्लट के मत के सन्दर्भ में व्यभिचारी भाव एवं स्थायी के बीच पोष्य-पोषक सम्बन्ध बताते हैं—"व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो।"

स्थायीभाव (चित्तवृत्ति) के सहकारी रूप निर्वेदादि व्यभिचारिभावों से उपचित (पुष्ट) किया हुआ।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र प्रायः इसी का समर्थन करते हैं—

व्यभिचारिग्ललान्यादिभिः रसिक मनः शरीरवर्तिभिः परिपोषणाच्च।

६. विभावादि से उपचित स्थायीभाव ही रस है, अनुपचित स्थायी भाव केवल स्थायीमात्र रह जाता है।

७. रस दोनों (अनुकार्य राम एवं अनुकर्ता नट दोनों में है)

(क) मुख्यतः यह रामानुकार्यगत है।

(ख) अनुकर्ता नट में तद्रूपता के अनुसन्धान से है।

आचार्य मम्मट इसे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

१. मुख्य रूप से रस रामादि अनुकार्य में है।

२. [गौण रूप से] अनुकर्ता नट में भी रामादि की तद्रूपता के अनुसन्धान से प्रतीयमान होता है। आचार्य अभिनवगुप्त एवं मम्मट के अन्तिम वाक्य में भिन्नता प्रतीत होती है—

१. आचार्य अभिनवगुप्त उपचित रस के विषय में कहते हैं—

(१) स चोभयोरपि अर्थात् वह स्थायीभाव या रस अनुकार्य और अनुकर्ता दोनों में है।

(२) मुख्य रूप से नट जिसका अनुसरण करता है, उस अनुकार्य राम में है।

(३) और अनुकार्य के रूपत्व के अनुसन्धान से नटादि में भी है।

आचार्य मम्मट कहते हैं—

(१) विभावादि उपचित रस मुख्य रूप से रामादि अनुकार्य में है।

---

१. रस-सिद्धान्त—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १४०

(२) तद्रूपतानुसन्धान से नर्तक में भी रस प्रतीयमान होता है।

आचार्य अभिनव गुप्त का अभिमत है कि वह 'राम' और 'नट' दोनों में समान रूप से है। मुख्य रूप से अनुकार्य में और 'तद्रूपतानुसन्धानबलात्' नट में। उनके 'मुख्यरूप' पद के ही समानान्तर 'तद्रूपतानुसन्धानबलात्' न्याय का प्रयोग किया गया है जिसे मम्मट ने 'तद्रूपतानुसन्धानात् प्रतीयमान नर्तकेऽपि' पद के द्वारा स्पष्ट करना चाहा है। 'तद्रूपता' का अर्थ है—'यथाभावनुक्रिया' जिस प्रकार लोक के भाव हैं, उसको ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत करना और 'अनुसंधान' शब्द का अर्थ है—

"रामस्येव वेषविशेषवाग्विधायिनि नर्तके तत्कालं रामत्वाभिमानादिति विवरणकाराः। रामत्वारोपादिति सारबोधिनी कारोद्द्योतकारादयः"

"अनुसन्धान—कवि विक्षितार्थस्य साक्षादिवकरणम्।"[1]

राम का वेश विन्यास धारण करके नर्तक द्वारा अभिनय काल में 'रामत्व के अहंकार' से तन्मयीभूत तथा काव्यप्रकाशबोधिनी एवं उद्योत टीकाओं में अनुसन्धान का अर्थ 'आरोप' निर्दिष्ट है। डा० कान्तिचन्द पाण्डेय ने इसका अर्थ 'योजन' लिया है किन्तु प्रथम अर्थ 'रामत्वाभिमान से तन्मयीभूत' ही उचित है।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है, इस व्याख्या में सहृदय सामाजिक का उल्लेख नहीं है। वैसे, व्याख्या सामाजिक की ओर उन्मुख होती है। अनुकर्ता नट में रस की उत्पत्ति होने के बाद सामाजिक उसका आस्वादन कैसे करता है? सामाजिक नटादि में राम का आरोप करके रसास्वादन कर लेता है—शायद इस प्रकार का मन्तव्य भट्टलोल्लट का रहा होगा। पण्डितराज जगन्नाथ प्रेक्षक की दृष्टि से जब इस मत का उल्लेख करते हैं तो इससे यही अभिप्राय व्यंजित होता है—

"अभिनय दिखाने में निपुण दुष्यन्तादि का अभिनय करने वाले नट पद (रामत्व को) आरोपित करके हम उसकी (रस की) अनुभूति कर लेते हैं।" इस स्थिति को रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"प्रेक्षकोऽपि रामादि शब्द संकेत श्रवणादतिहृद्यसंगीतकाहितवैवश्याच्च स्वरूपदेशकालभेदेना तथा भूतेष्वप्यभिनेय चतुष्टयाच्छादनात् नटेषु रामादीनध्यवसति। अतएव तासु तासु सुख दुःख स्वरूपासु रामाद्यवस्थासु तन्मयीभवति।

अपरे तेषु तु नाम संकेत—संगीत काभिनयेषु रामाद्यध्यवसाय हेतुषु उपदेश परमेतदिति मन्यमाना हेयोपादेयहानोपादानैकतानचेतसो जायन्ते।

---

१. काव्य प्रकाश : झलकीकर, पृष्ठ ८८-८९

अथवा इह तावत् इत्थमाकृतिः, इत्थं गतिः, इत्थं जल्पितं, इत्थं क्रोधादि ललितं इत्येवमशेषमपि रामादालिलितं ऋषीणां कालदर्शिना ज्ञानेन निश्चितं कवयो नाटके निबध्नन्ति । तत्र चार्थे मुनिज्ञानविश्वासान्नटस्य साक्षाद् दर्शनमेव ।

अपि च कदाचिन्मांसदृशो वस्तुस्वरूपे भ्राम्यन्ति न पुनर्ज्ञानदृशः ।.........
.........प्रेक्षकाणां तु सत्यसति च स्वप्नदर्शने नटेषु रामाद्यध्यवसाय एव । अन्यथा तु कृत्रिममेतदिति जानन्तो न रामादि सुखदुःखेषु तन्मयीभवेयुः । उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि शृंगारादयः ।"

"और प्रेक्षक भी (नट के विषय में) राम आदि शब्द संकेत को समझने तथा अत्यन्त मनोहर संगीत को सुनने आदि के कारण विवश होकर, स्वरूप, देश और काल का भेद होने से उस प्रकार के (अर्थात् रामादि रूप) न होने पर भी (वाचिक, आंगिक, सात्त्विक, आहार्य रूप) चारों प्रकार के अभिनयों द्वारा (नट के) स्वरूप का आवरण कर लिये जाने से उस प्रकार के (रामादि रूप) बने हुए नटों में राम का निश्चय कर लेते हैं। इसलिए उस प्रकार की सुख दुःखमयी रामादि की अवस्थाओं में वे तन्मय-सा हो जाता है।

दूसरे लोग (यह कहते हैं कि नट में) राम आदि का निश्चय कराने वाले नाम के संकेत, संगीत और अभिनय आदि हेतुओं के उपस्थित होने पर यह (अभिनयादि सब सामग्री मनोरंजन के साथ-साथ कर्तव्य के) उपदेश देने के लिए है, हेय तथा उपादेय के परित्याग के ग्रहण में ही तत्पर हो जाते हैं।

अथवा (तीसरा मत यह है कि रामादि) अनुकार्य पुरुषों की इस प्रकार की आकृति, इस प्रकार की गति, इस प्रकार की बातचीत और इस प्रकार क्रोधादि की चारुता थी। इस प्रकार रामादि के सम्पूर्ण चरित्र को ऋषियों के त्रिकाल-दर्शी ज्ञान के द्वारा निश्चय करके ही कवि गण नाटक में उसकी रचना करते हैं और उसके सम्बन्ध में मुनिजनों के विश्वास के कारण नट का (राम रूप में दर्शन) साक्षात् (राम का ही) दर्शन है।[1]

एक और दूसरी बात यह भी है कि इन चर्म चक्षुओं से देखने वाले लोग भ्रान्त हो सकते हैं किन्तु ज्ञान चक्षुओं से देखने वाले (मुनिगण कवि आदि) भ्रान्त नहीं हो सकते। प्रेक्षकों ने (अनुकार्य) को देखा हो या न देखा हो किन्तु उनको (रामादि का अभिनय करते समय) नटों में रामादि के (तादात्म्य) का निश्चय होता ही है, अन्यथा यह बनावटी (राम) है, इस प्रकार का ज्ञान होने पर रामादि के सुख दुःखों में तन्मयता को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। (इस प्रकार

---

१. हिन्दी नाट्यदर्पण—सम्पादक, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ३५३-५४

नट में रामादि बुद्धि को भ्रम ही क्यों न माना जाए किन्तु उससे सामाजिक में शृंगारादि की प्रतीति होती है (क्योंकि) भ्रान्ति से भी शृंगारादि की उत्पत्ति हो सकती है।''

रामचन्द्र-गुणचन्द्र की भाँति आचार्य धनिक-धनंजय ने भतृहरि के एक श्लोक का उद्धरण देकर समझाया है—

शब्दोपहितरूपांस्तान्बुद्धे विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते ।।

''(सहृदय) शब्द की सामर्थ्य से रूप को धारण करने वाले बुद्धि के विषय-भाव को प्राप्त हुए (अर्थात् बुद्धि के विषय बने हुए) कंसादि को प्रत्यक्ष की तरह कारक के रूप में समझ लेता है।''[1]

आचार्य भट्टलोल्लट के अभिमत को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

विभावानुभावसंचारि से उपचित (संयोगप्राप्ति के द्वारा) स्थायीभाव ही रस है। विभावादि हेतु है और उन हेतुओं से उपचित होकर रस उत्पन्न होता है। विभाव का स्थायिभाव के संयोग को उत्पादक-उत्पाद्य कहा जाना चाहिए। अनुभाव एवं स्थायो भाव में प्रतीति सम्बन्ध के कारण 'गमक-गम्य' सम्बन्ध है तथा संचारि एवं स्थायिभाव के बीच स्थित संयोग को 'पोषक-पोष्य' कहा जाना चाहिए। इस प्रकार, विभाव के द्वारा उत्पाद्य, अनुभाव के द्वारा गम्य एवं संचारिभाव से पुष्ट स्थायिभाव अपनी पूर्ण उपचयावस्था में रस रूप में जाना जाता है।

इसका मूलाधार 'रामादि' अनुकार्य है, उसी रूप में या (मम्मट के अभि-प्राय के अनुसार) गौण रूप में यह तद्रूपतानुसन्धान बल से या तद्रूप आरोप्यमाण होकर नट में भी पाया जाता है।

सामाजिक का पक्ष निर्दिष्ट नहीं है, फिर भी कहा जा सकता है कि—अनु-कर्ता नट में अनुकार्य रामादि का आरोपण करके दर्शक रस की अनुभूति करते हैं।

नट 'तद्रूपतानुसन्धान बल' से अनुकार्य के रूप में अपने को प्रस्तुत करता है, किन्तु सामाजिक किस वृत्ति से अनुकर्ता में रामादि का आरोपण करके रसास्वा-दन करता है, इसका उल्लेख नहीं मिलता।

रामादि का शब्द संकेत, मनोहर संगीत, काव्य, नाट्य आदि को सुनने, देखने, समझने के कारण आकस्मिक रूप से विवश होकर तथा विभिन्न अभिनयों द्वारा नट के स्वरूप को आछन्न कर दिए जाने पर प्रेक्षक नट को ही राम समझता

---

१. दशरूपकम्; डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, पृ० २४५

है, या रामादि का संकेत कराने वाले शब्द, संगीत नट के अभिनय रूप हेतुओं के उपस्थित होने पर मनोरंजन के साथ-साथ इसे उपदेशात्मक आधार समझकर रामादि मिथ्यात्व को हेय तथा नट के मिथ्यात्व को ग्रहणयोग्य मानकर उसमें तत्पर रसत्व का अनुभव करते हैं, या मुनिजनों तथा त्रिकालज्ञ कवियों में अतिशय विश्वास के कारण 'नट' के आचरण को रामादि का आचरण मान लेते हैं या नट में रामादि बुद्धि भ्रम के कारण सामाजिक रसास्वादन करते हैं या शब्द रचना सामर्थ्य का धर्म रामादि को प्रत्यक्षानुभूति की भाँति मनसागोचर कराकर रस की प्रतीति कराता है।

आचार्य भट्ट लोल्लट की मान्यताएँ अपने में पर्याप्त संगति रखती हैं। 'रामादि अनुकार्य में उपचिततारस है' यह पूर्णतः असंगत नहीं है। ऐतिहासिक पात्र की प्रतीति विशेष सामान्य पात्र की प्रतीति नहीं है। रचनाकार इस 'विशेष' का 'सामान्यीकरण' करता है। राम का विशेषत्व अनुकार्य की अस्मिता है कवि जिसे रचना के स्तर पर तोड़कर सामान्य की ओर ले जाता है। यह विशेषत्व टूट कर इतना सामान्य नहीं बनता कि अपना विशेषत्व समाप्त कर दे। वाल्मीकि, अध्यात्म रामायण, मानस एवं साकेत सभी के राम भिन्न-भिन्न हैं, तथा वे अपने स्वरूप में देशकालानुसार सामान्य की ओर अभिमुख भी हैं, किन्तु सभी में कहीं-न-कहीं रामत्व की पहचान सभी में उभयनिष्ठ रूप में निहित है। अतः आचार्य भट्ट लोल्लट जब मुख्यतः अनुकर्ता राम में रस की सत्ता बताते हैं तो आज के सन्दर्भ में उसका अर्थ लिया जाना चाहिए पात्र के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की पहचान—(Identity of Historical personality)। रामत्व से भिन्न राम की पत्रता का अर्थ और क्या हो सकता है।

रस ऐतिहासिक पात्र में मुख्य रूप से है, इसका कमजोर पक्ष यह है कि इससे आस्वादन की प्रकृति और प्रक्रिया दोनों पर आघात् पड़ता है। शब्दार्थ रचना एक विशेष प्रकार का कालात्मक कौशल है और रस है उससे उत्पन्न सामाजिक या पाठक के हृदय का आस्वादन। काव्य तथा नाटक में ऐतिहासिक घटना एवं पात्र मूलतः कवि कौशल से जनित विभावानुभाव संचारि मूलक काल्पनिक अर्थ रचना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इसी को भ्रम के माध्यम से समझाने की चेष्टा की है। भतृहरि ठीक ही बताते हैं कि कवि कौशल एवं शब्दार्थ रचना से सृजित कल्पित काव्यलोक असत्य होते हुए भी लोक सामान्य की प्रतीति से जुड़कर भव्यता प्राप्त करता है, पाठक की बुद्धि उसके सम्पर्क में आते ही स्व-पर के भेद को भूल जाती है। यहाँ 'स्व-पर' की विस्मृति एक स्वाभाविक घटना है। पाठक रचनालोक की भव्यता में तन्मयीभूत

होकर स्वभावतः साधारव्यवलात् रसास्वादन करता है। नाटक या काव्य के सम्पर्क में आने पर सत्त्वस्थ होकर साधारण्यबलात् रसास्वादन करना प्रकृत सहृदय का धर्म है। अतः जिस ऐतिहासिक अनुकर्ता में रस के सत्ता की चर्चा की गई है, वह शब्दार्थ प्रपंच के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह सत्य है कि कवि तथा नाटककार इस शब्दार्थ प्रपंच में ऐतिहासिक पात्रों के निजी व्यक्तित्व की रक्षा के लिए सचेष्ट रहता है।

'रामादिरूपतानुसन्धात् बलात्' अनुकर्ता दट अपने द्वारा कवि द्वारा सृजित 'राम' को प्रस्तुत करता है। इस पक्ष में भी आंशिक यथार्थ है। नाटक का मंचन मूलतः उसका प्रायोगिक अवतरण है। रंग सज्जा, चतुर्विध नटन् व्यापार, वेषभूषा तथा साजसज्जा एवं अपनी अभिनय प्रतिभा-कौशल के द्वारा नट कवि कल्पित अनुकार्य तथा स्वतः में अभेद की प्रतीति कराता है। यदि कवि रचित राम एवं नट अभिनीत राम में भेद है तो अभीष्ट नाट्य की प्रस्तुति नहीं है। इसीलिए 'तद्रूपतानुसंधान बलात्' शब्द का प्रयोग किया गया है। अनुकार्य एवं अनुकर्ता का अभेद निर्दिष्ट करने के लिए यहाँ उपर्युक्त 'पद' के प्रयोग का यही अर्थ है कि 'अनुकार्य तथा अनुकर्ता' में समानरूप से रस की स्थिति है—दोनों में मात्रात्मक एवं गुणात्मक भेद नहीं है। मम्मट की व्याख्या से यह नहीं स्पष्ट होता। 'अपि' एवं 'प्रतीयमान' पदों का प्रयोग करके अनुकार्य में प्रमुखतः एवं अनुकर्ता में गौणभाव से रस होने को वे इंगित करते हैं जो सैद्धान्तिक रूप से उचित नहीं है। अभिनय में नट एक तटस्थ तत्त्व है। वह विविध नाट्य साज सज्जा एवं स्वतः पर नाट्याक्षेप द्वारा उत्पन्न अभिमान से तन्मयीभूत होकर मंच पर अवतरित होता है। अनुकार्य रामत्व के अभिमान से तन्मयीभूतता ही उसका अपना वैशिष्ट्य है। मंच और नट के माध्यम से रचनाकार की कृति का ही पुनरावतार होता है। वह कृति को गोचर बनाता है। उसका वैशिट्य इतना ही है कि वह अनुकार्य के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की पहचान, को न धूमिल होने देता है, न नष्ट होने देता है, उसको ज्यों-का-त्यों दृश्य व्यापार में परिणत करता है। 'अनुकार्य के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की पहचान' कराकर वह दर्शक के समक्ष कवि सृजित सजातीय सादृश्य[1] को प्रस्तुत करता है।

---

१. न हि नटो रामसदृशं स्वात्मनः शोकं करोति। सर्वथैव तस्य तत्राभावात्। भावेवादनुकारत्वात्। न चान्यद् वस्त्वस्ति यत् शोकेन सदृशं स्यात्। अनुभावास्तु करोति। किं तु सजातीयानेव। न तु तत्सदृशान्। अ० भा० भाग १, पृ० ३७

यद्यपि 'लोकवृत्तानुकृति' के समर्थक रामचन्द्र-गुणचन्द्र, धनिक-धनंजय आदि 'नट' में रस के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र कहते हैं— "न च नटस्थ रसो न भवतीत्येकान्तः। पण्यस्त्रियोऽहि धन लोभेन पर रत्यर्थ रतादि विपञ्चमन्तः कदाचित् स्वयमपि परां रतिमनुभवन्ति।"

नट में रस होता ही नहीं, यह कोई नियम नहीं है। वेश्याएँ जो धन के लोभ से रति आदि का अवसर देती हैं, कभी स्वयं भी आनन्द का अनुभव करती हैं।"[1] इसी को धनिक-धनंजय भी स्वीकार करते हैं।

लोकवृत्तानुकृतिवादियों के इन तर्कों का उत्तर स्वयं आचार्य अभिनवगुप्त ने शंकुक के मत के अन्तर्गत दिया है। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त है, कि 'नट' अभिनय के माध्यम से कृति में अभिव्यक्त अनुकार्य के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की पहचान को बचाते हुए उसे (कृति को) पुन.अवतरित करता है।रामत्व के अभिमान की तत्मयीभूतता के क्षणों में वह न 'स्व' की प्रतीति करता है, न 'पर' की अपितु तन्मयीभवन दशा के कारण कवि कौशल के द्वारा निर्मित शब्दार्थ व्यापार वैशिष्ट्य में तदाकार होकर दर्शकों में रसास्वादन के लिए उपाय मात्र करता है।

अब तीसरी समस्या 'उपचिति' की है। उपचिति शब्द के अर्थ हैं, पुष्टि, परिपुष्टि, परिपाक आदि। विभावनुभावसंचारि से उपचित स्थायिभाव रसत्व को प्राप्त होता है, यदि इनका सम्यक् उपचय नहीं हुआ तो अर्थात् विभाव ने मूल कारण बनकर उत्पन्न नहीं किया, अनुभाव ने प्रतीति का विषय नहीं बनाया और संचारी ने उसे पूर्णतय परिपुष्ट नहीं किया तो काव्य में वर्णित 'रत्यादि' रति रूप में ही रहेंगे, शृंगारादि-रसत्व को नहीं प्राप्त होंगे। 'अभिनय-व्यापार' की दृष्टि से यह तथ्य नितान्त सत्य है कि नाट्य में या मंच पर सभी का नियोजन अनिवार्य है और अभिनय की परिपूर्णता भी इसी में है। किन्तु क्या विभावादि के संयोग से स्थायीभाव उपचितावस्था (परिपोषावस्था) को प्राप्त कर रस के रूप में उत्पन्न होता है, यह स्पष्ट नहीं है क्योंकि

१. यदि अनुकार्य का स्थायीभाव उपचित होकर रस रूप में उत्पन्न होता है, तो यह असंगत है।

२. यदि अनुकर्ता का स्थायीभाव उपचित होकर रस रूप में उत्पन्न होता है, हो यह भी असंगत है।

---

१. नाट्यदर्पण; पृ० २९६

३. यदि सामाजिक का स्थायीभाव उपचित होकर रस रूप में उत्पन्न होता है तो यह भी अनुचित है।

इसमें वास्तविकता इतनी ही है कि स्थायीभाव, वासना या मनोवृत्ति के रूप में हैं। यही काल विशेष में रस रूप में परिणत होते हैं।

रस का उत्पन्न होना, विभावादि का राम के स्थायी या नट के स्थायी से संयोग प्राप्त करना, उनकी क्रमशः उत्पत्ति, प्रतीति एवं पुष्टि सभी एक पक्षीय तथा काव्यास्वादन की प्रकृति के प्रतिकूल हैं।

आचार्य शंकुक

तस्मात् हेतुर्भिविभारव्यैः कार्यैरनुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलात् प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थ्यानुकरणरूपः। अनुकरणत्वादेव न नामान्तेरण व्यपनिष्टो रसः।

विभावा हि काव्यबलानुसंधेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजाभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसंधेयः। रतिः शोकः इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयी कुर्वन्त्यमिधानत्वेन न तु वाचकाभिनय रूपतयागवगमयन्ति।

× × ×

न चात्र नर्तक एवं सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्यमेव राम इति। न चाप्ययं न सुखीति। नापि रामः स्याद्वा न वायमिति। नापि तत्सदृश इति। किन्तु, सम्यक् मिथ्यासंशयासादृश्य प्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगन्यायेन, यः सुखी रामः असौ अयमिति प्रतीतिरस्तीति।

अर्थात्, इसलिए [रस के] कारण रूप विभावों, [उसके] कार्य रूप अनुभावों [कटाक्षादि शारीरिक व्यापारों] तथा सहचारी रूप [निर्वेयादि] कर्मचारी भावों [मानस व्यापार या चित्रवृत्ति] से [नट के द्वारा अपने शिक्षा अभ्यास आदि रूप] प्रयत्न से जन्य होने के कारण कृत्रिम होने पर भी उसी प्रकार के [कृत्रिम] न प्रतीत होने वाले [कारण] कार्य सहकारी रूप पूर्वोक्त विभावादि से लिङ्ग की सामर्थ्य से अनुकर्ता (नट) में स्थित रूप से [अनुमान द्वारा] प्रतीत होने वाला मुख्य (अनुकार्य) राम आदि में रहने वाले (रत्यादि) स्थायिभाव का अनुकरण रूप (नटगत स्थायिभाव ही रस) होता है और अनुकरण रूप होने के कारण ही स्थायिभाव से न कहा जाकर उससे भिन्न (रस इस) नाम से व्यवहृत रस कहलाता है।

(इस प्रकार रस की अनुभूति में कारणभूत) विभाव काव्य के द्वारा उपस्थित होते हैं। (कटाक्ष भुजाक्षेपादि) अनुभाव (नट को) शिक्षा (अभ्यासादि) से और व्यभिचारी भाव अपने कृत्रिम अनुभावों के अर्जन द्वारा (उपस्थित होते हैं) स्थायिभाव इनमें से किसी भी साधन से उपस्थित नहीं होता है] काव्य बल से भी प्रतीत नहीं होता है। (पूर्वत: स्थित रहता है। केवल, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव रूप लिङ्गों से नटगत रूप में अनुमित होता है। वह भी रामादिगत रत्यादि के अनुकरणात्मक रूप में अनुमित होता है। इसलिए अनुकरणात्मक होने से स्थायिभाव नाम के बजाय रस नाम से कहा जाता है।) रति, शोक आदि शब्द अभिधा शक्ति द्वारा (शब्द प्रक्रिया के अनुसार परोक्ष रूप में) रत्यादि को बोधित करते हैं। वाचिक अभिनय के रूप में बोधित नहीं करते।

× × ×

न यहाँ नट ही सुखी (शृङ्गार रस युक्त राम) है, यह प्रतीत नहीं होता, यही राम है, इस प्रकार की भी प्रतीति नहीं होती, न यह सुखी (राम) नहीं है, यह प्रतीति होती है और न हो, यह राम है या नहीं, इस प्रकार की संशयात्मक प्रतीति होती है किन्तु चित्रतुरग न्याय से सम्यक्, मिथ्या संशय तथा सादृश्य रूप समस्त प्रतीतियों से भिन्न प्रकार की जो सुखी राम है, वह ही यह (नट) है, इस प्रकार की प्रतीति होती है। [अतएव उसको निश्चित रूप से भ्रान्ति नहीं कही जा सकती।]

आचार्य मम्मट ने शंकुक मत को इस प्रकार रखा है—

राम एवायम् अयमेव राम इति न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽमिति रामः स्याद्वा न वाऽयमिति राम सदृशोऽयमिति च सम्यङ्मिथ्यासंशय सादृश्य प्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपच्या ग्राह्ये नटे।

× × ×

इत्यादि काव्यानुसन्धान बलाच्छिक्षाभ्यास निर्वर्तित स्वकार्य प्रकटेन च नटेनैव प्रकाशितै कारण कार्य सहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभियन्यमानैः विभावादि शब्द व्यपदेश्यैः संयोगात् गम्यगमकभावरूपात् अनुमीयमानोऽपि वस्तु सौन्दर्य बलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमान विलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः।

१. यह राम ही है, अथवा यह ही राम है (इस प्रकार की सम्यक् प्रतीति)

---

१. रससिद्धांत, डॉ० नगेन्द्र १५०

२. यह राम नहीं है, इस प्रकार उत्तरकाल में बाधित होने वाली 'यह राम है।' [इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति वाली] ४. यह राम के समान है, [इस प्रकार की सादृश्य प्रतीति] इन १. सम्यक् प्रतीति २. मिथ्या प्रतीति ३. संशय प्रतीति ४. सादृश्य प्रतीतियों से भिन्न प्रकार की 'चित्र-तुरग-न्याय' से होने वाली [पाँचवें प्रकार की] प्रतीति से ग्राह्य नट में।

\+ \+ \+

इत्यादि (उद्धरण से सन्दर्भित) काव्यों के अनुशीलन से तथा शिक्षा के अभ्यास से सिद्ध किए हुए अपने [अनुभाव इत्यादि] कार्य से ही नट के ही द्वारा प्रकाशित किए जाने वाले कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न समझे जाने वाले विभाव आदि शब्दों से व्यवहृत होने वाले, कारण, कार्य और सहकारियों (विभावादि) के साथ संयोग अर्थात् गम्य-गमक भाव सम्बन्ध से अनुमीयमान होने पर भी, वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण स्थायी रूप से सम्भाव्यमान रति आदि भाव वहाँ [अर्थात् नट में वास्तव रूप में] न रहते हुए भी सामाजिक के संस्कारों से [स्वात्म-गतत्वेन] आस्वाद किया हुआ 'रस' कहलाता है। यह श्री शंकुक का मत है।[1]

पंडितराज जगन्नाथ ने अत्यधिक संक्षेपपूर्वक श्री शंकुक के मत को इस प्रकार रखा है—

"दुष्यन्तादि गतो रत्यादिनटे पक्षे दुष्यन्त्वेन गृहीते विभावादिभिः कृत्रिमैरपि अकृत्रिमतय गृहीतैभिन्ने विषयेऽनुमिति सामग्रया बलवत्त्वादनुमीयमानो रसः इत्यपरे।"

"दुष्यन्त आदि में जो रति आदिक रहते हैं, वे ही नट अथवा काव्य पाठक में उसे दुष्यन्त समझकर, अनुमान कर लिए जाते हैं तो उसका नाम रस हो जाता है। नाटकादि में जो शकुन्तला आदि विभाव परिज्ञात होते हैं, वे यद्यपि कृत्रिम होते हैं, तथापि उनको स्वाभाविक मानकर और नट को दुष्यन्त मानकर पूर्वोक्त विभावादिकों से नट आदि में रति आदि का अनुमान की बलवती सामग्री के कारण अनुमान कर लिया जाता है।"[2]

अभिनवगुप्त के साक्ष्य से श्री शंकुक की व्याख्या में अग्रलिखित तथ्य निकलते हैं—

---

१. काव्य प्रकाश : आचार्य विश्वेश्वर, पृ० १०२, १०३

२. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ३०३ तथा ३१६

१. रस का मूलाधार नट है ।
२. वह हेतु रूप विभाव, कार्य रूप अनुभाव एवं सहकारी रूप व्यभिचारी भावों को शिक्षा, अभ्यास, प्रतिभादि आदि के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम नहीं प्रतीत होता ।
३. स्थायी भाव मूलतः अनुकार्य में है । लिंग (हेतु जो लिंगित अर्थात् निहित अर्थ का बोध कराता है) रूप से अनुकर्ता में अनुमान से प्रतीत होने वाला वह स्थायी ही सामाजिकों के लिए रस बनता है ।
४. अनुकर्ता अनुकार्य के स्थायीभाव का अनुकरण करता है और अनुकरण के द्वारा प्रस्तुत होने वाला यह स्थायी उससे भिन्न रस रूप में प्रकट होता है । यह अनुकरण नितान्त विलक्षण है । नट विभावादि का अनुकरण काव्य माध्यम से, अनुभाव का शिक्षण से, व्यभिचारि का लोक में देखकर (जो मूलतः न विभावादि के हैं, न अनुभाव से सम्बद्ध हैं, वरन् कृत्रिम रूप से लोकार्जित हैं) उसकी प्रस्तुति मंच पर करता है। यही नहीं, चूंकि स्थायीभाव का अनुकरण उसके द्वारा सम्भव नहीं है, अतः रति शोकादि अभिधा शब्दों के व्यवहार से सम्पूर्ण स्थिति को वह उसे अनुमान्य बना देता है ।

शिक्षा, कौशल, अभ्यास, प्रतिभा आदि के द्वारा अनुकर्ता द्वारा प्रस्तुत अनुकार्य के अनुकरण को दर्शक चित्र-तुरग न्याय से न मिथ्या समझता है, न सन्देहास्पद, न यथार्थ और न भ्रान्तिमूलक 'वरन्' (साहचर्य सम्बन्ध से) "जो सुखी राम है, वही यह अनुकर्ता नट है, स्वीकार कर लेता है ।"
५. मिथ्या ज्ञान से भी सम्यक् फल की सिद्धि देखी जाती है । इसके लिए शंकुक ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के कई श्लोकों को रखा है, जिनमें से एक यह भी है—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणि बुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञान विशेषोऽपि विशेषोऽर्थ क्रियां प्रति ।।

मिथ्या ज्ञान से भी अर्थ क्रिया देखी जाती है । मणि की प्रभा तथा दीपक की प्रभा को दूर से देखकर तथा उनको मणिप्रभा ही समझकर उठाने के लिए प्रयास करने वाले दो व्यक्तियों के मन में एक ही प्रतीति होती है । यह प्रतीति अन्त में 'अर्थक्रिया' अर्थात् फल प्राप्ति के समय संवादिनी एवं विसंवादिनी हो जाती है । ठीक इसी प्रकार, कवि कौशल से निर्मित मिथ्या काव्य अन्ततया रस निष्पत्ति का हेतु बनता है । लोक में 'राम-सीता' की यथार्थ घटना उतनी

चमत्कारपूर्ण नहीं होती जितना कि काव्य में वर्णित होकर । इसी प्रश्न को उठाकर शंकुक की भाँति महिम भट्ट भी स्पष्ट करते हैं—

नानुमितो हेत्वाद्यैः स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यैः ।
न च सुखयति वाच्योऽर्थः प्रतीयमानः स एव यथा ।।

इति ध्वनिकृताप्युक्तम्'—सार रूपो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरां शोभावहति इति । प्रतीत मात्र पदार्थं च काव्यादि तावतैव विनेयेषु विधि निषेध व्युत्पत्ति सिद्धेः । तदुक्तम्—

भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा
मणिप्रदीपभ्रमयोंमणि बुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञान विशेषोऽपि विशेषोऽर्थ क्रियाभवेत् ।।

नट में रामादि के मिथ्या स्वरूप को देखकर भी दर्शक मणिप्रभा के धोखे में दीपक (नट में रामादि के मिथ्या ज्ञान) को मणिज्ञान (यथार्थ ज्ञान) ही मानता हुआ आस्वादन को प्राप्त करता है । नाटक की समाप्ति के पश्चात् विसं-वादिनी बुद्धि के जागृत होने पर वह कहता है यह राम नहीं, यह तो नट ही था, किन्तु इस प्रकार की तर्कात्मक बुद्धि अभिनय के प्रेक्षण काल में नहीं आती। इस प्रकार, आचार्य शंकुक बौद्धों के विज्ञानवाद के प्रकाश में 'मणिप्रदीप प्रभा न्याय' से अपने अनुमितिवाद को समझाते हैं । महिमभट्ट भी उसी दृष्टान्त को उद्धृत करते हैं । वैसे, इस न्याय का उल्लेख शंकराचार्य भी करते हैं ।

स्थायिभाव तथा रस के बीच अनुमेय-अनुमान सम्बन्ध है । इसी को मम्मट ने गम्य गमक सम्बन्ध माना है । उनके अनुसार रस अनुमिति है । आचार्य शंकुक का मत क्या अनुमानवादी था, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है क्योंकि आनन्द-वर्धन ने ध्वन्यालोक में इनके मत का उल्लेख करते हुए 'अवभास' (मिथ्या को सच की भाँति समझना अवभास है । अवभास का अर्थ अनुमान नहीं 'तद्वत्' समझना है । बौद्ध इसी को प्रतिभास और शंकराचार्य अध्यास कहते हैं) शब्द की चर्चा की है । उन्होंने इस सन्दर्भ में तीन तथ्यों का उल्लेख किया है—

१. चित्र में अश्व का अवभास (भ्रमात्मक ऐक्य)
२. अभिनय कला तथा अनुकरण द्वारा प्रस्तुत नट में स्थायिभाव का अव-भास ।
३. स्थायीभाव के अवभास की प्रतीति से उत्पन्न आस्वाद का नाम ही रस है ।

नट में रामत्वबोध साहचर्य सम्बन्ध से होता है । सामाजिक अनुमानकर्ता (अनुमापक) है । नट में अनुकृत राम का स्थायीभाव अनुमान का विषय है ।

राम का नट में व्यक्त यही स्थायीभाव अनुमेय होकर दर्शक द्वारा रस रूप में आस्वादित होता है।

क्या आचार्य शंकुक नैयायिक थे। डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ने सिद्ध किया है कि इन्होंने बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति के तर्कों के प्रकाश में भरत के रस-सूत्र की व्याख्या की है, अतः इन्होंने बौद्ध नैयायिकों की सरणि में रखा जाना चाहिए न कि प्राच्य वैदिक नैयायिकों की।[1] डॉ० नगन्द्र इसे स्वीकार नहीं करते।

आचार्य शंकुक की व्याख्या के तीन पक्ष हैं—

१. नट द्वारा अनुकार्य के स्थायी भाव का अनुकरण।

२. दर्शक द्वारा स्थायी भाव की रस रूप में अनुमिति दर्शक एवं रस में गम्य-गमक सम्बन्ध है अर्थात् 'रस' गम्य है और 'दर्शक' गमक। यही अनुमान एवं अनुमेय सम्बन्ध भी है।

३. नट की प्रस्तुति की विलक्षणता उसके अभिनय कला द्वारा उत्पन्न होती है। विभाव को वह नाट्य से ग्रहण करता है, अनुभाव को अभिनय कला से प्रस्तुत करता है, संचारी लोक के हैं। इन सबके द्वारा वह अपने को चित्र तुरग न्याय की भाँति राम का अवभास प्रकट करता है।

१. 'नट' अनुकार्य के स्थायी भाव का अनुकरण करता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। आचार्य भट्टतौत इसे स्वीकार नहीं करते। क्या नट अनुकर्ता द्वारा ऐतिहासिक पात्र के स्थायीभाव का अनुकरण सम्भव है?

शंकुक की मान्यता है कि काव्य में निर्दिष्ट विभावों को नट आत्मसात् करता है। अभिनय कौशल द्वारा वह 'चित्रतुरग न्याय' से राम को व्यक्त करता है। 'लोक' में प्रचलित निर्वेद, शंका, हर्ष आदि संचारि सहकारी उसमें रामत्व की प्रतीति कराने में सहायता करते हैं। नट में 'रामत्व' बोध लोल्लट के 'तद्रूपतानुसन्धानबलात्' न होकर गम्य व्यापार से है। यह गम्य निरा अनुमान मात्र नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे 'अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः' "कार्यरूप में, अनुकर्ता में स्थित रूप में प्रतीत होने वाला" पद का प्रयोग किया है। यह 'प्रतीति' सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य प्रतीति से भिन्न चित्र-तुरग-न्याय से नट को ही "यः सुखी रामः असौ अयम् इति" जो सुखी राम (अनुकार्य) है, वह यह नट (अनुकर्ता) ही है। नट में राम प्रतीति मिथ्या होते हुए भी लिङ्गबलात् अर्थात् (अवभास से भी सत्यता जैसी प्रतीति) रस का कारण है।

---

१. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १४, अंक १, जनवरी-मार्च १९६१, पृष्ठ २५

'नट' में 'राम' की प्रतीति को शंकुक ने भट्ट लोल्लट से भिन्न ढंग से समझाने की चेष्टा की है। उन्होंने इसके लिए 'दार्शनिक दृष्टि' का उपयोग किया है। डॉ० नगेन्द्र ने इसे "लिङ्ग (हेतु) द्वारा लिङ्गी (फल) के अनुमान को इसका आधार माना है ?

आचार्य मम्मट भी 'संयोग' का अर्थ 'गम्य गमक सम्बन्ध' एवं रस को अनुमीयमान कहकर इसी मत की ओर संकेत करते हैं। पण्डित राज जगन्नाथ भी 'अनुमिति' शब्द का प्रयोग करके इसी पर बल देते हैं। आनन्दवर्धन 'प्रतीति' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रतीति क्रम में जिस 'अवभास' शब्द का प्रयोग किया गया है, भ्रमात्मक होते हुए भी उसे 'सत्य' मान लेना है—यह बौद्धों के विज्ञानवाद का एक पारिभाषिक शब्द है, 'लिङ्ग-लिङ्गी-सिद्धान्त' और 'अर्थ-क्रिया' शब्द तो 'लिङ्गी' का ही पर्याय है। शंकुक का प्रथम उद्धृत श्लोक—'मणि प्रदीप प्रभयोर्मणि' धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक का श्लोक है। वैसे, मणि-प्रदीपन्याय का उपयोग आगे चलकर वेदान्त में भी हुआ है।

इस दृष्टान्त का निष्कर्ष यह है कि अभिनयकाल में नट में रामत्व भ्रान्ति-रूप है फिर भी, संवादिनी बुद्धि के द्वारा ग्राह्य (लिङ्गबलात् ग्राह्य है) सामाजिक को आनन्दानुभूति तक पहुँचा देता है। आनन्दवर्धन अनुकरणवशात् नट में रामत्व के अवभास से उत्पन्न प्रतीति के परिणाम को रसास्वाद मानते हैं।

नट का अनुकरण→रामत्व का अवभास→प्रतीति > सुखास्वाद = रस

यह व्याख्या बौद्ध के प्रत्ययवाद (विज्ञानवाद) के सन्निकट है।

अतः शंकुक की मान्यता वैदिक न्याय पर आधारित है या शून्यवादियों के बौद्ध न्याय पर एक विचारणीय समस्या है।

काव्य या अभिनय के भ्रमात्मक स्वरूप या लोक संवेदन से परसंवेदन का (आत्मसाक्षात्मक आनन्द) स्वरूप और रसात्मक आनन्द की अभिव्यक्ति का प्रश्न इससमस्या से अभिन्नतः जुड़ा हुआ है। लोकात्मक हेतु से लोकात्मक (सामान्य सुख-दुःखात्मक) फल की निष्पत्ति होती है। काव्य व्यापार लोक व्यापार से भिन्न हैउसमें रचित लोकात्मक व्यापार कल्पित होते हुए भी आस्वादुता को उत्पन्न करते हैं--

"यतस्तैरेव कारणादिभिः कृत्रिमैविभावैव्यभिधानैरसन्त एव रत्यादयः प्रति-बिम्बकल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपतृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादास्वाद्यत्वमुपयन्तः सन्तो रस इत्युच्यते।"

---

१. रस सिद्धान्त : डॉ० नगेन्द्र, पृ० १५८

क्योंकि विभावादि नामक उन्हीं कृत्रिम कारण आदि से झूठे होते हुए भी प्रतिविम्ब के समान स्थायिभाव नामधारी रति आदि भाव कवि द्वारा ज्ञाता (सहृदय) के ज्ञान के विषय बना दिये जाते हैं, फलतः हृदय संवाद के कारण (एक सी अनुभूति के कारण) आस्वाद्यता को प्राप्त होने से रस कहे जाने लगते हैं।[1]

यहाँ 'कृत्रिम' होते हुए भी 'अकृत्रिम' बना दिया जाना बौद्ध दर्शन की दृष्टि से 'प्रमा के स्वभाव' के कारण है। अभिनय के अन्तर्गत उसकी एक परिस्थित है, जिसमें काव्य के विभावादि अभिनेता का नाट्य कौशल एवं लोक के सुख दुखादि हेतु के रूप में नट के साथ व्यक्त होते हैं। आचार्य महिमभट्ट ने इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य काव्य कला को माना है—

कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्ततः।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल ॥

"कवि शक्ति से उपस्थित पदार्थों में सामाजिक को तन्मय कर देने की असाधारण क्षमता चली आती है, अतः जैसी (चमत्कारिणी) अनुभूति इन पदार्थों की होती है, वैसी केवल प्रत्यक्ष दृष्ट पदार्थों की नहीं।"

अतः नाट्य में नटन् व्यापार के अन्तर्गत नट कौशल एवं काव्य रस की सिद्धि कवि की रचना शक्ति की विलक्षणता है। आचार्य मम्मट इसे 'वस्तु-सौन्दर्यबलात् रसयीत्वेन' पद के माध्यम से स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं, जिसमें 'भ्रमात्मक संविति की अवभासमूलक प्रतीति' का दार्शनिक सन्दर्भ लुप्त हो जाता है।

इसमें 'चित्र तुरग' न्याय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'चित्र प्रश्व' के सत्यासत्य, उभयात्मक एवं सादृश्येतर 'अपूर्वरूप' मान लेना यही नट में 'रामत्व बोध' है। नर दर्शक को 'रामत्व बोध' की प्रतीति कराने में नितान्त सचेष्ट रहता है। यह मत में यह तथ्य भी नितान्त तथ्यपूर्ण है।

इस मत की असंगति यह है कि नट द्वारा दर्शक में 'रामत्व बोध' की प्रतीति के पश्चात् अनुकृत राम का स्थायी भाव रस रूप में सामाजिक के लिए प्रतीतिमूलक आस्वाद का विषय कैसे बनता है? सम्भवतया 'स्थायी भाव' एवं 'रस' के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की दृष्टि से अनुकरण की बात कही गई, अन्यथा इसका कोई औचित्य नहीं है। मूलभ्रान्ति यही है। 'रस' एवं 'स्थायी भाव' के सम्बन्ध का दूसरा हल सम्भव था किन्तु 'अवभास की प्रतीति' में मिथ्यात्व से सत्य की उत्पत्ति की मान्यता ने ऐसा स्वीकार करने के लिए बाध्य

---

१. व्यक्तिविवेकः व्याख्याकार, रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ० ८३

किया। न ऐतिहासिक अनुकार्य के स्थायीभाव का अनुकरण हो सकता है, न सामान्य स्थायित्व का अनुकरण हो सकता है, न नट ही अपने स्थायी भाव को किसी कौशल से अनुकरण का विषय बना सकता है, क्योंकि यह हृदय में संचित अनादि वासना है, जो जागृति काल में व्यक्ति को विषयाभिभूत करतो है और सुसुप्ति काल में उसे स्मृति, स्वसंवेदनादि से निरपेक्ष किये रहती है। इस प्रकार अनुकार्य के स्थायीभाव का अनुकर्त्ता द्वारा अनुसरण सर्वथा सम्भव नहीं है।

२ दर्शक 'गम्य गमक' सम्बन्ध से रस की प्रतीति करता है। दर्शक अनुमानकर्त्ता है, रस अनुमिति या अनुमान्य है। यह आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट मत है। आनन्दवर्धनाचार्य 'अवभास की प्रतीति' शब्द का उल्लेख करते हैं। नट में स्थायीभाव के अवभास से दर्शक को एक विशेष प्रकार की प्रतीति होती है—यही प्रतीति ही रस के रूप में एक विलक्षण आस्वाद उत्पन्न करती है—

"भित्ताविन हरितालादिना अश्वाभासः, स एक लोकातीतयास्वादापर संज्ञाया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति"

अभिनवगुप्तपादाचार्य भी अनुमिति का उल्लेख नहीं करते वे हेतु (लिङ्ग), कार्य (लिङ्गी) सम्बन्ध से अनुकर्ता में स्थित स्थायीभाव की प्रतीयमानता को रस का कारण मानते हैं। यह प्रतीयमानता (प्रतीतिमत्ता) है जिसका सम्बन्ध बौद्ध दर्शन से है, न कि यह न्याय दर्शन का अनुमान है। प्रतीति का अर्थात् लिङ्ग-लिङ्गी शब्द के प्रयोग के कारण अनुमान करना उचित नहीं है। बौद्ध और जैन की प्रतीति के लिए लिङ्ग-लिङ्गी शब्द का उपयोग करते हैं। यही नहीं विभावानुभाव संचारि के कारण नट लिङ्गी नहीं है, उसमें लिङ्गत्व का आरोप किया जाता है; न केवलान्वयी, न व्यतिरेकान्वयी और न अन्वय—व्यतिरेकान्वयी तीनों दृष्टियों से सामाजिक में रस की प्रतीति सिद्ध नहीं होती। इसी लिङ्ग-लिङ्गी सम्बन्ध के आधार पर मम्मट ने रस को अनुमीयमान बताया है। महिमभट्ट रस का 'वाच्य तथा गम्य' सम्बन्ध से स्पष्ट करते हैं। वे अन्ततया इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य का अनुमान तर्कशास्त्र के अनुमान से भिन्न है। महिमभट्ट बतलाते हैं—

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव न केवलः॥ पृ० ६८

साध्य और साधन को न जानने वाले व्यक्ति के लिए ही दृष्टान्त के साथ साध्य और हेतु बताए जाते हैं। जानने वालों के लिए हेतु ही बताया जाता है।

काव्यादि में दृष्टान्त का निरूपण नहीं होता। काव्य अनुभाव व्यापार है, ज्ञान व्यापार नहीं। काव्य कौशल ही उसके बोध का हेतु है, प्रतिज्ञा, हेतु,

उदाहरण, उपनय और निगमन प्रक्रिया से वह नहीं जाना जाता। उसको स्पष्ट करते हुए श्री रेवा प्रसाद द्विवेदी कहते हैं—

"काव्यानुमानं तर्कानुमानविलक्षणं, काव्यस्य चमत्कार सारत्वात्। न्याय-मुखेनापि चमत्कार एव विश्रान्तेः। तर्कानुमानं तु कर्कश न्यायरूपतया प्रवृत्तं तर्कस्य कर्कशतामुद्वहति। काव्ये त्वेतद्वैपरीत्यात् सहृदयानामधिकारात् त व्याप्त्यादि मुखेनानुमान प्रदर्शनसमर्थनमिति।"

"काव्य का अनुमान तर्कशास्त्र के अनुमान से भिन्न है। काव्य का सार होता है, चमत्कार। उसमें अनुमान द्वारा भी चमत्कार तक पहुँचा जाता है। तर्कशास्त्र का अनुमान हेतु, व्याप्ति आदि ककर्श सामग्री को लेकर चलता है। इसलिए उसमें ककर्शता रहती है। काव्य ककर्श से दूर रहता है। उसमें सहृदयों का अधिकार है। इसलिए यह अपेक्षित नहीं कि व्याप्ति दिखाते हुए उसमें अनुमान योजना की जाए।"

अनुमान द्वारा चमत्कार का स्मृति रूप ज्ञान हो सकता है, रसास्वाद नहीं।

यही नहीं, रस अनुमित होकर आस्वादन का विषय कैसे बनेगा। अनुमति होकर ज्ञान का विषय बनना न्याय सिद्धान्त सापेक्ष्य है। अनुमान द्वारा रस का स्मृति रूप ज्ञान हो सकता है, आस्वाद रूप नहीं। रस की संज्ञा एवं सार्थकता आस्वादुता में ही है, आस्वादुता के ज्ञान में नहीं। 'प्रतीति' शब्द से 'आस्वादुता' का भोग सम्भव हो सकता है किन्तु अनुमान या अनुगमन व्यापार से नहीं। अतः शंकुक प्रतीतिवाद में विश्वास रखते हैं, न्यायानुमानवाद में नहीं। वह न नट की दृष्टि से, न अभिनय कला की दृष्टि से, न रस को दृष्टि से, न काव्यास्वादन की दृष्टि से अर्थात् किसी भी दृष्टि से उपयुक्त नहीं है, फिर भी वे भट्टलोलट, आचार्य भट्टनायक एवं अभिनवगुप्तपादाचार्य की परम्परा से सर्वथा भिन्न एवं मौलिक हैं।

३. इसमें सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व है, नट की रामत्वबोध। आचार्य भरत ने भाव-विवेचन करते हुए इसको विशेष महत्व दिया है—

नानाभिनयसम्बन्धावयन्ति रसानिमान्।
यस्यात् तस्मादयी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥

"लोक में व्याप्त विविध अवस्थाएँ (काव्य विषय बनकर) नाट्य प्रयोक्ता के विविध अभिनयों द्वारा रसों का बार-बार आस्वादन कराती हैं, इसलिए इन्हें भाव समझना चाहिए।"

नाट्य प्रयोक्ता के साथ तीन सन्दर्भ जुड़े हैं—

(क) अभिनय कला

(ख) रचनाकार का कौशल और रचना सौन्दर्य

(ग) लोक प्रतीति में सहकारी रूप हर्षादि संचारीभाव तीनों के सहयोग से वह सम्यक्, मिथ्या, संशय, सादृश्य प्रतीतियों से भिन्न 'चित्रतुरग न्याय' से अपने में नट की अभिन्नता प्रकट करता है।

अभिनय कला, रचना सौन्दर्य एवं लोकवृत्ति की सजातीय अनुकृति—यही अभिनय कला एवं काव्य रचना के मूलाधार हैं, जो लोकसुख दुखात्मकता से काव्यास्वाद को भिन्न धरातल पर प्रतिष्ठित करते हैं। आचार्य शंकुक का कलात्मक सौन्दर्य एवं लोकानुभव से उसकी भिन्नता के प्रतिपादन का सन्दर्भ में महत्वपूर्ण योगदान है।

आचार्य भट्टनायक

भरत सूत्र के तीसरे प्रमुख व्याख्याता आचार्य भट्टनायक हैं। अभिनवगुप्त-पादाचार्य ने इनके मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्त्वेन प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात् न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात् स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। न च तद्वतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता युक्ता प्रत्यक्षादिव नायक युगलावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सा-स्पृहादिस्वोचित्तचितवृत्यन्तरोदयः। अव्यग्रतयाकाशरसत्वमपि स्यात्। तन्न प्रतीतिरनुभव स्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता। उत्पत्तानपि तुल्यमेतद् दूषणम्।

शक्तिरूपत्वेन पूर्व स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वपरगतत्वादि पूर्ववद् विकल्प्यम्। तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालंकारोभयत्व लक्षणेन नाट्येचर्तुविधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादि साधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयनांशेन भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तार विकास लक्षणेन सत्त्वोद्रेक प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वाद-संविधेन परं भुज्यते इति।

रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है, और न अभिव्यक्त होता है क्योंकि यदि परगतत्वेन उसकी प्रतीत, उत्पत्ति या अभिव्यक्ति कुछ भी मानी जाए, सब व्यर्थ ही है। रस की प्रतीति न तो सामाजिक को होनी चाहिए। यदि सामाजिक में उसकी अनुभूति न होकर किसी अन्य नट आदि में होती है तो वह सामाजिक के लिए व्यर्थ है। इसलिए परगत्वत्वेन उत्पत्ति आदि के विचार को छोड़कर ग्रन्थकार ने स्वगतत्वेन अर्थात् सामाजिक में रस की उत्पत्ति

आदि के विषय में विचार किया है। स्वगत [अर्थात् सामाजिक में करुणादि रसों की प्रतीति मानने पर करुण रस में [सामाजिक को] दुखी [प्रतीत] होना चाहिए। किंतु वह प्रतीतियुक्त नहीं है। दुःख के मूलकारण वास्तविक (१) सीता आदि के विभाव [रूप में उपस्थित] न होने से (२) अपनी स्त्री आदि की स्मृति [अभिनय काल में] न होने से [दुःखादि का होना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि यदि सामाजिक में करुण रस की प्रतीति मानी जाये तो उसके अनुभव-काल में उसको दुःख होना चाहिये। इसलिए महनायक के अनुसार सामाजिक-गतत्वेन रस की प्रतीति नहीं बनती है। तीसरी बात यह है कि सीतादि अथवा पार्वती आदि (३) देवता आदि [के विभाव होने पर उन] के साधारणीकरण के अयोग्य होने से और [हनुमान आदि जैसे विभावों के द्वारा किए गए] (४) समुद्रलंघन आदि [का] साधारणीकरण असम्भव होने से—सामाजिक को स्वगत रूप से रस की प्रतीति होना सम्भव नहीं है।]

और न उस [रत्यादि] से युक्त राम [आदि विभावों] की स्मृति [रूप वह रस-प्रतीति] है [क्योंकि स्मृति पूर्व उपलब्ध अर्थ की ही होती है। रत्यादियुक्त राम के] पहले न उपलब्ध होने से [रसानुभूति को रत्यादिमान् राम की स्मृति रूप भी नहीं कहा जा सकता है।] शब्द अनुमान आदि [परोक्ष ज्ञान के जनक प्रमाणों] से उस [रस] की प्रतीति मानने पर [उस ज्ञान के परोक्ष रूप होने और साक्षात्कारात्मक न होने के कारण उसमें] प्रत्यक्ष ज्ञान से जैसी सरसता होती है वैसी सरसता नहीं हो सकती है। [इसलिए शब्द तथा अनुमान प्रमाण से भी रस का ज्ञान नहीं माना जा सकता है। यदि लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाण से रस की प्रतीति मानना चाहें तो वह भी युक्तिसंगत नहीं होता। क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से सम्भोगादि में रत] नायक-नायिका के देखने पर [रस के स्थान पर लज्जा, घृणा और इच्छा आदि अपने स्वभाव के अनुरूप] दूसरे प्रकार की चित्तवृत्तियों का उदय होगा। इसके अतिरिक्त [लज्जा, जुगुप्सा आदि अन्य वृत्तियों का उदय हो जाने से अव्यग्रता अर्थात्] रस प्रतीति का अभाव भी होगा। इसलिए [लौकिक प्रत्यक्षादि रूप] अनुभव, स्मृति [परोक्ष ज्ञान] आदि रूप रस की प्रतीति मानना उचित नहीं है। इसलिए भट्टनायक के मत में 'रसो न प्रतीयते' यह कहा गया है। [इसलिए रस की स्वगत या परगत उत्पत्ति भी नहीं कही जा सकती है। अब तीसरा अभिव्यक्ति पक्ष रह जाता है। इसके विषय में भट्टनायक आगे कहते हैं कि]

शक्ति रूप से पहले से स्थित [रस] की [बाद को विभाव अनुभाव आदि द्वारा] अभिव्यक्ति मानने पर [जैसे मन्द प्रकाश में वस्तु स्पष्ट नहीं दिखाई देती

है, अधिक प्रकाश से अधिक स्पष्ट हो जाती है, इस प्रकार विभावादि] विषयों की बुद्धि आदि से [रसानुभूति में भी न्यूनाधिक्य रूप] तारतम्य होने लगेगा [जो कि रस के अखण्ड, एकरस एवं आत्मस्वरूप होने के कारण उचित नहीं है] और [वह अभिव्यक्ति सामाजिक को] स्वगत रूप से होती है, अथवा परगत [अर्थात् नरादिनिष्ठ] रूप से होती है, यह पहले [प्रतीति एवं उत्पत्ति पक्ष] के समान विचारना चाहिए।

इसलिए काव्य में दोषाभाव तथा गुणालंकारमयत्व रूप लक्षण के कारण अर्थात् दोष रहित, गुण तथा अलंकार सहित शब्द एवं अर्थ को काव्य कहा जाता है, इस काव्य लक्षण के अनुसार] और नाटक में [आंगिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य] चार प्रकार के अभिनय के द्वारा [सामाजिक] अपने भीतर रहने वाले समस्त अज्ञान आदि के निवारण करने वाले एवं विभावादि के साधारणीकरण रूप, अभिधा के द्वारा [द्वितीय अंश पर] होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान [साधारणीकृत] रस, अनुभव, स्मृति आदि से भिन्न प्रकार से रजोगुण तथा तमोगुण के मिश्रण के कारण द्रवीमान, विस्तार तथा विकास रूप सत्त्वगुण के प्राधान्य से प्रकाश तथा आनन्दमय साक्षात्कार में विश्रांति रूप एवं परब्रह्म के आस्वाद के सदृश [भोग] भोजकत्व व्यापार के द्वारा अनुभव [भोग] किया जाता है।[1]

आचार्य मम्मट ने इस मत को इस प्रकार उद्धृत किया है—

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेक प्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रांतिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः

न तटस्थ रूप से रस की प्रतीति होती है, और न उत्पत्ति होती है और न सामाजिकगत रूप से अभिव्यक्ति होती है। अपितु काव्य अथवा नाटक में अभिधा से भिन्न विभावादि के साधारणीकरण स्वरूप भावकत्व नामक व्यापार से साधारणीकृत स्थायीभाव सत्त्व के उद्रेक से प्रकाश और आनन्दमय अनुभूति की स्थिति के सदृश भोग से आस्वादित किया जाता है, यह भट्टनायक का मत है।[2]

१. स्वगत (सामाजिक) की दृष्टि से न रस की प्रतीति होती है, न उत्पत्ति होती है, न अभिव्यक्ति। प्रतीति के तीन रूप विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, प्रत्यक्ष प्रतीति

१. रससिद्धान्त : डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १६१, १६२, १६३
२. काव्य प्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ १०६, १०७

अनुमानात्मक प्रतीति और स्मृति रूप प्रतीति। प्रत्यक्ष प्रतीति लोकात्मक प्रतीति है। यदि सामाजिक को प्रत्यक्ष लोकात्मक प्रतीति की भाँति रस की प्रतीति होगी तो वह घृणा, लज्जा, लोकात्मक भावों से सम्बद्ध भावों की भाँति वासनाविद्ध करके स्व सुख-दुःख में आवेष्ठित किए हुए उसके रसास्वादन में बाधक होगी। अनुमान प्रमाण से रस की प्रतीति मानने पर वह ज्ञान का विषय होगा, आत्म साक्षात्कार का नहीं। स्मृति रूप प्रमाण के आधार पर रसानुभूति सिद्ध नहीं हो पाती क्योंकि स्मृति के लिए पूर्वदृश्य अनिवार्य है; रामादि अनुभावों का विरह किसने देखा है ?

इसी प्रकार सामाजिक में रस की उत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि इससे सीतादि विभावों से स्वकान्तादि उत्पन्न होकर रस के लिए बाधक होंगे। 'करुण रस' की उत्पत्ति होने से दुःखादि से मन आवेष्ठित मिलेगा।

यही नहीं, सामाजिक में रस की अभिव्यक्ति भी नहीं मानी जा सकती। ध्वनिवादी आनन्दवर्धन के मत पर आपत्ति करते हुए उनके मूल दृष्टान्त घट-प्रदीप न्याय का भट्टनायक खण्डन करते हुए कहते हैं कि घट-रूप रस सहृदय के हृदय के निविडान्धकार में पूर्व से ही वर्तमान है, ध्वनि रूप प्रकाश उसको मात्र अभिव्यक्त करता है। इस स्थिति में विभावादि रूप प्रकाश के मन्द होने पर क्या रस की अभिव्यक्ति भी मन्द होगी या उसके तीव्र होने पर उसका स्वरूप अधिक स्पष्ट रूप में आलोकित होगा और प्रकार इस मत से उसकी अखण्डता एवं एक-रसता को बाधा पहुँचती है।

इस प्रकार स्वगत (सामाजिक) की दृष्टि से न रस की प्रतीति होती है, न उत्पत्ति, न अभिव्यक्ति।

इसी प्रकार रस न तो नट में प्रत्यक्ष, अनुमान स्मृति आदि रूपों में प्रतीति का विषय बनता है, न उत्पत्ति का और न अभिव्यक्ति का। मूलतः नट से रसा-नुभूति का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी नहीं है। यही नहीं, नट की रसानुभूति से सामाजिक की रसानुभूति से कोई भी सम्बन्ध भी नहीं है।

इस प्रकार, निषेध पक्ष से आचार्य भट्टनायक पूर्ववर्ती मान्यताओं का खण्डन करते हैं।

और अपने पूर्ववर्ती मतों के निषेध पक्ष से ही भट्टनायक अपनी मान्यता भी स्थापित करते हैं। उनकी मान्यता के क्रम इस प्रकार हैं—

१. अभिधा व्यापार मूलतः अर्थ प्रतीति व्यापार है। अर्थ प्रतीति या अभिधा व्यापार से शास्त्रादि एवं पुराणादि का सन्दर्भ ज्ञान होता है। अध्ययन हेतुभूत सम्पूर्ण विधाएँ अभिधा व्यापार के प्रायः समानान्तर हैं किन्तु काव्य एवं नाट्य के

अभिधा या अर्थज्ञान व्यापार की दो भिन्न विलक्षणताएँ हैं—जो अन्य में नहीं हैं—

१. (क) काव्य में दोषाभाव एवं गुणालंकारादि कलात्मक वैशिष्ट्य का योग

(ख) अभिनय में कायिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य की उपलब्धता

२. इन दो वैशिष्ट्यों से युक्त काव्य-नाट्य के सम्पर्क में जब पाठक या दर्शक (सहृदय) आता है, तब

(क) अज्ञान, मोह आदि संकटों के निवारण से,

(ख) विभावादि के साधारणीकरणात्मक रूप से,

(ग) रज एवं तम के अनुवेध-वैचित्र्य से उत्पन्न अनुभव एवं स्मृति आदि से विलक्षण चित्तद्रुति, विकास, विस्तार से युक्त—

(घ) इस द्वितीय भावकत्व या भावना व्यापार से भाव्यमानता या साधारणीकरण जैसी स्थिति घटित होती है ।

आचार्य विश्वेश्वर इसको भावकत्व व्यापार एवं रस-निष्पत्ति को भोजकत्व व्यापार की संज्ञा देते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने एक श्लोक का अंश उद्धृत किया है—अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च'' अर्थात् साधारणीकरण व्यापार 'भावना' व्यापार है । श्री पी० वी० कणे महोदय ने इसे साधारणीकरण या साधारणीकरण योग के नाम से पुकारा है ।[१] इसका अर्थ है—जो विशिष्ट रामादि विभाव तक सीमित है, उसमें सामान्य का गुण बनने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है । विशिष्टत्व की समाप्ति के बाद एवं अभिधा विगत होकर सहृदय के सत्त्वगुण से आवेशित हो जाने के बाद—

(क) प्रकाशमय एवं आनन्दयुक्त

(ख) आत्म (साक्षारात्मक) विश्रान्तिरूप रूप

(ग) परमब्रह्म के आस्वादन के सदृश

(घ) भोग व्यापार के द्वारा उसका (रस का) भोग किया जाता है ।

सामान्यतया यहाँ योग या समाधि के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार से प्राप्त होने वाले आनन्द के आस्वाद की भाँति काव्यस्वाद को बताया गया है । सामान्यतया विद्वानों ने रज, तम एवं सत्त्व धर्मों के निर्देश के कारण इसे सांख्य मत माना है और ब्रह्मसाक्षात्कारात्मकता के कारण मीमांसा मत स्वीकार किया है ।

---

१. हिस्ट्री आव संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ ३७१

इस व्याख्या में 'साधारणीकरणात्मना' को भावन व्यापार के रूप में स्वीकार किया गया है। यह मूलतः योगशास्त्र का ही विषय है। पतंजलि योगसूत्र के कैवल्यपाद में सूत्र १५ की व्याख्या करते हुए योगभाष्यकार ने 'साधारण' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग करते हुए उसके अर्थ को स्पष्ट किया है—

'बहुचित्तालम्बनी भूतमेकं वस्तु साधारणम्' 'भाष्यसिद्धि' में इसी को स्पष्ट करते हुए बताया है—

बहुत चित्तों का आलम्बन स्वरूप कोई भी एक पदार्थ सभी के द्वारा समान जाता है या जो रूप से धारण किया अनेक ज्ञानों का समान रूप से विषय बनता है; वह साधारण व्यापार है।[1]

"रज एवं तम के अनुवेध के वैचित्र्य बल से चित्तद्रुति, विस्तार, विकास लक्षणों के उत्पन्न होने पर स्वत. सत्त्व से आवेष्ठित होने पर स्वयं प्रकाश रूप···।"

इस दशा का वर्णन 'सम्प्रज्ञात' समाधि के अन्तर्गत किया गया है। योगसूत्र के समाधि पाद के दूसरे सूत्र में इन त्रिगुणात्मक वृत्तियों के स्वरूप-स्वभाव का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। चित्त मूढ़ावस्था के कारण मोह तथा अज्ञान के आवरण से रहित होकर वह सत्त्वगुण कृत प्रकाश से युक्त हो उठता है। इस प्रकार भट्टनायक योग की ही शब्दावली द्वारा अपने इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं।

आचार्य भट्टनायक के मत की आलोचना करते हुए अभिनवगुप्तपादाचार्य ने दो तथ्यों पर विशेष बल दिया है। भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापार का न कोई शास्त्रीय आधार है और न तो पूर्व उल्लेख ही। दूसरे तर्क के अनुसार भोग व्यापार ही व्यंजना व्यापार है। साधारणीकरण रूप से सिद्ध भोग रूप यह व्यंजना व्यापार ही रसाभिव्यक्त आस्वादन एवं आनन्द रूप है। ये तीनों पृथक्-पृथक् न होकर एक साथ रस के साक्ष्य बनते हैं। इस सम्बन्ध में पण्डितराज जगन्नाथ की टिप्पणी इस प्रकार है—

भोगकृत्वं तु व्यंजनादविशिष्टम्। अन्या तु सैव सरणिः। भोगीकृत व्यापार व्यंजना से भिन्न नहीं है और शेष सिद्धान्त सब उसी सरणि में (अभिनव गुप्त के मतानुरूप) हैं।

आचार्य भट्टनायक द्वारा प्रयुक्त भोग को व्यंग्य के रूप में स्वीकार करते हुए वे उसे रस प्रतीति, रसास्वाद एवं रस चर्वणा आदि नामों से पुकारते हैं।

---

१. योगभाष्यसूत्रसिद्धि : डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, पृष्ठ ५८६

आचार्य भट्टनायक रस की उत्पत्ति, प्रतीति और अभिव्यक्ति नहीं मानते। अभिनव गुप्त के अनुसार इनमें से रस-प्रक्रिया के लिए किसी को मानना पड़ेगा, अन्यथा रस की सत्ता समाप्त हो जाएगी। उसकी सत्ता न होने पर उसका भोग ही कैसे होगा। यह आपत्ति बहुत उचित नहीं है क्योंकि उत्पत्ति, प्रतीति, अभिव्यक्ति से भिन्न भोग व्यापार भी रस दशा का ही भोग है, उसे उत्पत्ति, प्रतीति एवं अभिव्यक्ति से विरहित नहीं माना जा सकता।

अभिनवगुप्तपादाचार्य

आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन एवं अभिनव भारती दोनों ग्रन्थों में भरत सूत्र की व्याख्या के सापेक्ष्य में रसनिष्पत्ति विषयक अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। उनकी यह मान्यता शैवदर्शन के प्रकाश में है, या व्यंजनामत के, यह एक विवादपूर्ण प्रश्न है किन्तु जहाँ तक प्रतीत होता है, ध्वनि (व्यंजना मत) का ही प्राधान्य है। दोनों व्याख्याओं में अभिनव भारती का मत अधिक स्पष्ट एवं तर्क जाल से असम्पृक्त दिखाई पड़ता है। हिन्दी अभिनव-भारती, पृ० ४७१ पर यह मत इस प्रकार है—

तस्य च 'ग्रीवाभगाभिरामम्' इति............इत्यादि वाक्येभ्यो वाक्यार्थ-प्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका तद्वाक्योपात्त कालादिविभागा ताव-प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिभाति तस्य विशेष रूपत्वाभावाद् भीत इति, त्रासक व्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गतं, तत एव भीतोऽयं भीतोऽहं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादि प्रत्येभ्यो दुःख सुखादि कृतबद्धयन्तरोदय नियमवत्तया विघ्न बहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीति ग्राह्यं, साक्षादिव हृदये निविशमानं, चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं, भयानको रसः। तथाविधे हि भये नात्मात्यन्तं तिरस्कृतो, न विशेषत उल्लिखितः। एवं परोऽपि।

तत एव, न परिमितमेव-साधारण्यमपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्यो-र्भयकम्पयोरिवं वा। तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन पारिपोषिका नटादि सामग्री। यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकाल प्रमातादीनां नियतहेतूनामन्योन्य प्रति-बन्ध बलादत्यन्तमपसारणे स एव साधारणीकरण भावः सुतरां पुष्याति। अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैन प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादि वासनाचित्रीकृत चेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारः॥

(सहृदय अधिकारी को) [कालिदास के शकुन्तला नाटक में आए हुए...... इत्यादि श्लोक वाक्यों से वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद उस-उस वाक्य में गृहीत

कालादि के विभाग की उपेक्षा (साधारणीकरण) कराने वाली मानसी एवं साक्षात्कारात्मिका प्रतीति उत्पन्न होती है। और उस प्रतीति में जो मृग शावक आदि विषय रूप में भासता है, उसके [साधारणीकरण हो जाने से] विशेष रूप न होने से मृगपोत विषयक 'यह भीत है', यह ज्ञान तथा [भय के कारण] त्रासक [दुष्यन्तादि] के वास्तविक न होने [अर्थात् कल्पित होने] से, भय ही, देशकाल आदि से बिल्कुल असम्बद्ध [रूप में भासता है], इसलिए मैं भीत हूँ, अथवा यह भीत है, अथवा यह शत्रु है, मित्र या मध्यस्थ है इत्यादि सुख दुःखादि को देने वाले अन्य ज्ञानों के नियम से उत्पन्न करने वाले, अतएव विघ्न बहुल ज्ञानों से भिन्न, निर्विघ्न प्रतीति से [ग्राह्य भयरूप स्थायी भाव ही] साक्षात् हृदय मेंप्रविष्ट होता हुआ-सा, आँखों के सामने घूमता हुआ-सा 'भयानक रस' होता है। इस प्रकार के भय में [सामाजिक का] आत्मा न अत्यन्त उपेक्षित होता है, और न विशेष रूप से उल्लिखित होता है। इस प्रकार अन्य [रस] भी होते हैं।

इसलिए उन विभावादि का उसी देश काल में परिमित रूप से ही साधारणीकरण नहीं होता है, अपितु धूम और अग्नि के व्याप्तिग्रह में, अथवा भय और कम्प आदि के व्याप्तिग्रह के समान अत्यन्त विस्तृत रूप में [साधारणीकरण] होता है। और इसमें साक्षात्कारात्मक रूप से परिपोषिका नटादि सामग्री होती है। जिसमें वास्तव में विद्यमान और काव्य में वर्णित देश, काल, प्रमाता आदि को नियामक हेतुओं के [नियम के] बन्धन से अत्यन्त अलग कर देने पर वह साधारणीकरण व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है। इसलिए समस्त सामाजिकों को एक रूप से ही प्रतीति होती है, जो रस के लिए अत्यन्त परिपोषक हो जाती है। अनादि संस्कारों द्वारा चित्रित चित्त वाले सारे सामाजिकों की एक जैसी वासना होने के कारण [सबको एक जैसी रस की प्रतीति होती है] और यह विघ्नों से रहित प्रतीति 'चमत्कार' कहलाती है।

इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त इस 'संवित् चमत्कार' की सिद्धि के अनन्तर रस को निर्भ्रान्त शब्दों में प्रतिष्ठित करते हुए कहते हैं—

"सर्वथा रसनात्मक वीतविघ्न प्रतीति ग्राह्यो भाव एव रसः प्रत्येकदशा में [सर्वथा] आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस हैं।[1]

आचार्य मम्मट ने अभिनव गुप्त के मत को काव्य प्रकाश में इस प्रकार रखा है—

---

१. रस सिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, पृ० १७०,१७१

"लोके प्रमदाभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटवतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादि परिहारेण विभावनादि व्यापारवत्त्वाद् लौकिक विभावादि शब्द व्यवहार्य्यैर्ममैवै ते, शत्रोरवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरवैते, तटस्थयै- इति सम्बन्ध विशेष स्वीकार परिहार नियममानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियत प्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलित परिमित प्रमातृभाववशोन्मिषित वेद्यान्तर सम्पर्क शून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलहृदयसंवाद भाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणः, विभावजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणःपुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद्, ब्रह्मस्वाद मिवानुभावयन् अलौकिक चमत्करकारी शृंगारादिको रसः।"

लोक में प्रमदा आदि [अर्थात् प्रमदा, उद्यान, कटाक्ष आदि विभाव अनुभावादि के देखने] से [उन प्रमदादि में रहने वाले रति आदि रूप] स्थायी [भावों] के अनुमान करने में निपुण सहृदयों का काव्य तथा नाटक में कारणत्व [कार्यत्व तथा सहकारित्व] आदि को छोड़कर विभाव आदि व्यापार [रत्यादीनाम् 'आस्वादयोग्यतानयनरूपाविर्भावनम्' अर्थात् रत्यादि को आस्वाद योग्य रूप प्रदान करना 'विभावन व्यापार' कहलाता है, आदि पद से 'अनुभावन' तथा 'व्यभिचारण' व्यापार का भी संग्रह बनाना 'अनुभावन' तथा 'काम विशेषण अभितः रत्यादीनां सञ्चारणं व्यभिचारिणम्' अर्थात् शरीर में रति आदि के प्रभाव का संचारण व्यभिचारण व्यापार] से युक्त होने से विभावादि शब्दों से व्यवहार्य उन्हीं [प्रमदादि रूप कारण, कार्य, सहकारियों] से [जो] 'ये मेरे ही हैं' या 'शत्रु के ही हैं,—या 'तटस्थ के ही हैं' अथवा 'ये न मेरे ही हैं', 'न शत्रु के ही हैं' और न 'तटस्थ के ही हैं' इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष का स्वीकार अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण [विशेष व्यक्ति से सम्बन्ध से रहित] रूप से प्रतीत होने वाले [उन विभावादि] से ही अभिव्यक्त होने वाला और सामाजिक में वासना रूप से विद्यमान रति आदि स्थायी [भाव] नियत प्रमाता [अर्थात् विशिष्ट एक सामाजिक] में स्थित होने पर भी [साधारण्योपाय] अर्थात् व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध के बिना प्रतीत होने वाले विभावादि के बल से [उसी रसानुभव के] काल में [मैं भी इसका आस्वादनकर्ता हूँ, या ये विभावादि मेरे ही हैं इस प्रकार के व्यक्तिगत भावनाओं रूप] परिमित प्रमातृभाव के नष्ट हो जाने से वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य और अपरिमित प्रमातृ भाव जिसमें उदित हो गया है, इस प्रकार के [प्रमाता] सामाजिक के द्वारा समस्त [सामाजिकों के] हृदयों

के साथ समान रूप से [व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से रहित साधारण्य से] अपनी आत्मा के समान [आस्वाद से] अभिन्न होने पर भी [आस्वाद का] विषय होकर [अर्थात् जैसे आत्म साक्षात्कार में चिद् रूप से अभिन्न आत्मा के भी साक्षात्कार का 'विषय' माना जाता है, इसी प्रकार अनुभूति से अभिन्न होने पर भी रस को [विषय कहा जा सकता है] आस्वादमात्र स्वरूप [चर्व्यमाणतैकप्राणः] विभावादि की स्थिति पर्यन्त रहने वाला [इलायची, काली मिर्च, शक्कर, इमली, आम आदि को मिलाकर तैयार किये गये प्रपाणक अर्थात् [पने रस के समान] अर्थात् प्रपाणक की घटक सामग्री के रस से विलक्षण रस के समान] आस्वाद्यमान, साक्षात् प्रतीत हुआ-सा, हृदय में प्रविष्ट होता हुआ-सा, समस्त अङ्गों का आलिङ्गन करता होता हुआ-सा, अन्य सबको तिरोभूत करता हुआ-सा, ब्रह्म साक्षात्कार का अनुभव कराता हुआ-सा, अलौकिक आनन्द को प्रदान करने वाला [चमत्कारी] शृंगार आदि रस होता है। [यह अभिनवगुप्त का मत है और यह आलंकारिकों का सिद्धान्त माना जाता है।][1]

(१) रस की निष्पत्ति सहृदय अधिकारी के हृदय में होती है।

(२) सर्वप्रथम वाक्यार्थ की प्रतीति होती है ।

(३) कालादि की उपेक्षा कराने वाली साक्षात्कारत्मिका प्रतीति वाक्यार्थ प्रतीति के बाद होती है। कालादि की उपेक्षा कराने वाली इस साक्षात्कारात्मिका प्रतीति के बाद।

(४) देश-काल-पात्र आदि से सम्बद्ध होकर प्रतीत होने वाले विषय की विशेषात्मकता समाप्त हो जाती है और केवल विषय रूप मृगादि से भिन्न 'भय' नामक व्यापार ही सहृदय के मन बच रहता है।

(५) यह 'भय' न मृत का है, न पाठक का है, न शत्रु का है, न मित्र का है, न मध्यस्थ का है अपितु सहृदय के मन में काव्य-पाठ की समाप्ति काल तक देश, काल, पात्र, विषय सबसे निरपेक्ष केवल 'भय' मात्र है।

(६) यही 'भय' चित्त द्वारा चर्व्यमाण होकर रस व्यापार बनता है। चित्त में उद्भाषित 'भय' का यह रूप लोकात्मक हेतुओं से उत्पन्न 'भय' से भिन्न है क्योंकि न यह ज्ञान रूप है, न ज्ञाप्य रूप, न अनुमान रूप और न अन्य लोकात्मक प्रतीतियों की भाँति। यह लोकात्मक प्रतीति से भिन्न स्वभाव का है।

---

१. काव्य प्रकाश : चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ १०८, १०९

(७) इसका प्रभाव अन्य ज्ञानमूलक प्रतीतियों से भिन्न है । जैसे व्याप्तिगृह में धूमाग्नि एक स्थान पर न रहकर सम्पूर्ण गृह को आच्छन्न कर लेती है, ठीक उसी प्रकार इसके प्रभाव से प्रभावकाल तक सहृदय का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इसी से आवेशित रहता है—क्योंकि 'स्थायी' धर्म के प्रभाव से शरीर, मन, बुद्धि एवं चित्त सभी इसी में समप्लवित रहते हैं ।

(८) मूलतः यह रसात्मक स्थिति साधारणीकरण व्यापार से आती है, जिसके उत्पन्न होते ही वृत्ति में निहित देश, काल, पात्रादि का विशेषत्व एवं सहृदय के देश, काल, स्वगतता, परगतता, मध्यस्थगतता की समाप्ति हो जाती है ।

(९) इसी साधारणीकरण व्यापार की उत्पत्ति के कारण सभी दर्शकों के देश, काल, स्वगतता, परगतता आदि का विसर्जन हो उठता है और प्रारम्भिक स्थिति में विषय के विशेषत्व का लोप हो उठता है, इसलिए प्रेक्षागृह में एकत्रित सामाजिक समुदाय समान रूप से रस का आस्वादन करता है ।

(१०) यह 'रसास्वादन' व्यापार वस्तुतः अनादि वासना रूप स्थायीभाव का ही है, जो समान रूप से सभी प्राणियों द्वारा परम्परया नैसर्गिक अर्जित सम्पत्ति है ।

(११) विघ्नों से रहित होने के कारण यही स्थायीभाव रस रूप में आस्वादित होते हैं । स्थायीभाव का आस्वादन होने के कारण यह विलक्षण स्वभाव का चमत्कारी प्रतीत होता है ।

रसास्वादन के लिए सबसे अनिवार्य शर्त है, सहृदय के मन का विघ्न रहित होना । आचार्य अभिनवगुप्त ने ७ रसविघ्नों की चर्चा की है—

१. प्रतीति के अयोग्य होना
२. सहृदय का काव्य पाठ या अभिनयदर्शन के क्षण अपने भावों से आविष्ट होना
३. पात्रादि की वास्तविकता का बोध
४. व्यक्तिगत सुख दुःख का आवेश
५. रस निष्पत्ति कराने वाले साधनों में अक्षमता
६. अङ्गिरस की अप्रधानता
७. भावादि के विषय में निरन्तर संशय का बने रहना

इस प्रकार इन विघ्नों से रहित, साधारणीकृत दशा में स्थायि की प्रतीत ही

रस है। साधारणीकृत दशा की यही स्थायिप्रतीति ही रसास्वादन है, यही रस है, यही व्यंजित रस है।

आचार्य भट्टनायक के भोगीकृत (भोगवाद) मत से अभिनवगुप्तपादाचार्य के मत की तुलना करने पर दोनों में पर्याप्त समता दिखाई पड़ती है। समता के लिए मुख्य आधार 'साधारणीकरण न्याय' है। इसके अभाव में रस सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की जा सकती। 'साधारणीकरण' काव्य कला के सम्पर्क में आने वाले मानस के लिए एक मनोवैज्ञानिक घटना है। काव्य या किसी कला के सम्पर्क में ज्यों ही मन आता है, धीरे-धीरे कृति का सम्पूर्ण विशेषत्व समाप्त हो जाता है और दूसरी ओर पाठक की अपनी ज्ञानात्मक वैयक्तिता भी समाप्त हो जाती है—और उसके मन में बच रहता है तो वही जो कृति के वर्ण्य विषय में वर्णित मूल भाव है। वह यदि 'स्थायी' है तो फिर कृति विशेष का न होकर पाठक का बन जाता है और यदि संचारी है तो भी स्थायी के स्वभाव की भाँति अल्पकाल काल के लिए सहृदय का निर्विशेष भाव बनकर आस्वादित होता है। यही नहीं, जितने भी पाठक होंगे सबके वासना के रूप में जागृत होकर ये आस्वादन के विषय या आस्वादन रूप बनेंगे।

'साधारणीकरण' व्यापार का तात्पर्य एक प्रकार से सहृदय के मन की विवशता से लगाना चाहिए। काव्य की कलात्मक विशिष्टता का यह विलक्षण स्वभाव है कि सहृदय का मन ज्यों-ही उसके सम्पर्क में आता है, 'विभावानुभाव व्यभिचारि निरपेक्ष' एवं स्व-परगतानुज्ञान भिन्न बन जाता है विभावानुभाव-संचारि से पोषित कृति का या उसके अंश का स्थायिभावात्मक रूप जो कृति एवं पाठक में उभयनिष्ठ है—वह पाठक का बन जाता है। कृति व्यंजित भाव का क्रम इस प्रकार है—

१. कृति का शब्दार्थ ज्ञान > उनकी विभावादि रूप में परिणति > अर्थ रस की निष्पत्ति
२. सहृदय के वाह्य ज्ञान का तिरोधान व्यापार > स्वगतता-परगततादि का विनाश > स्थायिभावरूप रस
३. कृति में शब्दार्थ कौशल विभावानुभावादि से व्यंजित-स्थायी
४. सहृदय के मन में स्वगतता-परगतता के विनाश से वासना रूप निरपेक्ष स्थायी रूप रस का उदय

कृति में व्यंजित स्थायि (अर्थरस) एवं पाठक में वासना के रूप में जागृत स्थायि (आस्वादन रूप रस) इन दोनों में अभेद नहीं रहता। कृति भोग्या है और पाठक भोक्ता, कृति साधन है और पाठक साध्य, कृति अचेतन पदार्थ है

और साधक भोक्ता रूप संवित् चेतन। अतः पुरुष के रूप में वह जड़-काव्य का भोग करता है इस मत को भट्टनायक स्वीकार करते हैं। कृति से व्यंजित स्थायि-भाव का सहृदय का भावनाव्यापार (भावकत्व) बन जाना—साधारणी-कृत स्थायिभाव दशा भोजकमन के लिए भोग की सामग्री है। मन के द्वारा साधा-रणी कृत के स्थायिभाव का भोग ही रस है। भट्टनायक का यह रस व्यापार है।

साधारणीकरण के इस व्यापार को आचार्य अभिनवगुप्त भी स्वीकार करते हैं। वे भी स्वीकार करते हैं कि बिना स्थायीभाव के साधारणीकरण प्रक्रिया के बीच होकर गुजरने से रसास्वादन नहीं होगा। भट्टनायक की भाँति अभिनव गुप्त भी साधारणीकरण से उत्पन्न विलक्षणता का उसी रूप में उल्लेख करते हैं। जैसा कि 'अभिज्ञान शकुन्तला' के आश्रममृग की घटना से सम्बन्धित कालिदास के 'ग्रीवाभंग विराम नयनम्' वाले प्रसिद्ध श्लोक के माध्यम से वे सिद्ध करते हैं—

१. सर्वप्रथम सहृदय को वाक्यार्थ की प्रतीति होती है
२. पाठक के मन में वाक्यार्थ प्रतीति के बाद दूसरी घटना कृति में निर्दिष्ट दुष्यन्त के ऐतिहासिक काल की उपेक्षा कराने वाली साक्षात्कारात्मिका प्रतीति उत्पन्न होती है।
३. देश, काल, पात्र से सम्बद्ध यह विषय की विशेषात्मकता समाप्त होती जाती है और अन्त में न आश्रमवासियों का भय, न मृग का भय बचता है अपितु बचता है केवल 'भय' नामक स्थायि भाव।
४. इस स्थिति तक पहुँच कर यह 'भय' स्थायी न पाठक का वैयक्तिक भय रह जाता है, न उससे सम्बद्ध शत्रु, मित्र, मध्यस्थ का ज्ञानात्मक भय। भय का यह स्थायीभावात्मक रूप साधारणीकरण व्यापार के द्वारा उत्पन्न एक अनिवार्य मनः दशा है। विघ्नादि विरहित कोई भी सहृदय या सहृदय समूह किसी भी देशकाल, परिस्थिति में जब काव्य के सम्पर्क में आएगा, कृति के सौन्दर्य वैशिष्ट्य एवं कवि की अलौकिक कल्पना सृष्टि के परिणामस्वरूप उसके मन में इस प्रकार की घटना अवश्य घटेगी। इसका मूलकारण साधारणीकरण है। साधारणीकरण का इस प्रकार सम्बन्ध रचना एवं कला के सम्पर्क में आने वाले मानव मन से है। वह कला एवं काव्य के आस्वादन की मनोवैज्ञानिक संस्थिति है। वह सहृदय पाठक की एक मानसिक विवशता है। यदि मन की मानसिक विवशता को समर्पित करके सहृदय काव्य जगत में प्रवेश नहीं करता तो काव्य का आस्वादन उसके लिए असम्भव है।

आचार्य अभिनवगुक्त—साधारणीकरण व्यापार को इस सीमा तक स्वीकार करते हैं और आचार्य भट्टनायक के इस व्याप्ति सिद्धान्त में पूर्ण आस्था रखते हैं। इसके बाद की प्रक्रिया या इससे सम्बद्ध अन्य परवर्ती रसात्मक प्रक्रिया को वे नहीं स्वीकार करते।

इनके अनुसार 'साधारणीकृत स्थायिभाव' भोग की सामग्री नहीं है। उक्त उद्धरण में जो भय नामक स्थायीभाव साधारणीकृत होकर पाठक के मन में बचता है, मन के द्वारा भोगा नहीं जाता। वह सहृदय के मन में जागृत उसकी अनादिकालीन स्थायी वासना है। यह काव्यादि हेतुओं से साधारणीकृत होकर जागृत होती है। कोई भी वासना जब मानव मन में जागृत होती है तो मन एवं वासना के बीच 'कार्य-कारण' सम्बन्ध नहीं रहता। भट्टनायक कार्य कारण सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु अभिनव गुप्त इसको नहीं स्वीकार करते। वासना की जागृति का अर्थ ही है, मन का भोग। वासना की जागृति एवं भोग दो व्यापार नहीं हैं। वे ध्वन्यालोकलोचन में कहते हैं—

'रस्यमानतोदितचमत्कार अनतिरिक्तत्वादभोगस्येति'

रस्यमान चमत्कार व्यापार भोग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

भावकत्व व्यापार की अपनी कोई सत्ता नहीं है। वासना की जागृति जिसे भट्टनायक भावकत्व कहते हैं, व्यंग्य के रूप में वही रस व्यापार ही भोगीकृत रूप अर्थात् भोजकत्व है। इसलिए उनके अनुसार 'वासना की जागृति' अभिव्यक्ति व्यापार है, और वही रस है। ध्वन्यालोकलोचन में इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

"अतश्चर्वणात्राभिव्यंजनमेव न तु ज्ञापनम्, प्रमाण व्यापरवत् नाप्युत्पादनम्। हेतु व्यापारवत्। ननु यदि नेयं ज्ञाप्तिर्न वा निष्पत्तिः···तर्हि किमेतत्।"

अभिनवभारती में इसे स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं—

"तत्र विघ्नायसारकाः विभाव प्रभृतयः। तथा हि लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कार निर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्ति लयविश्रान्ति आदिशब्दैरभिधीयते"

अर्थात्, लोक की सकलविघ्नविनिर्मुक्त (साधारणीकृत) संविति (स्थायीभाव रूप व्यंग्य संवेदन) ही चमत्कार, निर्वेश, रसन्, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति इत्यादि शब्दों से अभिहित किया जाता है।

अतः भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त दोनों साधारणीकरण व्यापार के वैशिष्ट्य को एक ही तरह से स्वीकार करते किन्तु उसके परिणाम को दोनों भिन्न रूप में देखते हैं। भट्टनायक के अनुसार वह रस के भोग का कारण है किन्तु अभिनव-

के अनुसार वह स्वतः रसरूप है। भट्टनायक इसीलिए रस को आस्वाद्यरूप मानते हैं और अभिनवगुप्त आस्वादन रूप।

साधारणीकरण

हिन्दी साहित्य में साधारणीकरण को लेकर वर्षों से बहस चलती रही है। इस बहस के दो पक्ष हैं—

१. साधारणीकरण क्या है ?

२. साधारणीकरण किसका होता है ?

साधारणीकरण सिद्धान्त विवेचकों की दो सरणि है, जिनमें आचार्य पं० रामदहिन मिश्र, बाबू श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, पं० केशव प्रसाद मिश्र पुरानी पीढ़ी के विवेचक हैं। साधारणीकरण के दूसरे वर्ग के विवेचक सर्वथा नई पीढ़ी के हैं। डॉ० नगेन्द्र, डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, डॉ० प्रेम स्वरूप गुप्त, डॉ० निर्मला जैन आदि को इस वर्ग में रखा जा सकता है।

अंग्रेजी के माध्यम से डॉ० वी राघवन्, डॉ० एस० के० डे, डॉ० कान्तिचन्द पाण्डेय, डॉ० छैल विहारी गुप्त राकेश आदि ने इस विषय पर अपने विचारों को रखा है।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रश्न उठाए जा सकते हैं—

१. साधारणीकरण क्या सहृदय के स्थायीभाव का होता है ?

२. क्या विभावादि का होता है ?

३. क्या पात्रों की शील दशा का होता है ?

४. क्या स्थायीभाव का होता है ?

५. क्या कवि की भावनाओं का होता है ?

६. क्या आलम्बन या आश्रय का होता है ?

७ क्या साधारणीकरण योग की मधुमती भूमिका जैसी कोई चित्त दशा है ?

जैसा कि, भट्टनायक के सन्दर्भ में उल्लेख किया जा चुका है, 'साधारण' शब्द 'धारण' धृ धातु में 'सा' उपसर्ग लगा कर बनाया गया है—'समानं धारणं यस्य तादृशं भवति' अर्थात् अनेक चित्तों द्वारा जो समान रूप से धारण किया जाता है, वह मनस् व्यापार साधारण है। भारतीय योगदर्शन के अन्तर्गत 'चित्त' की विविध लोकात्मक एवं आध्यात्मिक भूमिकाओं का मनोविज्ञान के प्रकाश में विवेचन किया गया है। 'साधारण' शब्द का प्रयोग मूलतः यहीं हुआ है—

"बहुचित्तालम्बनोभूतमेकं वस्तु साधारणम् । तत्खलु नैक चित्त परिकल्पितम्, नाप्यनेक चित्त परिकल्पितं, किन्तु स्वप्रतिष्ठम् ।"

अनेक चित्तों में आलम्बन बने हुए एक वस्तु (ज्ञान) को 'साधारण कहा जाता है। न वह एक चित्त ज्ञान से धारण किया जाता है, और न अनेक व्यक्तियों (जिनमें साधारण व्यापार है) के ज्ञान समूहों से धारण किया जाता है अपितु उसका धारण अपने ही ज्ञान से है, इसलिए साधारण में सबको एक ज्ञान से प्रभावित करने वाला ज्ञान स्वप्रतिष्ठ होता है। वह न एक का व्यक्तिगत ज्ञान है, न समूह का समूहात्मक, अपितु साधारण का विषयभूत अपने ज्ञानावेश से व्यक्ति एवं समूह को आवेष्ठित किये रहता है।

इस दशा में पहुँचकर चित्त को न सुखात्मक अनुभव होता है, न दुखात्मक अनुभव, न मोहात्मक और न निर्लेपात्मक।[1]

इसी साधारण शब्द में 'अभूत तद्भावे' की सिद्धि के लिए च्विन प्रत्यय लगाकर 'साधारणीकरण' शब्द को सिद्ध किया गया है, जिसका अर्थ लगाया गया जो एक अनेक चित्तों का विषय नहीं है, अर्थात् जो साधारण-व्यापार द्वारा सबसे चित्त में समान रूप से धारण नहीं किया जा सकता है, उसको एक के या समूह के चित्तों द्वारा समान रूप से धारण कराया जाए।

तिरोधानभूतता के बाद काव्य के वर्ण्य विषय में निहित भाव (स्थायी-संचारि जो भी मूल में हैं) वे पाठक के मन में निहित वासना को जागृत करके उसी रूप में हो जाते हैं। कृति के भाव-व्यापार का सहृदय के हृदय की जागृत वासना के रूप में परिणत हो जाना ही साधारणीकरण व्यापार है।

इस सम्बन्ध में इस प्रकार प्रश्न उठाए जा सकते हैं—

कृति और सहृदय की वासना के एकात्मभूत भाव क्या दोनों एक ही हैं जबकि कृति सहृदय से एक भिन्न वस्तु है। सहृदय केवल मानस व्यापार के आधार पर एक भिन्न पदार्थ से सम्पर्क स्थापित करता हैं। अतः भिन्न पदार्थ रूप कृति के व्यंजित वर्ण्य विषय के मूलभाव का सम्बन्ध कृति से है। दूसरी ओर, संहृदय का सम्बन्ध अपनी वासना से है, जो सनातन रूप से उसके हृदय में संचित् है। अतः ये क्या दो स्थानों से उत्पन्न होने वाले भाव (कृति एवं सहृदय के) भाव एक हैं, या भिन्न-भिन्न।

इसका उत्तर स्पष्ट है, तत्वः एक हैं, स्थान भेद से किंचित् गुणभेद अवश्य है—

---

१. देखिए— योगभाष्य सूत्र—डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, पृ० ५८६

कृति में व्यक्त स्थायी भाव या हर्षादि व्यापार वासना रूप है, वासना नहीं। यह वासनारूपता कवि के समग्र कलात्मक कौशल-अलंकार, गुण, अर्थ वक्रता, चकत्कृति एवं कल्पना के सृजित विभावानुभादि की भव्यता के संयोग से सचमुच वासना जैसा बन कर सहृदय विशेष से सामान्य में परिणत हो जाता है।

अभिनवगुप्त एवं मम्मटादि जब 'विभावादि साधारणीकरणात्मकता' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसका तात्पर्य रचना कौशल एवं कवि कल्पना दोनों की समग्रता का भी इसमें संयोग मानना चाहिए।

'साधारणीकरण' की इस स्थिति को देखकर यह कहा जा सकता है कि—

यह न आश्रय का है, न आलम्बन का और न आश्रय से तादात्म्य है और न आलम्बन का धर्मरूप। वह न विभावानुभाव संचारि का है और न मात्र सहृदय की वासना का। यही नहीं, यह योग की मधुमती भूमिका या सम्प्रज्ञात समाधि की आनन्दरूपता भी नहीं है।

साधारणीकरण की प्रक्रिया के लिये तीन ही तत्त्व विशेष जिम्मेदार हैं।

१. विभावानुभाव संचारी से सम्बद्ध प्रसंगों की भव्य कल्पनामूलक सृष्टि

२. गुण, रीति, अलंकार, वक्रता, चमत्कृति आदि काव्य सौन्दर्य के रचनात्मक गुण

३. निर्विघ्न सहृदय के निर्मल मानस से इन सब का साक्षात्कार

साधारणीकरण व्यापार काव्य सौन्दर्य के सम्पर्क में आने वाले सहृदय के मन के रसास्वादन की सत्ता से सम्बद्ध एक मनोवैज्ञानिक घटना है। उसका सम्बन्ध कला के आस्वादन-भोग के मनोविज्ञान से है। मानव मन कला के आस्वादन का भोग कैसे करता है? जब भी इसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन होगा मन की इस साधारणीकरणात्मक सत्ता के अध्ययन के बिना इसके अध्ययन का कोई अर्थ नहीं होगा। यद्यपि पण्डितराज जगन्नाथ ने साधारणीकरण के बिना अद्वैत के अध्यास की निर्मूलता के तर्क से इसका समाधान दिया है, किन्तु साधारणीकरण व्यापार वहाँ प्रछन्न रूप से है ही। अभ्यास की निर्मूलता ही साधारणीकरण व्यपार है, तर्क और नाम बदलने से वह मनोवैज्ञानिक संस्थिति समाप्त नहीं होती। साधारणीकरण प्रक्रिया के घटित हो जाने के बाद की स्थिति की विलक्षणता के सम्बन्ध में अनेक ऐसे कथन मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि रसास्वादन व्यापार किसी विशिष्ट प्रकार का लोकोत्तर एवं लोकेतर

अनुभव है। मूलतः ऐसी बात नहीं है। आस्वादन व्यापार से सिद्ध आस्वाद का स्वरूप लोकानुभव व्यापार ही है किन्तु सामान्य इन्द्रिय अनुभवों से निश्चित ही भिन्न है। कलात्मक सौन्दर्य से उत्पन्न यह आनन्द इन्द्रियज अनुभवों से पूर्णतया पृथक् है किन्तु इसे लोकोत्तर इसलिये नहीं माना जा सकता क्योंकि कलात्मक अनुभव भी अन्ततया इसी लोक का ही एक विशिष्ट अनुभव है। इस रेखांकित कोष्ठकों के द्वारा इसके स्वरूप को स्पष्ट किया जा सकता है—

साधारणीकरण व्यापार (भट्टनायक)

काव्यार्थ के सम्पर्क में आने के पूर्व का अनुभव	साधारणी की दशा का अनुभव	साधारणीकरण के बाद की मनः दशा
मन का अपने सम्पूर्ण मोहात्मक सम्बन्धों से आविष्ट रहना	रज, तम के अनुवेध (उद्रेक) से चित्तद्रव, विस्तार विकास से युक्त होकर सत्त्वगुण की प्रधानता से साधारणीकृत दशा का उदय एवं मन की भोगानुविष्टता	१. रसास्वादन एवं उसकी आनन्दमयता क. स्वप्रकाशनन्द-मयता ख. संवित्विश्रान्ति की प्राप्ति

साधारणीकरण व्यापार (अभिनवगुप्त)

काव्य के सम्पर्क में आने पर मनःदशा	साधारणीकरण की स्थिति
१. स्वचेतनात्मक एवं मोहात्मक सत्ता की तिरोभूतता २. परगत रूप चित्तवृत्ति की तिरोभूतता ३. काव्य के गुण, अलंकार, गीति वाद्य, अभिनय कौशल आदि से भलीभाँति आवेशित होना	क—स्वात्मक एवं परात्मक ज्ञान सत्ता की सम्पूर्णभावेन तिरोभूतता के बाद ख—काव्य से उत्पन्न निरपेक्ष 'स्थायिभाव' के बाद १. विलयन के साथ निरपेक्षवासनास्वादन ही साधारणीकरण व्यापार है। २. स्थायी का यह आस्वादन न कृति का है, न नट का, न ऐतिहा-

सिक पात्र का। वह केवल सहृदय का है।

३. यह प्रत्यक्ष, प्रमाणरूप, स्मृति-रूप लोकात्मक अनुभव से भिन्न कोटि का है।

४. अनुभव काल में अन्य अनुभवों का पूर्णाक्षेप देखा जाता है जो अन्य प्रतीतियों में नहीं है।

५. दर्शक समुदाय को समान मात्रा समान गुण, समान स्वभाव से अभिभूत किए रहता है, जो लोकात्मक ज्ञान में नहीं है।

६. उपचार रूप में यह कार्य एवं ज्ञेय रूप है किन्तु लोकात्मक अनुभव की भाँति यह न कार्य रूप है और न ज्ञेय रूप न ज्ञाप्य रूप

७. न निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा यह ग्राह्य है न सविकल्पक ज्ञान द्वारा यह ग्राह्य है और न उभयात्मक ज्ञान द्वारा ही।

८. स्वसंवेदनामें विघ्नरहित विश्रांति रूप है अर्थात् "संवेदनमेवानन्द-घनमास्वाद्यते—

आचार्य अभिनवगुप्त के मत में आस्वाद के जिस स्वभाव का उल्लेख किया गया है, वह प्रत्यक्ष अनुमान एवं प्रमाणात्मक ज्ञान अनुभव एवं वासना के नहीं हैं। योग के अनुसार लोकवासना में संसक्त चित्त की पाँच दशाएँ होती है—

१ क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध।

रजोगुण के कारण चित्त विषयों में व्याप्त न रहता है या तमोगुण के कारण मूर्च्छादि व्यापार में मूढ़त्व की स्थिति में रहता है या रजोगुण की प्रधानता से मन ऊपर की ओर उठने की कोशिश करता है किन्तु तम बराबर उसे दबाते रहते हैं—या चित्त किसी एक विषय की ओर लगा रहता है एवं अन्य विषयों

से चिन्ताक्षेप दिखाई पड़ता है या रजस् एवं तमस् की समाप्ति के साथ-साथ सात्त्विक वृत्ति का भो निरोध हो जाता है और उस समय चित्त में संस्कार मात्र अवशिष्ट बचते हैं, यह चित्त की निरुद्ध भूमि है ।

आस्वादन भूमि पर चित्त दशा न क्षिप्त है, न मूढ़ है, न विक्षिप्त है, न एकाग्र । उसका स्वभाव निरुद्धता से परिपूर्ण होता है । यह निरुद्धता साधारणीकरण की पूर्वास्था जैसी है, जहाँ सम्पूर्ण स्व-परमूलक लोकात्मक प्रपंचों का तिरोधान हो उठता है । यह निरुद्ध भूमि योग समाधि दशा नहीं है । वह समाधि की ओर ले जाने वाली चित्त की उत्कृष्ट दशा है ।

साधारणीकरण एवं निरुद्ध भूमि की कोई तुलना नहीं है । अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण सिद्धावस्था है—एवं योग के अनुसार निरुद्ध भूमि समाधि की भूमिका है ।[1]

समाधि एवं आस्वादन अनुभव क्या एक हैं, क्या रसास्वादन की चित्त-दशा मधुमती भूमिका जैसी है, अति संक्षेप में यह विचारणीय है ।

सम्पूर्ण लोकात्मक वासनाओं के कर्माशय प्रपंचों से जन्य ज्ञानभूमियों के निरुद्ध हो जाने के पश्चात् अर्थात् चित्त की निरोधभूमि के बाद दो प्रकार की क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कृष्ट समाधिभूमियों की स्थिति आती है—

१. सम्प्रज्ञात समाधि
२. असम्प्रज्ञात समाधि

सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद हैं—

१. वितर्कानुगत
२. विचारानुगत
३. आनन्दानुगत
४. अस्मितानुगत

इस समाधि दशा तक पहुँचने के लिये प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति रूप लोकात्मकवृत्तियों, प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणादि ज्ञानवृत्तियों, मिथ्या विपर्यात्मक, विकल्प, निवस्तुक, स्वगत, परगत मोहात्मक ज्ञान तथा द्वेष, राग एवं अविद्या रूप वृत्तियों का निरुद्ध होना अनिवार्य है । समाधि एक स्थायी दशा है जो कठोर संयम, साधना, तपश्चर्या, निग्रहादि के बिना सम्भव नहीं है यही नहीं, इस दशा तक चित्त के अवस्थित हो जाने के पश्चात् सम्प्रज्ञात् समाधि आती है सात्त्विक वृत्ति के प्रकाश से इसमें ध्येय का साक्षात्कार होता है ।

---

१. योगसूत्र भाष्य सिद्धि : सं० डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, पृष्ठ ६७

क्रमशः—

१. वितर्कानुगत—आलम्बन में चित्त की स्थूल परिपूर्णता

१. विचारानुगत—आलम्बन में चित्त की सूक्ष्म परिपूर्णता

४. आनन्दानुगत—आलम्बन में चित्त स्वरूप की परिपूर्णता

४. अस्मितानुगत—आलम्बन में एकाकार चित्तरूप की परिपूर्णता

असम्प्रज्ञात समाधि इसके बाद की स्थिति है। सभी प्रकार की वृत्तियों के अस्त हो जाने के पश्चात् साधक में संस्कार मात्र शेष रहते हैं। यह स्थिति आलम्बन विहीनता की है। यह दो प्रकार की है—

१. उपाय रूप

२. भव प्रत्यय रूप

उपाय में 'चेष्टा' बनी रहती है किन्तु 'भव प्रत्यय रूप' समाधि में समाधि की सभी चेष्टाओं से साधक मुक्त हो जाता है। इसमें साधक दो रूपों में दिखाई पड़ते हैं; प्रथम विदेह तथा दूसरे प्रकृतिलीन। विदेह सावरण ब्रह्माण्ड में लीन रहते हैं तथा इनका पुनर्जन्म भी हो सकता है किन्तु प्रकृति लीन ईश्वर कोटि में आ जाते हैं। 'पुरुष' से प्रकृति के सम्बन्ध का क्षय हो जाता है, और साधक केवल 'पुरुष' रूप में अवशिष्ट बचता है।

'मधुमती भूमिका' तो बहुत नीचे की स्थिति है। दोनों समाधि दशाओं के प्रारम्भ में सिद्धियों की प्राप्ति मनोजवित्व, विकरणाभाव, प्रधान (प्रकृति) जयता की स्थितियाँ आती हैं, जिन्हें 'मधु प्रतीका' कहा गया है। शैव दर्शन में 'समाधि' की दशा में चित्त के भोग को मधुमती भूमिका के नाम से पुकारा गया है। ये स्थितियाँ साधना की हैं, कला तथा कल्पनाविलास से उत्पन्न आनंदानुभूति को इनसे तुलना करना उचित नहीं है। चित्त को समाधि दशा से साधारणीकरण रूप रसास्वादन दशा की तुलना मुख्यतः आलंकारिकों की अत्युक्ति मात्र है। क्योंकि दोनों की प्रक्रिया, पद्धति, स्वरूप, परिणाम सभी सर्वथा भिन्न हैं।

काव्य व्यापार मूलतः भोग व्यापार है, समाधि व्यापार, दूसरी ओर निवृत्ति व्यापार। भोग व्यापार मानस-तृप्ति से निरन्तर सान्द्र होता है, योग निवृत्ति से। सामान्य-से-सामान्य भोग भी 'तन्मयी-भवन' की योग्यता रखता है। ,तन्मयीभूतता' भोग व्यापार की अनिवार्यता है। भोग अपने काल खण्ड में ज्ञानदशा को मुग्ध कर लेता है। इस भोगकाल में भोक्ता का 'स्व-पर' पर का आवरण छिन्न हो जाता है। भोग में काम व्यापार अत्यधिक उत्कृष्ट है। इसी उत्कृष्टता के कारण बृहदारण्यक में एक स्थल पर ईश्वरानुभूति से इसकी तुलना की गई है—

"तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न वाह्य किञ्चन् वेद, नान्तरम्, 'एवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सपरिष्वक्तो न वाह्य किञ्चन् वेद, नान्तरम् ।"

जिस प्रकार प्रिया के आलिंगन किए जाने पर पुरुष न तो किसी बाहरी वस्तु को जानता है और न भीतरी वस्तु को। उसी प्रकार परमात्मा के आलिंगन किए जाने पर पुरुष न तो बाहरी वस्तु को जानता है, न भीतरी वस्तु को।[1]

भोग का सम्बन्ध पंच ज्ञानेन्द्रियों से है। मूलतः इनकी तृप्ति ही काम व्यापार है—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणनामात्म संयुक्तेन मनसाधिष्ठितानाम् स्वेषु स्वेषु विषयेषु अनुकूल्यतः प्रवृत्ति कामः ।

काव्यशास्त्रियों का एक वर्ग काव्य को भोग व्यापार की भाँति देखता है। ये काव्य की तुलना रमणी से करके उसके विविध साधर्म्यों में इसका मूल्यांकन करते हैं। 'कविता-युवती' रूपक साहित्य में भरत से ही चर्चा का ही विषय है—

सा कविता सा वनिता यस्याः श्रवणेन स्पर्शनेन च ।
कवि हृदयं पति हृदयं सरलं तरलं सत्वरं भवति ।।[2]

× × ×

दण्डी काव्यादर्श में कहते हैं—

तया कवितया किं वा तया वनितया च किम् ।
पद विन्यास मात्रेण यया न ह्रियते मनः ।।

वामन कहते हैं—

युवतेरिवरूपमङ्काव्यं स्वदते शुद्ध गुणं तदप्यतीव ।
विहित प्रणय निस्तराभिः सदलंकार विकल्पकल्पनाभिः ।।

आचार्य केशवदास कहते हैं—

चरन धरत चिंता करत भावत नींद न सोर ।
सुबरन को खोजत फिरत कवि व्यभिचारी चोर ।।

काव्य का सेवन, रसास्वादन आदि इस सन्दर्भ में सर्वथा भोग व्यापार ही ही है। 'काव्य-पुरुष एवं साहित्य विद्या-वधू, के प्रसंग के माध्यम से राजशेखर

---

१. कामसूत्र, व्याख्याकार—श्री देवदत्तशास्त्री, पृष्ठ ४२ तथा ८५, तथा भारतीय दर्शन, पं० बल्देव उपाध्याय, पृ० ४७

ने 'आस्वादन व्यापार' को भोग व्यापार ही माना है । भोज ने भी शृङ्गार प्रकाश के अन्तर्गत कविता-युवती को सर्वाङ्ग भोग में ही आस्वादन-व्यापार की सार्थकता की सिद्धि मानी है । राजशेखर 'काव्य-मीमांसा' में बताते हैं—

"सापि (साहित्य विद्यावधूपि) यद्विचित्रनृत्तगीतवाद्यविलासादिकमाविर्भाव-यामास ।....तत्र वेषविन्यास क्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनं-विन्यासक्रमोरीतिः"

'काव्य-पुरुष एवं साहित्य विद्या वधू' का यह परिणय उसके रूपात्मक सौन्दर्य के भोग की ही प्रकारान्तर-व्यंजना है । अलंकार को शरीर पर अलंकरण की भाँति, ध्वनि को लावण्य की भाँति, औचित्य को उचित सौन्दर्य सज्जा की भाँति, गुण को नारी गुण की भाँति उपमित करने के मूल में उसके आकर्षक, निर्विघ्न आस्वादात्मक मन को उपरमित करने वाले धर्म का ही विवेचन किया गया है ।

'शब्द' तथा 'अर्थ' के सौहित्य को 'पुरुष' एवं प्रकृति के संश्लिष्ट गूढ़ आलिंगन से उपमित किया गया है । शब्दार्थ का अभेद संश्लेष तथा आलिंगन (अलंकार, गुण, रीति, पाक, ध्वनि, वक्रोक्ति) सम्पुष्ट होकर रस को व्यक्त करता है। 'नारी-आलिगन की व्यंजना से आनन्द व्यंजित है । न वह पुरुष का वाह्य धर्म है, न नारी का । ज्यों ही काम व्यापार से प्रेरित होकर परस्पर आलिगित होते हैं, आनन्द स्वतः जन्मता है, दोनों को सामान्य गुण योग से अभिभूत करता है। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर कहते हैं—

"तस्य व्यंजनस्य योऽन्तर्गतः स्पर्शविशेषस्तस्मिन्विषये प्रतीति रसावर्थ-प्रतीतिस्त्वगिन्द्रियबुद्धिः"

डॉ० नगेन्द्र जी 'तदिष्टभावलीलानुवर्तनम्' की ओर धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, हिन्दी अनुशीलन में संकेत कर चुके हैं ।

"शब्दार्थ" का परस्पर आलिगन होना ('अर्धनारीश्वर' की परिकल्पना) मूलतः कला एवं सौन्दर्य भोग की सर्वोच्च कल्पना है । भोक्ता भोग्य के स्वरूप में विगलित होकर तन्मयीभूत दशा में अपने स्वरूप का विसर्जन कर दे, यही आस्वादन की उत्कृष्टता है । अर्ध-नारीश्वर की भी यही कल्पना है । अर्थ में वाणी विलास का विलयन ही अर्धनारीश्वर की कल्पना है—

"अर्थशम्भुः शिवा वाणी या रुद्रोऽर्थो अक्षरो सोमा" उक्तियाँ इसी को व्यंजित करती है । कालिदास ने 'वागर्थविव सम्पृक्तौ' के माध्यम से यही स्पष्ट किया है । डॉ० वी० राघवन् से 'भोजाज श्रृंगार प्रकाश' की पाद टिप्पणी में इस तथ्य पर अत्यधिक विदग्धतापूर्वक प्रकाश डालते हुए बताया है—

Kalidas is charmed with this idea. He says in his 'कुमार सम्भव 'तगथमिव भारत्या सुतयायोक्तुमर्हसि' and Mm. prof. S. Kuppu-Swami Sastri loves to dwell on this passage and to speak of the birth of 'रस-स्कन्ध' as a result of the union of शब्द-पार्वती and अर्थ परमेश्वर' Since Ras a ıs अवाच्य the poem K. S. (कुमार सम्भवम्) Stops with the marriage of शब्द and अर्थ leaving 'रस-स्कन्द', & birth to be suggested.[1]

आचार्य भट्टनायक भी रस की व्याख्या भोग व्यापार से ही करते हैं। साधारणीकरण भोग-व्यापार की अनिवार्यता है। किन्तु, सामान्य-भोग व्यापार से प्राप्त होने वाले 'आनन्द' से भिन्न कवि की रमणीक कल्पना सृष्टि एवं अलंकार, गुण, रीति, पाक, वक्रता, औचित्य लक्षणा एवं व्यंजना, व्यापार से सिद्ध कलात्मक सोन्दर्य के आस्वाद की विलक्षणता को स्पष्ट करने के लिए रज एवं तम के अनुवेध (उद्रेक) एवं सत्त्व से स्फूर्त स्वयं प्रकाश तथा विश्रान्ति रूप आनन्द के भोग को वे रसास्वादन की संज्ञा देते हैं। कला का आस्वाद 'स्वयं प्रकाश' एवं 'विश्रान्ति रूप' कलात्मक विलक्षणता के ही कारण है। काव्य के अनुभवों की प्रतीति इसीलिए न यथार्थपरक है, न विशुद्ध काल्पनिक। प्रकारान्तर से वह प्रतीति का परामर्श है। स्व-पर निरपेक्ष कलात्मक वासना का भोग ही काव्य रस है।

दूसरी ओर, योग व्यापार निवृत्ति मूलक है। उसका आलम्बन ईश्वर है। समस्त रागों एवं वासनाओं से निवृत्ति वैराग्य एवं संगम से आती है। वहाँ हठात् प्रयासपूर्वक वासनाओं का निरोध करके निरुद्ध भूमि निर्मित की जाती हैं। काव्य में साधारणीकरण की दशा योग की निरुद्ध भूमि जैसी लगती है, किन्तु यह काव्य भोग के कलात्मक प्रवृत्ति से उत्पन्न एक नैसर्गिक प्रक्रिया है। साधारणीकृत दशा भोग की नैसर्गिक प्रक्रिया का स्वभाव है। सौन्दर्य सृष्टि के मानसी भोग से और सामान्य भोग से इसकी स्थिति थोड़ी विलक्षण हो जाती है—फिर भी, वह सहृदय का सौन्दर्य विषयक मानसी भोग ही है।

समाधि में लीन साधक के चित्त पर ब्रह्म के प्रतिबिम्ब की छाया से आनन्दानुगत समाधि उत्पन्न होती है। 'साधक' उसका साक्षात्कार नहीं करता अपितु वह उसके बिम्ब से उद्रिक्त होता है। मानस में तुलसी ने सुतीक्ष्ण प्रसंग में स्पष्ट किया है—

---

१. शृंगार प्रकाश, डॉ० वी० राघवन, पृ० १०३, पाद टिप्पणी

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यानजनित सुख पावा।
भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयं चतुर्भुज रूप दिखावा।
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। विकल हीन मनि फनिधर जैसे।

किन्तु, काव्य में हमारी ही वासना का प्रत्यावर्तन होता है। यह प्रत्यावर्तन 'स्मृति' व्यापार से भिन्न है। स्मृति 'स्व' 'पर' अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन (ज्ञान) रूप है किन्तु वासना का यह अप्रत्यावर्तन संसक्तिरहित निरपेक्ष भोग रूप है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के सन्दर्भ को दार्शनिकता की ओर मोड़ा है। वे व्यंजना-व्यापार के समर्थक शैवाद्वैत मतावलम्बी थे। उन्होंने तीन व्यापारों से साधारणीकरण एवं आस्वादन व्यापार के बीच अभिन्नता सिद्ध करते हुए उसकी अनूभूति के लिए 'संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते' पद का प्रयोग किया—

१. व्यंजना व्यापार में वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ क्रम की सिद्धि के लिए;
२. असंलक्ष्य क्रमध्वनि रूप रस की सिद्धि के लिए;
३. 'शैवागम' अद्वैत की सिद्धि के लिए; जिसके अन्तर्गत प्रकृति या कला पुरुष के साथ अद्वैत भाव से रत रहती है।' 'साधारणीकरण' सांख्यमत के अनुसार पुरुष का भोग है और यह भोग प्रकृति (रज, तम, सत्त्व) के तिरोधान होने से होता है। किन्तु शैवागम में, पुरुष एवं प्रकृति अद्वैत भाव से सृष्टि रस का पान करते हैं। वे अविकारी एवं विकारी समान रूप, समान धर्म एवं समान स्वभाव से है। अतः साधारणीकरण, स्वसंवेदन व्यापार एवं उसका आस्वादन व्यापार तीनों अभिन्न हैं।

आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्त के शब्दों के अनुक्रम में 'ब्रह्मस्वादमिवानुभावयन' की संगति के जिन तर्कों को पुरस्कृत किया है, वे अन्ततया 'कलात्मक आस्वाद' के प्रकृत स्वभावगत योगपरक वैष्टिय्मूलक ही हैं। कलात्मक आस्वादन को मधुमती भूमिका बताना उसके साथ अन्याय है।

इस प्रकार, आचार्य भट्टनायक का मत मूलतः कलात्मक आस्वाद के भोग पक्ष को अधिक स्पष्टता से व्यक्त करता है। अभिनव गुप्त ने 'स्व वासना के संवाद सिद्धान्त' अर्थात् 'वासना के निरपेक्ष प्रत्यावर्तन सिद्धान्त' को स्पष्ट किया है किन्तु दार्शनिक संगति देने के लोभ को न संवरित कर सकने के कारण, इसे आध्यात्मिकता के निकट पहुँचा दिया है। आचार्य मम्मट कविराज विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने उसे परम्परा से थोड़ा भिन्न हटकर विवेचित किया।

रस की सुख दुःखात्मकता

आचार्य भरत कृत नाट्यशास्त्र में इस सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रमात्मकता मिलती हैं। परवर्ती आचार्यों ने कहीं भ्रम निराकरण के रूप में, कहीं पूर्वमत की स्वीकृति रूप में और कहीं खण्डन या संशोधन रूप में इस सम्बन्ध में अपने विचारों को रखा है।

आचार्य भरत रसास्वाद के स्वभाव के सम्बन्ध में इस प्रकार की अपनी टिप्पणियाँ देते हैं—

१. 'आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हृर्षादींश्चात्तिगच्छन्ति'

२. सोऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःख समन्वितः।
सोऽङ्गाद्यामिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥१।११२॥

३. व्यंजनौषधिसंयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत्।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥

इस सन्दर्भ में व्यंजन रस एवं पानक रस (पाणक न्याय) के आस्वाद का दृष्टान्त मिलता है।

४. स्थाय्येव रसः

१. आचार्य भरत के प्रथम वाक्य में भ्रमात्मक शब्द 'हर्षादीन्' शब्द है। इसके कई अर्थ निकाले जा सकते हैं—

१. हर्षभाव तथा उसके साथ अन्य आनन्दमूलक आस्वाद

२. हर्ष, शोक, विस्मायादि

इसको स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने बताया है—

"अन्ये तु आदि शब्देन शोकादीनामत्र संग्रहः। स च न युक्तः। सामाजिकानां हि हर्षफलं हि नाट्यम्।"

२. लोक स्वभाव के अनुरूप नाट्य में भी 'सुख दुःखात्मकता' की स्थिति आती है। इस वाक्य का अर्थ यह भी लगाया जा सकता है कि नाट्य का आस्वादन सुख दुःखात्मक है। यह अभिप्राय भरत के मत के प्रतिकूल है, क्योंकि नाट्य 'भवन्' व्यापार न होकर 'भावन' व्यापार है। वह लोक का अनुकरण नहीं लोकवृत्त की सजातीय वृत्तियों द्वारा अनुकरण है। वह विशिष्टमूलक न होकर सामान्यमूलक है। वह लोक की सामान्य सुख दुःखात्मकता का अनुकरण नहीं है, अतः भूतात्मक सुख-दुःख न होने के कारण नाट्य फल सुख दुःखात्मक नहीं है।

३. आचार्य भरत ने 'पानक रस' एवं 'व्यंजन रस' से रसास्वादन की प्रक्रिया को उपमित करते हुए काव्य रस के स्वरूप को रसनास्वाद के माध्यम से स्पष्ट

किया है। आचार्य रुद्रट ने भरत के इस दृष्टान्त को प्रमाण मानते हुए कहा है—

"रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनां इवोक्तमाचार्यैः"

अर्थात् मधुर, तिक्त, काषायादि रसनास्वादों की भाँति रस के आस्वाद को आचार्यों (भरतादि) ने बताया है। प्रपाणक रस भी है, और न्याय भी। यह दृष्टान्त केवल रस प्रक्रिया को सुगमतापूर्वक समझाने के लिए है। यही स्थिति 'व्यंजन रस' की भी है। अतः रसना के आस्वाद से रसास्वाद की तुलना की कोई संगति नहीं है।

४. स्थायी भाव ही क्या रस हैं, यह एक विवादास्पाद स्थिति है। आचार्य भरत के ही साक्ष्य पर नाट्य लक्षणकारों में धनिक-धनंजय एवं रामचन्द्र-गुणचन्द स्थायी भाव को ही रस मानते हैं।

आचार्य धनिक-धनंजय कहते हैं—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकै व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसस्मृतः॥

रामचन्द्र गुणचन्द्र कहते हैं—

"चित्तवृत्तिरूपः स्थायीभावो रसः।"

स्थायीभाव रस नहीं है। रस अर्थ के माध्यम से सहृदय के हृदय में सनातन वासना के रूप में संचित् स्थायीभाव का आस्वादन व्यापार के रूप में जागरण, रस रूप में रसनीय तथा चित्तैकदशा रूप में आस्वादन-काल तक व्याप्ति इसका लक्षण है। 'स्थायीभाव' मात्र कह देने से रस की अखंडित-भावना आस्वाद रूप न हो सकेगी और वह सुखात्मक दुःखात्मक केवल इन दो कोटियों तक स्थिर न रहकर प्रत्येक रस को प्रकृति के अनुसार आठ कोटियों में विभक्त होगी, इसीलिए परवर्ती आचार्यों ने रस को स्थायी विलक्षण माना।

आचार्य अभिनवगुप्त भरत का विवेचन करते हुए उनके मन्तव्य को बराबर स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार भरत के 'शुष्क काष्ठमिवाग्निना' एवं 'सामान्य-गुण योग' से रस की निष्पत्ति के अनुसार साधारणीकरण प्रक्रिया के अनुक्रम में होने के कारण वह आस्वादनमूलक है। यह आस्वादन शब्द आनन्द का पयार्य है।

रसास्वाद आदन्दमूलक है, इसके चार अनुक्रम प्राप्त हैं—

१. क्या रसानुभूति लोकात्मक विषयों की तृप्ति से मिलने वाले ऐन्द्रिक सुख की भाँति हैं।
२. क्या आध्यात्मिक अनुभव है, जो आत्मिक तृप्ति का पर्यायवाची है
३. शुद्ध कलात्मक आनन्द जो 'चमत्कृति' शब्द से अभिहित है।

४. काव्यास्वाद जो सबसे विलक्षण है।

आचार्य भरत के औषधि एवं व्यंजन रस के दृष्टान्तों का भी उल्लेख किया जा चुका है। आचार्य भट्टलोल्लट की अनुकृति में इस प्रकार की व्यंजना अवश्य है कि अनुकार्य के लोकात्मक चरित्रों के अनुकृति-रूप होने के कारण रस का स्वभाव लोकात्मक होना चाहिए किन्तु पर्याप्त साक्ष्यों के अभाव में इस प्रकार का निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है। आचार्यों में किसी ने भी काव्यास्वाद को ऐन्द्रिक तृप्ति से अभिन्न नहीं बताया।

काव्य रस को 'आत्मिक आनन्द' का पयार्य मानने वालों का एक वर्ग अवश्य मिलता है। काव्य विवेक में महिमभट्ट अपने पूर्ववर्तियों के दो श्लोकों द्वारा इसकी ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

पाठ्यादथध्रुवागानात् ततः सम्पूरिते रसे।
तदास्वादभरैकाग्रो हृष्यत्यन्तुर्मुखः क्षणम्॥
ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितौ निजः।
व्यंज्यते ह्लादनिष्यन्दो येन तृप्यन्ति योगिनः॥

अग्निपुराणकार भी इसी को स्वीकार करते हुए बताता है—

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभु।
वेदान्तेषु वदन्येकं चैतन्यं ज्योतिरीस्वरमं॥
आनन्दसहजस्तस्य व्यंज्यते स कदाचन।
व्यक्तिस्सा तस्य चैतन्य चमत्कार रसाह्वया॥

आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में एक स्थल पर आत्मचैतन्य से जुड़े आनन्द की चर्वणा को ही रस माना है—

प्राङ् निविष्ट रत्यादि वासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्द चर्वणव्यापारो रसनीय रूपो रसः।

अभिनव भारती में भी इसी मत को पुष्ट किया गया है—

अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते तत्र का दुःखाशंका केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादि वासनाव्यापारस्तदुद्बोधने चाभिनयादि व्यापारः।

काव्यानुभव या आनन्द आध्यात्मिक आनन्द नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त इस तथ्य से भलीभाँति परिचित और स्थल-स्थल पर इन कथनों के बावजूद भी उसकी आनन्दानुभूति को आध्यात्मिक आनन्दानुभूति से भिन्न करते चलते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ मिथ्याज्ञान के निरसन से उत्पन्न आनन्द को रसास्वाद की संज्ञा देते हैं—

"अयं हि लोकोत्तरस्य काव्य व्यापारस्य महिमा। यत्प्रयोज्या अमरणीया अपि शोकादयः पदार्थं आह्लादमलौकिकं जनयति।"

इसके बावजूद भी आचार्यों ने काव्य के आस्वाद को आध्यमिक आस्वाद से भिन्न माना है। योग द्वारा या अन्य उपायों द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार विषयक आनन्द से काव्यानन्द की कोई तुलना नहीं है। साधारणीकरण प्रकरण में इस तथ्य को भलीभाँति स्पष्ट किया जा चुका है कि 'काव्यानन्द' एवं 'ब्रह्मानन्द' दोनों एक नहीं है।[1]

काव्य के आस्वाद को ब्रह्मानन्द से भिन्न माना गया है। आचार्य भट्टनायक एवं अभिनव गुप्त के सबसे प्रामाणिक विवेचक मम्मट भट्टनायक के सन्दर्भ में "परमब्रह्मस्वादसंविधेन" एवं अभिनव गुप्त के सन्दर्भ में—"ब्रह्मस्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गादिको रसः" का उल्लेख करते हैं। दोनों सन्दर्भों में 'काव्यानन्द' ब्रह्मानन्द का पर्याय नहीं वरन् "उसके सदृश" उत्पत्ति प्रक्रिया के कारण अपने कुछ लक्षणों द्वारा ब्रह्मास्वाद की समता रखता है।

संस्कृत के कई लक्षणकारों ने काव्य से उत्पन्न होने वाले 'प्रीति' एवं 'चमत्कृति' शब्दों का उल्लेख किया है। 'चमत्' धातु का 'चमचमाने' या 'चकाचौंध' करने के अर्थ में प्रयोग किया जाता है, काव्य चमत्कृत करता है। एक क्षण के लिए सामान्य लोकभूमि से उठाकर चित्त को अपने कार्यों द्वारा काव्य चमत्कृत या संभ्रमित करता है। इस चमत्कार या सम्भ्रम का मूल हेतु काव्य रचना का कल्पना एवं कला व्यापार है। काव्य की विलक्षणता इसी में है कि वहाँ मिथ्या और असत् व्यापार से 'चमत्कार' जैसे तत्त्व की उत्पत्ति होती है—

तदेवं विभावादीनां हेत्वादीनां च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्यलोकविषयतया च स्वरूपभेदे विषयभेदे चावस्थिते सत्येकत्वासिद्धेर्यदा विभावादिभिर्यात्रेषु रत्यादिवसत्येष्वेव प्रतीतिरूपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात्.......तत्प्रतीति परामर्श एव च रसास्वादः।"[2]

विभावादि के असत्य होते हुए भी कलात्मक विलक्षणता से उत्पन्न आस्वाद प्रामाणिक है। वह आस्वाद न लोकात्मक है, न आध्यात्मिक है अपितु दोनों से भिन्न एवं विलक्षण शुद्ध कलात्मक है और इसीलिए उसे चमत्कृति, चमत्कारकारी आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। आचार्य कुन्तक इस 'चमत्कार'

---

१. विशेष के लिए देखिये—रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र, डॉ० निर्मला-जैन, पृ० ६४ से ७४ तक

२. व्यक्ति विवेक, प्रो० रेवा प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ७४

को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"चर्तुवर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्यतद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तरचमत्कारो वितन्यते ।"

यह 'अन्तश्चमत्कार' काव्यामृत स्वरूप रस से व्यंजित होता है जिसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—चमत्कारो वितन्यते, चमत्कृतिर्विस्तार्यते ह्लादः पुनः पुनः क्रियते । केन काव्यामृत रसेन ।

अन्तश्चमत्कार, चमत्कार, चमत्कृति, प्रीति...आदि शब्द आस्वाद के पर्यायवाची हैं, और प्रकारान्तर भाव से काव्य से उत्पन्न होने वाले 'आनन्द' के पर्यायवाची शब्द के रूप में हैं । काव्य के वस्तुपरक विवेचक भामह, दण्डी, रुद्रट, उद्भट, कुन्तक इसी का समर्थन करते हैं । इस चमत्कृति या चमत्कार शब्द का एक आध्यात्मिक आनन्द जैसा अर्थ निकाला गया है, इसके प्रकाश में अभिनव गुप्त "आनन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्कारापर पयार्यः", मम्मट "लोकोत्तर चमत्कार प्राणः" अग्नि पुराण "चैतन्य चमत्कार" आदि पदों से उसके स्वभाव को स्पष्ट करते हैं । इस संदर्भ में यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि आनन्दवर्धन 'चमत्कार' का प्रयोग कलात्मक आस्वाद के ही अर्थ में करते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि काव्यास्वाद की प्रकृति का आध्यात्मीकरण भट्टलोल्लट या अभिनव गुप्त से शुरू होता है ।

इस कलात्मक आस्वाद के लिए इस प्रकार 'अन्तश्चमत्कृति' या कलाजन्य आनन्दास्वाद शब्द ही उपयुक्त है । काव्य में यह 'अर्थ रस' है एवं सहृदय में 'आस्वादनस्वरूप रस' । अर्थ रस वस्तु परक चमत्कृति (रसाननन्द) एवं आस्वादनस्वरूप रस विषयिपरक रस है । विषयिपरक रस ही काव्य का मूल प्रयोजन है, वही काव्यात्मा है, और काव्य की सार्थकता भी उसी के लिए है । इस प्रकार रस की सार्थकता का आधार काव्य का पाठक ही है ।

इससे भिन्न अनेक आचार्यों ने रस को सुख दुःखात्मक माना है । यह मत सम्भवतया 'स्थ्यायेव रसः' मतावलम्बियों का है । आचार्य अभिनव गुप्त ने 'सांख्यमतावलम्बी किसी आचार्य मत का उल्लेख किया है, जो रस को सुख दुःखात्मक मानते हैं—

"येन त्वम्यधायि सुख दुःख जननशक्तियुक्ता विषयसामग्री—वाह्यैव सांख्यदृशा सुख दुःख स्वभावो रसः ।"

आचार्य वामन रस को सुख दुःखात्मक मानते हैं—

करुण प्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुख दुःखयोः ।
यथाऽनुभवतः सिद्धः तथैवोज प्रसादतः ।।

अर्थात् "करुणा से सम्बन्धित नाटकों को देखने पर जिस प्रकार सुख दुःखात्मकता का अनुभव होता है, उसी प्रकार सहृदय जनों के लिए ओज तथा प्रसाद के मिश्रण का अनुभव होता है ।

डॉ० वी० राघवन् ने "भोजाज श्रृङ्गार प्रकाश' भाग १ के पृष्ठ ४७१ पर आचार्य रुद्रट की 'रस कलिका' नामक ग्रंथ का उल्लेख किया है, जिसमें इसी तथ्य की स्वीकृति मिलती है—

रसस्य दुख दुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते

आचार्य भोज रस की सुख दुःखात्मकता का समर्थन करते हुए कहते हैं—

'रसा हि सुख दुःखावस्थारूपा'

'दश रूपक' में धनिक-धनंजय ने यद्यपि आनन्दात्मकता को स्वीकार किया है, फिर भी, इसका सर्वथा निषेध नहीं किया है—

"तादृश एवासौ आनन्दः सुखदुःखात्मकः"

मधुसूदन सरस्वती भगवद्भक्ति रसायन के अन्तर्गत इसमें मात्र सत्त्वोद्रेक ही नहीं मानते। सभी लोकात्मक रस उनके अनुसार रज एवं तम से मिश्रित होने के कारण सुखदुःखात्मक हैं—

"सत्त्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखरूपत्वेऽपि रजस्तमोऽशं मिश्रणात् तारतम्यम् अवगन्तव्यम् । अतो न सर्वेषु रसेषु तारतम्य सुखानुभवः ।"

इस परम्परा के सबसे प्रबल समर्थक आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र हैं। वे नौ रसों में श्रृङ्गार, हास्य, अद्भुत एवं शान्त को सुखात्मक एवं शेष को दुःखात्मक स्वीकार करते हैं। इस सन्दर्भ में वे कहते हैं—

"श्रृङ्गारहास्यवीरअद्भुतशान्ता सुखात्मान । अपरे पुनरनिष्ठ विभावाद्युपनीतात्मानः करुणरौद्र वीभत्सभयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः ।"

इसके लिए उनके तर्क इस प्रकार हैं—

१. भयानकादि रस अभिनय में क्लेशदशा को उत्पन्न करते हुए पाठकों में घबराहट उत्पन्न करते हैं, अतः उनको सुखात्मक कैसे माना जा सकता है।

२. कवि एवं नट जनों का शक्ति एवं कौशल से उत्पन्न चमत्कार के भ्रम में आकर बुद्धिमान सहृदय भ्रमवश करुणादि रसों में आनन्दरूपता को समझने लगते हैं, अन्यथा सीताहरण, द्रौपदी का चीर हरण, हरिश्चन्द्र का चाण्डाल के यहाँ दासता, रोहिताश्व मरण आदि के अभिनय दृश्य दर्शक को सुख का आस्वाद कैसे करा सकते हैं?

३. अनुकार्य के विलापादियुक्त होने के कारण करुण आनन्दमूलक नहीं हो सकता क्योंकि यदि विलाप नहीं है तो अनुकरण की वास्तविकता नहीं है और यदि इसे सुखात्मक मान लिया जाए तो विलापादि नहीं होंगे ।

४. इष्ट जनों के विनाश से दुखियों के सामने करुणादिक का वर्णन किए जाने अथवा अभिनय किए जाने पर जो दुखास्वाद है, वह वास्तव में दुःखास्वाद है । दुखी व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की दुःख वार्ता से सान्त्वना रूप सुख का अनुभव करता है, किन्तु वह दुःख ही है । अतः करुणादि का आस्वाद सान्त्वनामूलक होने के कारण सुख जैसा लगता है, मूलतः वह दुखात्मक ही है ।

इन तर्कों से स्पष्ट है कि रस सुख दुःखात्मक है ।

रस के इन सुख दुखात्मक विवेचकों की तीन श्रेणियाँ हैं—

१. वे विवेचक जो सम्पूर्ण रसों की सुख दुःखात्मकता को स्वीकार करते हैं ।

२. जो करुण, रौद्र, वीभत्स एवं भयानक की दुःखात्मकता एवं शेष की सुखात्मकता को स्वीकार करते हैं ।

३. जो शृङ्गारादि को सुखात्मक एवं करुणादि ४ रसों को क्रमशः दुःख-सुखात्मक स्वीकार करते हैं ।

सुख दुःखात्मकता का यह सिद्धान्त मूलत एकांगी है । यदि रस सुख-दुःखात्मक होंगे तो कलास्वाद की अखण्डता, सत्त्वोद्रेकता, स्वप्रकाशात्मकता आदि सिद्ध मान्यताएँ नष्ट हो जाएँगी और सभी स्थायीभावों के स्वभाव प्रकाशित रूप से आस्वादयिता बुद्धि को आच्छन्न करके विकार ग्रस्त कर देगी । स्थायीभावों के आठ स्वभाव हैं—

१. रति—सुखात्मक मनस् द्रवता

२. हास—मन का विकास

३. शोक—मनोविकलता

४. विस्मय—चित्त विस्तार

५. क्रोध—तीक्ष्णता

६. उत्साह—पौरुषेय साहसिकता या दीप्ति

७. जुगुप्सा—व्याकुलता

८. भय—संकोच

मूलतः राग पक्ष में द्रवता, दीप्ति, विस्तार एवं विकास तथा अ-राग पक्ष में

विकलता, तीक्ष्णता, व्याकुलता एवं संकोच उत्पन्न होते हैं ।

सामान्य रूप से कलात्मक मनोदशा को व्यंजित करने वाली ४ चित्त भूमियों को चर्चा धनिक-धनंजय ने की है--

तस्य च सामान्यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियत विभावादिकारणजन्येन सम्भेदेन चतुंधा चित्तभूमयो भवन्ति । तद्यथा—शृङ्गारे विकासः वीरे विस्तरः बीभत्से क्षोभः रौद्रे विक्षेपः ।

यदि स्थायीभाव को ही रस मान लिया जाए तो बीभत्स से क्षोभात्मक, रौद्र से विक्षेपात्मक, भय से संकोचात्मक, शोक से विकलता का अनुभव होगा — जो अभिनय काल में अप्राप्य है । अतः यदि स्थायी को रस मान लेंगे तो रस की राग एवं अ-राग जैसी मनोदशा स्वीकार करनी पड़ेगी ।

सुख दुःखवादियों के विरोध में कुछ और भी तर्क दिए जाते हैं, जो इस प्रकार से है—

१. यह मानव स्वभाव है कि वह दुःख से मुक्ति चाहता है और सुख की जीवन में बार-बार अनेकमुखी आवृत्ति के लिए तत्पर रहता है । यदि काव्य एवं नाट्य दुःखात्मक होते तो मानव बार-बार उनके दर्शन एवं पाठ की इच्छा क्यों करता ?

२. सामान्यतया यह कहा जाता है कि सहृदयों में करुणादि के प्रसंग में स्तम्भ एवं अश्रुपात आदि के दर्शन दुःखात्मकता के सूचक हैं । मूलतः यह अश्रुपात स्तम्भादि सात्त्विक दशा है और यह काव्य के अध्ययन से सहृदयों में तब उत्पन्न होती है, जब वे वैयक्तिक राग द्वेष से ऊपर उठकर सत्त्वस्थ हो जाते हैं । सत्त्वस्थ होने की स्थिति लोकात्मक सुख-दुःखात्मकता से भिन्न है और इस दशा में उत्पन्न अश्रुपात् आदि हर्षादि से सम्बन्धित हैं । पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी को लोकास्वाद से भिन्न "भावना के आस्वाद" का नाम दिया है । रस भावना का आस्वाद होने के कारण लोकास्वाद की सुख दुःखात्मकता से भिन्न है । इसीलिए करुणादि में अश्रुपात आनन्द के कारण होते हैं, न कि लोकात्मक दुःख के कारण । धनिक-धनंजय कहते हैं—

"अश्रुपातादयश्चेतिवर्णनाकर्णनेन, विनिपातितेषु लौकिकवैकलव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणांदु प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते···।

वैसे कथा के वर्णन को सुनने पर सहृदय सामाजिक दुःख का अनुभव करके उसी प्रकार आँसू गिरते हैं । अतः सहृदयों के द्वारा ऐसे वर्णनों को सुनकर आँसू

गिराना रस या आनन्द का विरोधी नहीं है।"[1]

इससे एक तथ्य का समाधान नहीं होता। आचार्य अभिनव गुप्त ने इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उठाया है कि हास्य रस एवं करुण रस के आस्वादन एक रूप नहीं हैं। दोनों में भिन्नता का अनुभव होता है। उनके अनुसार शृङ्गार का आस्वादन आनन्दमूलक है किन्तु करुण रस के आस्वादन को केवल आस्वादन-मूलक समझना चाहिए—

"तस्मात् करुण इति शोकस्य सर्वसाधारणत्वेन प्राक् उक्त्या आस्वादनस्य संज्ञा"

रामचन्द्र गुणचन्द्र रसों के जब दो भेद करते हैं तो उनके भी मन में इसी प्रकार की स्थिति है। हिन्दी में आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल रस मीमांसा में इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं। इस स्थिति को मान लेने पर रस का 'महा-रसात्मक अखंड स्वरूप' छिन्न-भिन्न हो जाएगा। कलात्मक आस्वाद खंडित अनुभव नहीं है। मूलतः रस एक है—

राग	अ-राग
शृंगार	रौद्र
हास्य	करुण
वीर	भयानक
अद्भुत	वीभत्स

इसमें रसों की दो श्रेणियाँ बनती हैं—अविकारी या मूलरस विकारी या विकसित या विकृत रूप में निष्पन्न रस। इन्हें शुद्ध एवं मिश्रित कहा जा सकता है—

अविकारी

राग	अ-राग
शृङ्गार	वीभत्स
वीर	रौद्र

इस शृंगार से हास्य एवं वीर से अद्भुत मिश्रित रस निकला एवं रौद्र से करुण तथा वीभत्स से भयानक रस निष्पन्न हुए। चित्त विकास एवं विस्तार का एक वर्ग है, तथा क्षोभ एवं विक्षेप का दूसरा वर्ग जिन्हें क्रमशः राग एवं अ-राग की संज्ञा दी जाती है। यहाँ 'अराग' 'राग' का प्रतिपक्षी एवं विपरीत स्वभाव-युक्त नहीं है।

---

१. दशरूपक; चतुर्थ प्रकाश : डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, पृ० ३३०

अग्निपुराण में इसी राग को 'रति' का नाम दिया गया है, इसी का नाम अभिमान (स्वात्म की भोगवृत्ति : मैं ही एक मात्र भोक्ता हूँ, पुरुष का इस प्रकार का भाव) और इस अभिमान की उत्पत्ति अहंकार से बताई है। इस क्रम को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—
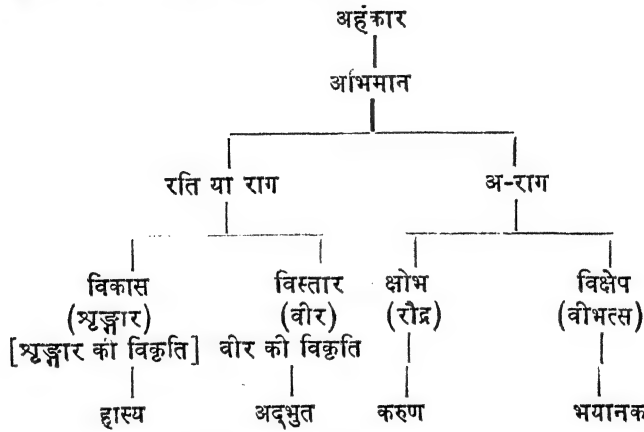
इस अहंकार सिद्धान्त को आचार्य अभिनव गुप्त नहीं मानते, वे शान्त रस के विकार से शेष आठ रसों के निष्पत्ति विषयक सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।

जैसा कि, प्रारम्भ में कहा जा चुका है काव्य भोग व्यापार है, और सहृदय का लोकात्मक अहं कलात्मक उपायों से विसर्जित होकर उसका भोग करता है। रागात्मक एवं अरागात्मक विरोधी और विपरीतार्थक नहीं हैं। अरागात्मक का अर्थ यह नहीं है कि राग नहीं है, या राग जैसा नहीं है, इसका अर्थ है, रागात्मक होता हुआ भी उसका स्वभाव वह नहीं है जो राग का अर्थ है। वह आस्वादन का ही एक रूप है। वह मात्र आस्वादन स्वरूप नहीं है।

जैसा कि कहा गया है कि साधारणीकरण की प्रक्रिया में सहृदय के हृदय का स्थायीभाव प्रत्यावर्तित होकर स्थायी विलक्षण रूप में आस्वादन रूप हो उठता है।

इस सिद्धान्त से स्थायी की प्रत्यावर्तित अवस्था—स्व, पर, हेतु, कार्य, ज्ञाप्य रूपों से भिन्न होती है। यह प्रत्यावर्तित स्थायीभाव लोक का न होने के कारण सुख दुःखात्मकता से ऊपर उठ जाता है, किन्तु आठ रसों में से किसी एक का प्रसंग होने के कारण चित्त विकास, विस्तार, विक्षोभ एवं विक्षेप की प्रकृति कहीं न कहीं मन को यथा प्रसंग आवेशित किए रहती है। यह प्रसंगावेश

आस्वादन के लिए विघ्नकारी नहीं है, क्योंकि आस्वाद का सहकारी है। काव्य का आनन्दमूलक आस्वादन 'फल' की भाँति है और चित्तभूमियाँ आवरण की भाँति। रस रूपी आनन्द फल को स्वर्णपात्र में रख कर दें या पत्ते पर, फल के आस्वाद में अन्तर नहीं पड़ेगा अन्तर आधान मात्र का है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

१. शृङ्गार रस का आनन्द चित्त की विकास भूमि का आनन्द है।
२. वीर रस का आनन्द चित्त की विस्तार भूमि का आनन्द है।
३. वीभत्स रस का आनन्द चित्त की विक्षेप भूमि का आनन्द है।
४. रौद्र रस का आनन्द चित्त की विक्षोभ भूमि का आनन्द है।

अतः हास्य की विकास भूमि के आनन्द तथा करुण की विक्षोभ भूमि के आनन्द में दृष्टिगत होने वाली भिन्नता केवल आवरणगत है। तत्वतः 'आनन्द' ही काव्य रस का मूल स्वभाव है—और यह कलात्मक आस्वादन या आस्वाद रूप रस सर्वथा अखंडित है।

कवि कर्णपूर गोस्वामी ने अलंकार कौस्तुभ में रस के मूल धर्म को आनन्द ही माना है। अन्य रस मात्र इस आनन्द के उपाधि भेद या नाम भेद मात्र हैं—

रसस्य आनन्दधर्मत्वात् एकध्यम् भाव एव हि।
उपाधिभेदान्नवत्वं रत्यादयोपाद्याः।

●

वक्रोक्ति सिद्धांत का स्वरूप

वक्रोक्ति के इतिहास का संक्षिप्त परिचय प्रारम्भ में ही दिया जा चुका है। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन विरोधियों का उल्लेख किया है—

१. अभाववादी
२. लक्षणावादी
३. अनिर्वचनीयतावादी

ध्वनि की ही भाँति इन मतों का मूल सूत्र ध्वनि एवं उसके पूर्ववर्ती काल-खंडों में बिखरा पड़ा है। अभाववाद का परवर्ती रूप महिमभट्ट के व्यक्ति विवेक में मिलता है। ये अनुमानवादी थे। इनके पूर्ववर्ती व्यंजना के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते। लक्षणावाद के अन्तर्गत आलंकारिक आते हैं, जो वक्रोक्ति, समासोक्ति, आक्षेपादि अलंकारों में इसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। ध्वनि के तीसरे विरोधी रसवादी हैं। ध्वनि की स्थापना के बाद इन तीनों विरोधियों के मत प्रकाश में आये और इन्होंने स्वमत के अन्तर्गत ध्वनि का समाहार करते हुए, अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की। इसी क्रम में ये सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

१. अभाववाद—महिमभट्ट, प्रभाकरभट्ट, मुकुल भट्टादि
२. लक्षणावाद—आचार्य कुन्तक
३. भोगवाद—सहृदय दर्पण के रचयिता आचार्य भट्टनायक

आचार्य कुन्तक ने बड़े ही सुनियोजित ढंग से परम्परा विश्रुत शब्द वक्रोक्ति को आधार बनाकर ध्वनि समर्थकों का प्रत्युत्तर देने के लिए अपने सिद्धान्त का ढाँचा खड़ा किया। विवेचकों ने इनके मत को अलंकार का ही इतर पर्याय सिद्धान्त मात्र स्वीकार किया। श्री वी० राघवन कहते हैं—

The वक्रोक्ति theory is really an offshoot of Alankara school and nead not be separately reognised."[१]

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ ३८६

ध्वनि सिद्धान्त ने अलंकार के बढ़ते हुए जिस महत्त्व को समूल नष्ट करने की चेष्टा की थी, उसी को पुनः बचाने का कार्य आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त के माध्यम से किया।

आचार्य कुन्तक की मान्यता का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार है—शब्दार्थ का सौहित्य। वे वक्रता रूप काव्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्र कविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥[1]

इसमें निम्न तथ्यों की चर्चा है—

१. शब्दार्थ मिलकर काव्य बनते हैं।
२. यही वक्रता व्यापार है।
३. कवि व्यापार इसी से शोभित होता है।
४. इनके संयोग से काव्यबन्ध की रचना होती है।

वे स्वतः इस श्लोक पर टिप्पणी देते हुए कहते हैं—

शब्दार्थौ काव्यम्, वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौकाव्यम्। द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः। तेन यत्केषाञ्चिन्मतं कवि कौशलकल्पितकयनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति, केषाञ्चिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति, पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति। तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिवतैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते।

काव्य 'वाच्य तथा वाचक' दोनों के सम्मिलित भाव से होता है।

१. इस सम्बन्ध में गुण एवं काव्यपाकवादी केवल शब्द (वाच्य) को काव्य मानते हैं। उनके अनुसार काव्य का लक्ष्य है, कवि कल्पित कमनीयता की सूचना।
२. दूसरा अर्थवादिक का है, इसके अनुसार वाच्य (अर्थ व्यापार) ही काव्य है, और इस दृष्टि से रचना वैचित्र्य से उत्पन्न चमत्कृति ही केवल काव्य है।

शब्दार्थ के सम्मिलन भाव से पोषित वक्रता इन दोनों से भिन्न है, क्योंकि शब्दार्थ की काव्य में पृथक् सत्ता नहीं रहती। आस्वादुता एवं अस्तित्व दोनों दृष्टियों से "प्रतितिल तैल" न्याय से दोनों अभिन्न हैं, और इस अभिन्न भाव से सिद्ध वक्रता उभय आह्लादकारित्व रूप में व्यक्त होती है।

काव्य में यह वक्रता न शब्द के अभाव में प्रकट होती है, न अर्थ के अभाव

---

१. हिन्दी वक्रोति जीवित—१/७

में। यही नहीं, यह वाच्य दारिद्रय से भी नहीं उत्पन्न होती है। कवि प्रतिभा के उन्मेष से 'तुलाधृत' शब्दार्थ की रमणीकता वक्रता रूप में उत्पन्न होकर सहृदयों के लिए आनन्द का कारण है।

इन दोनों सिद्धान्तों (सौशब्द एवं अर्थवादी) के द्वारा आचार्य कुन्तक गुण एवं काव्य पाकादि शब्दवादियों (वामनादि) का खण्डन करते हैं। इन्हें परम्परा में नितान्तवादी कहा गया है। 'अर्थवादी' भी इसी प्रकार 'वाच्य' की चारुता का निषेध करने के कारण या अर्थ को प्रमुखतापूर्वक स्वीकृति देने के कारण वक्रता-वादी आचार्य कुन्तक द्वारा मान्य नहीं हैं।

इसके पश्चात् वे ध्वनिवादियों का खण्डन करते हैं—

प्रकाश स्वाभाव्यं विदधति न भावास्तमसि यत्।
तथानैते ते स्युर्यदि किल तथा तत्र न कथम्॥
गुणाध्यासाभ्यासव्यसन दृढ़ दीक्षागुरुगुणो।
रविव्यापारोऽयं किमथ सदृशं तस्य महसः॥

ध्वनि की सिद्धि के लिए आनन्दवर्धन ने 'घटप्रदीप न्याय' का आधार ग्रहण किया है। अर्थ या भाववासना प्राक्तन रूप में वर्तमान है, ध्वनि रूप दीप उन्हें केवल भासित कराता है, जैसे अंधकार में पूर्व वर्तमान वस्तु को प्रकाश आभासित करा देता है। यही स्फोट सिद्धान्त भी है। इस 'घट प्रदीप' तथा न्याय का खंडन करते हुए कुन्तक कहते हैं—

घटादि प्रकाश स्वरूप नहीं होते क्योंकि अंधकार में वे वैसे नहीं दिखाई पड़ते हैं। यदि वे स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं तो अंधकार में भी वैसे क्यों नहीं प्रतीत होते। मूलतः वस्तु में गुणों की प्रतीति कराने में प्रदीप प्रकाश संकुचित एवं सीमित है, अतः इस ध्वनि रूप संकुचित एवं सीमित व्यापार का त्याग करके, पदार्थों के अध्यास रूप (भ्रम रूप) गुणों को प्रगट करने वाले अभ्यास, व्यसन, दृढ़ दीक्षा के फलस्वरूप प्रबल गुणों से युक्त यह सूर्य (वक्रोक्ति व्यापार) सर्वथा समर्थ है। इस प्रबल-प्रखर सूर्य प्रकाश रूपी वक्रोक्ति सिद्धान्त की तुलना में घटप्रदीप न्याय से सिद्ध ध्वनि की टिमटिमाहट का अस्तित्व कैसा है ?

इस प्रकार, वक्रोक्तिकार एक ओर 'शब्दार्थ' के नितान्तवादियों का खण्डन करता है, पुनः दूसरी ओर घटप्रदीप न्यायवादी ध्वनिवादियों खण्डन करके उनके सिद्धान्त को संकुचित तथा संकीर्ण बताता है। उक्त श्लोक में सबसे महत्व-पूर्ण शब्द 'अध्यास' है। अध्यास का अर्थ मिथ्याज्ञान है। अभिनवगुप्त के अनु-सार 'आचार्य' शंकुक इसी अध्यास का आधार लेकर 'अनुमिति' की स्थापना करते हैं। यह मूलतः मिथ्या ज्ञान के लिए प्रयुक्त बौद्धों का शब्द है, जिसे बाद

में शंकराचार्य ने माया के सन्दर्भ में स्वीकार किया। पदार्थ का दिखाई पड़ने वाला नील-पीताभि गुण प्रकाशित करने वाले सूर्य का धर्म है न कि वस्तु का अपना धर्म। उसी प्रकार 'काव्य' का गुण वक्रता व्यापार से व्यंजित है। है वह अध्यास रूप किन्तु प्रमा है और प्रमा के रूप में वह गुण का मूल फल भी प्रदान करता है।

इस प्रकार, वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना के निमित्त 'शब्दार्थ' के समुचित संयोग को स्वीकार करता हुआ कुन्तक कहता है—

एतयोरन्तरं सहृदयहृदयसंवेद्यमिति तैरेव विचारणीयम्। तस्मात् स्थितमेतत्, न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं, नाप्यर्थस्येति।

× × ×

तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्। एवमवस्थापिते द्वयोः काव्यत्वे कदाचिदेकस्य मनाङ्मात्र न्यूनतायां सत्यां काव्यव्यवहारः प्रवर्ततेत्याह—सहिताविति सहितौ सहित भावेन साहित्यनावस्थितौ।

इसी को पुष्ट करता हुआ वह 'वक्रताविचित्रगुणालंकार सम्पदांपरस्परस्पर्धाधिरोहता' को काव्य का मूलाधार बनाता है—

समसर्वगुणोसन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥

समान, सर्वगुणों की संयुक्तता से सिद्ध सुहृद मित्रों की संगति की भाँति एक दूसरे के शोभा 'सम्पादक' शब्द एवं अर्थ काव्य हैं।

आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति के लिए प्रारम्भिक आधार आचार्य भामह ही हैं। भामह ने काव्यालंकार के प्रथम परिच्छेद में श्लोक संख्या १३ से १७ तक एवं अन्यत्र भी अपने इस मत को स्पष्ट किया है कि—

१. रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदितः

× × ×

२. रूपकादिमलङ्कारं वाह्यमाचक्षते परे

अर्थात्—प्रथम के अनुसार वाह्य गुणादि अलंकार के बिना शोभित नहीं होते और द्वितीय के अनुसार रूपकादि अलंकार वाह्य होते हैं, प्रकारान्तर से प्रथम के अनुसार काव्य का सौन्दर्य-अर्थ रचना से और दूसरे के अनुसार काव्य का सौन्दर्य सौशब्द रचना से होता है, ये दोनों सिद्धान्त अपूर्ण हैं। दोनों का खण्डन करते हुए भामह कहते हैं—

"शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः"

शब्द एवं अर्थ के अलंकार दोनों हमें अभीष्ट हैं, क्योंकि न नितान्त शब्द

और न नितान्त अर्थ से ही वाणी में सौन्दर्य उत्पन्न होता है—

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः ॥

अर्थात् 'नितान्तादि से (यह नितान्त केवल वाणी के लिए है किन्तु अर्थ से भी इसकी व्यंजना लग जाती है) वाणी में चारुता उत्पन्न नहीं होती । वक्र अभिधेय (अर्थ) एवं वक्रशब्दोक्ति का प्रयोग काव्यवाणी के लिए अलंकृति (सौन्दर्य) है ।

आचार्य कुन्तक की वक्रता की सिद्धि के लिए आचार्य भामह का यह सिद्धान्त मूलाधार है और उन्होंने भी इसे सिद्धांततः स्वीकार किया है । इस सिद्धांत के के साथ कुन्तक आचार्य आनन्दवर्धन की ध्वनि के आधार पर एक नवीन अवधारणा की कल्पना करते हैं—वह है अलंकार के साथ अलंकार्य का अस्तित्व । जिस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त में 'वाच्य एवं व्यंग्य' तत्त्वों का अस्तित्व है, ठीक उसी प्रकार आचार्य कुन्तक ने 'अलंकार एवं अलंकार्य' का आधार वक्रोक्ति-सिद्धि के लिए रखा ।

अलंकार तथा अलंकार्य की स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

"अलंकृतिरलङ्करणम् । अलंक्रियते ययेति विगृह्य । यच्चालंकार्यमलंकरणीयं वाचकरूपं वाच्यरूपञ्चं तदपि विवच्यते ।"

अलंकृति का अर्थ अलंकार है, जिसके द्वारा अलंकृत किया जाए और जो अलंकार द्वारा अलंकरणीय है, वह अलंकार है, और इस प्रकार दोनों में वाचक (अलंकार) एवं वाच्य (अलंकार) का सम्बन्ध है । इस प्रकार काव्य के दो तत्त्व हैं—

अलंकार
अलंकार्य (शब्द एवं अर्थ रूप)

ये दोनों भिन्न नहीं हैं । इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

"अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्यकाव्यता ॥"

अलंकार और अलंकार्य को अलग-अलग मानकर विवेचन उसकी स्पष्टता के लिए किया जाती है, वास्तव में वे अभिन्न हैं और उनसे अभिन्न काव्य को अलंकारयुक्त काव्य कहा जाता है ।

"अयमत्र परमार्थः । सालंकारस्यालंकरण सहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कवि कर्मत्वम् । तेनालंकृतस्य काव्यमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति"

अर्थात् अलंकार सहित सम्पूर्ण अवयव समुदाय की काव्यता ही कवि व्यापार (कर्म) है ।

आचार्य कुन्तक की अलंकार-अलंकार्य सम्बन्धी धारणा अपने में नितान्त स्पष्ट है । वे काव्य के समग्र सौन्दर्य को चाहे वह वर्ण से प्रबन्ध तक वाह्य रूप में हो या गुण से लेकर रस तक अन्तवर्ती तत्त्व के रूप में या लक्षणा, व्यंजनादि के रूप में अर्थगत हो, सभी इस अलंकार एवं अलंकार की सारणि में आ जाते हैं । मूलतः काव्य के दो भेद 'वाचक' एवं 'बाच्य' ध्वनि के 'वाच्य' एवं 'व्यंग्य' की भाँति विशिष्ट रूप में कल्पित हैं । काव्य का वह तत्त्व जो सौन्दर्य को व्यंजित करता है, कुन्तक के अनुसार वाचक है । इस प्रकार, शब्द, अर्थ, गुण, रीति, अलंकार रस (रसवत्, ऊर्ज्वस्वि, प्रेयस् एवं काव्य में व्यंजित अर्थरस) आदि सभी काव्य सौन्दर्य को व्यंजित करने के माध्यम मात्र हैं । यही अलंकृति या अलंकार हैं । यहीं, दूसरी समस्या उठती है, फिर वाच्य या काव्य का सौन्दर्य क्या है ! आचार्य कुन्तक उत्तर देते हैं; वह अलंकार्य है, अलंकार्य क्या है, आचार्य कुन्तक उत्तर देते हैं, काव्य का समग्र सौन्दर्य अर्थात् रस, गुण, अलंकार, रीति आदि काव्य के सौन्दर्य एवं अलंकार ।

वाचक = अलंकार या अलंकृति = रीति, गुण, अलंकार, रसादि,

वाच्य = अलंकार्य = रीति गुण, अलंकार, रसादि,

आचार्य आनन्दवर्धन ने अलंकार से अलंकार, अलंकार से वस्तु, अलंकार से रस या वस्तु से अलंकार, या वस्तु से वस्तु की कल्पना की है । ठीक उसी प्रकार, आचार्य कुन्तक परस्पर अभिव्यक्त करने वाले सौन्दर्य के साधनभूत एवं साध्यभूत तत्त्वों की सरणि की ओर संकेत करते हैं—

वाचकरूप रीति अलंकार > रीति, गुण, अलंकार रसादि अलंकार्य

वाचकरूप गुण अलंकार > रीति, गुण, अलंकार, रसादि अलंकार्य

वाचकरूप अलंकृति अलंकार > रीति, गुण, अलंकार रसादि अलंकार्य

वाचक रूप रसवत् आदि अलंकार > रीति, गुण, अलंकार रसादि अलंकार्य

इस प्रकार अलंकृति रूप अलंकार वाचक बनकर सौन्दर्य रूप अलंकार्य का हेतु बनता है । काव्य का लक्ष्य यद्यपि अलंकरणीय तत्त्व ही है किन्तु अलंकर्ता तत्त्व को उससे अभिन्न नहीं मान सकते—क्योंकि काव्य-भणिति (वाणी) ही उसका आधार है और भिन्नता केवल विश्लेषण के लिए की जाती है, मूलतः दोनों प्रकृत्या अभिन्न और परस्पर अलंकार एवं अलंकार्य में संक्रमित होने की क्षमता रखते हैं । इसी अभिन्नता को ध्यान में रखकर वे वक्रोक्ति को परिभाषित करते हुए बताते हैं—

उभावेतावलंकार्यौ तयो पुनरलंकृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणिति रुच्यते ।।

इस प्रकार, अलंकृति एवं अलंकार्य दोनों अभिन्न एवं परस्पर संक्रमणधर्मी हैं। इन दोनों की अभिन्नता एवं संक्रमणधर्मिता से सिद्ध वाक्य ही काव्य है। इस अलंकृति एवं अलंकार्य की अभिन्नता एवं संक्रमणधर्मिता रूप में निष्पन्न काव्य का मूल धर्म 'वक्रोक्ति' है। वही काव्यात्मा एवं उसका सबसे चैतन्य तत्त्व है। इस चैतन्य तत्त्व को "वैदग्ध्यभंगीभणिति" के नाम से पुकारा जा सकता है।

'वैदग्ध्यभंगीभणिति' को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्तक बताते हैं—

"वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी, वैदग्ध्य-भंगीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्ध भावः कविकर्मकौशलं तस्यभङ्गी विच्छित्तिः तया भणितिः। वैचित्र्याभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।"

प्रसिद्ध कथन से व्यतिरिक्त (भिन्न या विशिष्ट) विचित्र अभिधा (कथन, वर्णन) ही वक्रोक्ति है। वक्र का अर्थ उपचार वृत्ति से 'व्यतिरिक्त' एवं उक्ति का अर्थ है, काव्य वाणी। इस प्रकार वक्रोक्ति का अर्थ निकलता है—

पूर्ववर्ती किसी भी कवि के द्वारा कल्पित, कथित एवं अभिव्यक्त वाणी के वाह्य (अलंकृति) एवं आन्तरिक (अलंकार्य) सौन्दर्य से भिन्न प्रकार का विलास-पूर्ण काव्य वाक्य ही वक्रोक्ति है।

इस कथन के अनुसार रचनाकार की 'नित्य अपूर्वरचना विधायिनी' प्रतिभा के उन्मेष से कथित सद्यः नवीन भणिति ही वक्रता है।

इसी को स्पष्ट करते हुए कुन्तक कहते हैं—वैदग्ध्य अर्थात् विदग्धता अर्थात् कवि प्रतिभा से संस्कारित चातुर्य मण्डित कवि कर्म का कौशल एवं इस कौशल की भंगिमा अर्थात् सौन्दर्यातिशयता की भणिति या कथन या वाणीविलास ही वक्रोति है। इसी को स्पष्टतापूर्वक इस प्रकार रखा जा सकता है—

"कवि प्रतिभा से संस्कारित कवि कर्म कौशलजन्य वाणीविलास की सौंदर्य-तिशयता का नाम ही वक्रता है।"

आचार्य कुन्तक की इस परिभाषा में दो तत्त्वों का समावेश है—

१. अपूर्वनिर्माणसक्षमा या नित्यनूतनविधायिनी कवि प्रतिभा की अनि-वार्य हेतुभूतता
२. भंगिमापूर्ण या सौन्दर्यातिशायी कथन की अभिव्यक्ति

आचार्य कुन्तक के सिद्धान्त के ये दोनों पक्ष सर्वथा सुविचारित एवं काव्य रचना की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल हैं।

ध्वनि सिद्धान्त में 'वाच्य' का महत्त्व तिरस्कृत है, यद्यपि काव्य का आधार

होने के कारण आनन्दवर्धन उसे भी काव्यात्मा का ही अभिन्न अंग मानते हैं किन्तु काव्य में वह तिरस्कृत है। केवल, व्यंग्य का सौन्दर्य ही उनके अनुसार काव्य का मूल सौन्दर्य है, शायद इसीलिए अभिनवगुप्त वस्तु एवं अलंकार को व्यंग्य नहीं मानते। इनसे भिन्न आचार्य कुन्तक 'वाचक' एवं 'वाच्य' दोनों को समान महत्त्व देते हैं, क्योंकि रचना में दोनों 'तुलाधृतमिव' अस्तित्व प्राप्त करते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन काव्य प्रतिभा को महत्त्व अवश्य देते हैं किन्तु रचना-तत्त्व के साथ निरन्तर समान रूप से सहवर्ती तत्त्व के रूप में उसकी व्याख्या नहीं करते। आचार्य कुन्तक की यह सबसे बड़ी विशेषता है। सृजन के सार्थक 'सर्जक' और उसकी रचनात्मक प्रतिभा को वे काव्य या रचना के साथ निरंतर भाव से स्वीकार करते हैं। रचना प्रकारान्तर से कवि की प्रतिभा की सहज अभिव्यक्ति है। आचार्य शुक्ल जब क्रोचे के प्रातिभज्ञान से स्वतः अभिव्यक्त होने वाली कला से इसकी तुलना करते हैं तो इसका अर्थ भी यही है कि इस बिन्दु पर दोनों एक हैं। यह सत्य है, और जैसा कि डा० सुधांशु जी का मन्तव्य है कि दोनों के दृष्टियों में तात्त्विक अन्तर है, फिर भी, सृजन-प्रक्रिया के बिन्दु पर दोनों में पर्याप्त सादृश्य है।

आचार्य भामह के मत से कुन्तक का मत इसलिए भिन्न है कि भामह मात्र अलंकार को ही काव्य के सौन्दर्य का पर्याय मानते हैं। आचार्य कुन्तक वर्ण से प्रबन्ध पर्यन्त वाह्य सौन्दर्य, गुण एवं रस रूप अन्तवर्ती सौन्दर्य एवं अर्थ विलास रूप वक्रता, कवि समय, काव्य प्रौढ़ि, वर्णक, प्रकृति सभी को वे काव्य में अन्तर्भुक्त करके उसका व्यापक आधार फलक तैयार करते हैं। यही नहीं, इनके अनुसार काव्य सौन्दर्य का व्यंजित रूप भी पर्याप्त रूपेण व्यापक भावभूमि पर आधारित है, वह मात्र शब्द एवं अर्थालंकार ही नहीं है।

दण्डी एवं वामन के गुण तथा रीति सिद्धांत एकांगी हैं जबकि कुन्तक के उभयधर्म प्रधान।

इस प्रकार आचार्य कुन्तक का मत मौलिक एवं ध्वनि, गुण, रीति, अलंकार आदि से भिन्न है।

रस को आचार्य कुन्तक काव्य का प्राण मानते हैं। वे प्रकारान्तर भाव से उसे 'आह्लाद' की संज्ञा देते हैं। यह आह्लाद सौन्दर्य का फल है। यही अंतश्चमत्कार है, और यही रस है—

शब्दार्थौ सहितौवक्र कवि व्यापारशालिनि।
बन्धेव्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी॥

चतुवर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेन अन्तश्चमत्कारो वितन्यते ।।

अर्थात्, रस से उत्पन्न अन्तश्चमत्कार रूप आह्लाद ही काव्य का मुख्यफल है।

इस प्रकार, कुन्तक आह्लाद को अलंकृति-अलंकार्य रूप काव्य का परिणाम (रसजन्य, आह्लाद) ही सिद्ध करते हैं।

वक्रोक्त सिद्धांत के अन्तर्गत उसके इस (अलंकृति-अलंकार्य रूप) द्वितीय पक्ष पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गई, उसका प्रथम पक्ष कवि-प्रतिभा का स्वरूप एवं काव्य के लिए उसकी अनिवार्यता है।

आचार्य कुन्तक ने 'शक्ति' व्युत्पत्ति एवं अभ्यास इन तीनों को काव्य हेतु के रूप में स्वीकार किया है। ये तीनों कवि स्वभाव के आश्रित हैं। 'शक्ति' व्युत्पत्ति एवं अभ्यास में वैदग्ध्य उत्पन्न करने की शक्ति कवि को नैसर्गिक रूप से प्राप्त है। प्रकारान्तर भाव से 'कवि स्वभाव' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यह कवि का प्रकृत्या प्राप्त है। प्रतिभा इस कवि स्वभाव की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति है—

"प्राक्तनाद्यतन संस्कारपरिपाकप्रदैढ़ा प्रतिभाकाचिदेव कविशक्तिः"

अर्थात्, इस जन्म तथा पूर्वजन्म के संस्कार के परिपाक से प्रौढ़ीभूत विशिष्ट कविशक्ति ही प्रतिभा है।

प्रतिभा व्युत्पन्नता एवं अभ्यास में ये तारतम्य को स्वीकार करते हैं। प्रतिभा व्युत्पन्नता को सिद्ध करती है और दोनों के योग से अभ्यास सिद्ध होता है। व्युत्पन्नता एवं अभ्यास अन्ततया काव्य प्रतिभा पर आश्रित है। इस प्रकार कवि स्वभाव की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिभा ही है।

आचार्य कुन्तक इस प्रकार कवि शक्ति के रूप में प्रतिभा को ही सर्वाधिक जिम्मेदार ठहराते हैं और उनके अनुसार प्राक्तन संचित संस्कार एवं व्युत्पन्नता अभ्यास, अर्जन से उत्पन्न नवीन संस्कार प्रतिभा की शक्ति को दीप्त करके काव्य में वाचक-वाच्य रूप सौन्दर्यातिशयता का निर्माण करते हैं। कविता संस्कार सिद्ध कवि की सहज अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने कवि प्रतिभा को काव्यशक्ति का मूल हेतु माना है।

परवर्ती आचार्यों में महिमभट्ट तथा भोज ने 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' की चर्चा की है। महिमभट्ट 'वाच्य-वाचक' को अनुमान से अभिन्न मानते हैं। उसके अनु-

सार वक्रोक्ति का अन्तर्भाव अनुमान सिद्धान्त में हो जाता है । वे वताते हैं—

प्रसिद्धंमार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये ।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता ॥६६॥
पादवाक्यदिगम्यत्वात् स चार्थो बहुधा मतः ।
तेन तद्वक्रतापीष्टा बहुधैवति तद्विदः ॥७०॥
अत्रोच्यतेऽभिधा संज्ञः शब्दस्यार्थ प्रकाशने ।
व्यापार एक एवोष्टो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिलः ॥७१॥
वाच्यादर्थान्तरं भिन्न यदि तल्लिङ्गमस्य सः ।
तन्नान्तरीयकतया निबन्धो ह्यस्य लक्षणम् ॥७२॥
अभेदे बहुता न स्यादुक्तेमार्गोन्तराग्रहात् ।
तेन ध्वनिवदेषापि वक्रोक्तिरनुमान किम् ॥७३॥

जहाँ वह अर्थ विचित्रता की सिद्धि के लिये प्रचलित ढंग को छोड़कर और ही किसी ढङ्ग से कहा जाता है, वह (ढङ्ग ही) वक्रोक्ति कही जाती है ॥६६॥

यह अर्थ (क्योंकि) पद वाक्य आदि कई माध्यमों से प्रतीत होने के कारण कई प्रकार का है, इसलिए उसकी वक्रता भी उसके जानकर की दृष्टि से कई प्रकार की हो सकती है ॥७०॥

पर हमारा कहना है कि अर्थ की प्रतीति कराने में शब्द का अभिधा ही एक व्यापार माना गया है, और दूसरा जो व्यापार हैं, वह सारा का सारा अर्थ का है ॥७१॥

इसलिये भी वाच्येतर अर्थ काव्य से भिन्न है तो इसका (वाच्येतर का) वह (वाच्य) लिङ्ग है । क्योंकि अर्थान्तर की अर्थान्तरता ही इसमें है कि उसके प्रति वाच्य अर्थहेतु रूप से उपनिबद्ध किया जाए ॥७२॥

और अभेद होने पर बहुत नहीं बनेगा, क्योंकि (उस वक्र) उक्ति का कोई दूसरा प्रकार हो नहीं सकता । इसलिए ध्वनि के ही समान यह वक्रोक्ति भी अनुमान ही क्यों नहीं मानी जाए ॥७३॥[1]

आचार्य भोज ने 'शृंगार-प्रकाश' के अन्तर्गत इस वक्रोक्ति पर विचार किया है । उनके अनुसार समस्त वाङ्मय रूप उक्ति को दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

"वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।"

---

१. व्यक्ति विवेक; सम्पादक प्रो० रेवा प्रसाद द्विवेदी, १पृष्ठ १४३-४४

उनके अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ है—

यदवक्रं वचः शास्त्रेलोके च वच एव तत् ।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ।

आचार्य भोज का यह प्रयोग भामह आदि की भाँति अलंकार के ही सन्दर्भ में है, कुन्तक के वक्रता-सिद्धान्त के सन्दर्भ में नहीं क्योंकि उनके अनुसार तीन वक्रोक्तियों का कोई अर्थ नहीं है । स्वाभावोक्ति, कुन्तक के अनुसार काव्य का विषय ही नहीं है क्योंकि वह 'वाचक' मात्र है, बिना वाच्य-वाचक के सम्मिलन से काव्य का अस्तित्व नहीं होता । यही नहीं, रसोक्ति को कुन्तक वक्रोक्ति में ही समाहित मानते हैं, अतः तीन वक्रोक्तियों का कोई अर्थ नहीं है ।

इस प्रकार, महिमभट्ट अनुमान के अन्तर्गत वक्रोक्ति का समाहार करते हैं, और भोज तीन वक्रोक्तियों की चर्चा करते हैं । आगे चलकर, आचार्यों ने वक्रोक्ति को एक अलंकार मात्र माना । आचार्य कुन्तक की मान्यता की परवर्ती काल में चर्चा नहीं हो सकी । आधुनिक युग में आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, श्री लक्ष्मीनारायण सुधांश, डॉ० नगेन्द्र, श्री रामनरेश वर्मा आदि ने उसके सैद्धान्तिक पक्षों की विशद् व्याख्या की है तथा एकाध शोध प्रबन्ध भी इस विषय पर लिखे जा चुके हैं ।

———

संस्कृत के प्रमुख आचार्य

आचार्य का नाम	प्रमुख ग्रंथ	समय
१. आचार्य भरत	नाट्य शास्त्र	प्रथम शती विक्रम
२. मेधाविन्	अज्ञात	चौथी शती
३. ×	विष्णुधर्मोत्तर पुराण	चौथी शती
४. भामह	काव्यालंकार	छठीं शती
५. दण्डिन	काव्यादर्श	छठीं शती
६. उद्भट	काव्यालंकारसारसंग्रह	आठवीं शती
७. वामन	काव्यालंकार सूत्रवृत्ति	आठवीं शती का अंतिम चरण
८. रुद्रट	काव्यालंकार	नवीं शती का प्रारम्भ
९. आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक	नवीं शती का प्रारम्भ
१०. राजशेखर	काव्यमीमांसा	दसवीं शती का प्रारम्भ
११. अभिनव गुप्त	ध्वन्यालोकलोचन अभिनव भारती	दसवीं शती का अन्त
१२. कुन्तक	वक्रोक्ति जीवित	दसवीं शती का अन्त
१३. धनिक-धनंजय	दशरूप या दश रूपक	ग्यारहवीं शती का प्रारम्भ
१४. महिम भट्ट	व्यक्ति विवेक	ग्यारहवीं-बारहवीं शती के मध्य
१५. भोज	शृङ्गार प्रकाश सरस्वती कंठाभरण	ग्यारहवीं शती पूर्वार्ध
१६. क्षेमेन्द्र	औचित्यविचार चर्चा कवि कंठाभरण	ग्यारहवीं शती का अन्त
१७. मम्मट	काव्य प्रकाश	ग्यारहवीं शती का अन्त
१८. रुय्यक	अलंकार सर्वस्व	बारहवीं शती का अन्त
१९. वाग्भट्ट	वाग्भट्टालंकार	बारहवीं शती

२०. हेमचन्द्र	काव्यानुशासन	बारहवीं शती
२१. जयदेव	चन्द्रालोक	तेरहवीं शती
२२. रामचन्द्र-गुणचन्द्र	नाट्यदर्पण	चौदहवीं शती
२३. विद्याधर	एकावली	चौदहवीं शती
२४. विद्यानाथ	प्रतापरुद्रयशोभूषण	चौदहवीं शती
२५. विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	चौदहवीं शती
२६. वाग्भट्ट	काव्यानुशासन	पन्द्रहवीं शती
२७. भानुदत्त	रस मंजरी रसतरगिणी	पन्द्रहवीं शती
२८. केशव मिश्र	अलंकार शेखर	सोलहवीं शती
२९. अप्पयदीक्षित	कुवलयानन्द चित्र मीमांसा	सोलहवीं शती
३०. पण्डितराज जगन्नाथ	रस गंगाधर	सत्रहवीं शती

●